अचेतन मन में एकता नहीं होती। जब
ाव चेतन मन के समक्ष जाग्रत अवस्था में
मन के विभाजन की अवस्था समाप्त होती है
का अन्त होता है।

मनोविश्लेषण की रूप रेखा

जाग्रतावस्था में चेतना की सतह पर लाने
ाशय ने मनोविश्लेषण पद्धति का आविष्कार
के अनुसार रोगी के स्वप्नों का अध्ययन किया
नके अर्थ बताये जाते हैं। उसकी विशेष प्रकार की आदतों का अध्ययन किया जाता है। फिर व्यक्ति को सहजावस्था में रख उसके मन में जो कुछ आता है उसे कहने के लिए स्वतंत्र कर दिया जाता है। मनुष्य की साधारण अवस्था में जो भाव आते हैं, उनसे भिन्न विचार शैथिलीकरण की अवस्था में आते हैं। रोगी मनुष्य का सामान्य मन सदा सतर्क अवस्था में रहता है। वह सभी बातों को सावधानी के साथ छिपाते हुए कहता है। वह कुछ बातों को दूसरों से छिपाता है और कुछ को स्वयं से भी छिपाता है। अपने आप से भावों को छिपाने की क्रिया का उसे ज्ञान ही नहीं रहता। इसके ठीक प्रतिकूल क्रिया मन की सहजावस्था में होती है। जब रोगी को उसे सहज भाव में बैठा दिया जाता और जो कुछ चेतना में आए उसे बताने को कहा जाता है, तो उसकी दबी वासनाएँ अनायास ही मानसिक सतह पर आ जाती हैं। रोग के निवारण में इन वासनाओं का चेतना के सतह पर आना और रोगी का चिकित्सक के प्रति विशेष प्रेम का भाव होना नितान्त आवश्यक है। फ्रायड महाशय का कथन है कि प्रत्येक रोगी एक समय अपने

चिकित्सक के साथ पूरे भाव से प्रेम करने लगता है। वह उसे देव समझने लगता है और उसके आलिंगन को लालायित हो उठता है।

मनोविश्लेषण की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि रोगी अपने आपको कितनी दूर तक मानसिक खिंचाव से मुक्त कर सकता है। इसके लिए पहले तो उसे शारीरिक खिंचाव से ही मुक्त करना आवश्यक है। रोगी मनुष्य का शरीर और उसकी इन्द्रियाँ कठिन परिश्रम करनेवाले मनुष्य के समान स्नायुओं के खिंचाव की अवस्था में रहते हैं। यह खिंचाव रोगी के मन में चलनेवाले आन्तरिक संघर्ष के कारण उत्पन्न होता है। रोगी को इसका ज्ञान नहीं रहता। अतएव वह स्वयं अपने प्रयत्न से इस खिंचाव का अन्त भी नहीं कर सकता। इसके अन्त करने के लिये दो प्रकार की बातों की आवश्यकता है— एक भौतिक और दूसरी मानसिक। उपचार के भौतिक उपायों में स्थान का परिवर्तन आवश्यक है। दूसरे, चिकित्सक के यहाँ रोगी की शारीरिक शैथिलीकरण की व्यवस्था होना चाहिए।

मनोविश्लेषण प्रक्रिया में रोगी को एक विस्तर पर लेटा दिया जाता है। चिकित्सक उसके पीछे बैठता है। वह उसकी दृष्टि को बचाता है। रोगी को शान्त भाव का निर्देश दिया जाता है। उससे कहा जाता है कि तुम्हारे मन में जो कुछ आये कहते जाओ। शारीरिक शैथिलीकरण के होने से मनुष्य अपनी साधारण सतर्कता को खो देता है। फिर उसकी चेतना के समक्ष ऐसी बातें आने लगती हैं जिन्हें वह भूल चुका था और जिनके स्मरण से उसे महान् कष्ट होता है। इन बातों को चिकित्सक से कहने में उसे भारी संकोच भी होता है। परन्तु यदि चिकित्सक और रोगी में पूर्ण सौहार्द्र है तो ऐसी बातें

मन में आती रहती हैं और इनको सुनाते-सुनाते रोगी के रोग की समाप्ति भी होती जाती है।

यह मनोविश्लेषण का कार्य कई दिनों तक चलता है। इसमें बड़ी कुशलता की आवश्यकता होती है। रोगी की चेतना पर आई बातों का अर्थ सावधानी से लगाना पड़ता है। यह कार्य उस समय सरल हो जाता है जब कि रोगी को चिकित्सक पर पूरा भरोसा हो। इसके लिये चिकित्सक का रोगी के प्रति स्नेह और सेवा भाव होना नितांत आवश्यक है। इससे रोगी भी चिकित्सक को स्नेह करने लगता है और वह अपनी गन्दी से गन्दी बातों को चिकित्सक से कहने में नहीं हिचकता। अतएव प्रेम के आधार पर ही मनोविश्लेषण चिकित्सा सफल होती है। इसके अभाव में मनोविश्लेषण लुका-छिपी का खेल बन जाता है। रोगी महीनों अपनी चिकित्सा मनोविश्लेषक से कराते रहता है परन्तु लाभ कुछ भी नहीं होता।

फ्रायड महाशय की चिकित्सा विधि ने स्वयं और उसके कुछ शिष्यों के हाथ में बहुत कुछ काम किया। यह चिकित्साविधि इमीलकूये की विधि के समान पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अपढ़ लोगों में अधिक सफल होती है। पढ़े लिखे लोगों में आलोचना की प्रवृत्ति प्रबल होती है। यह प्रवृत्ति मनुष्य की वासना को चेतना की सतह पर नहीं आने देती। फिर दूसरे पढ़े लिखे लोगों में चिकित्सक के प्रति श्रद्धा अपढ़ लोगों की तरह नहीं होती। रोगी का चिकित्सक के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण होने पर रोगी को उस चिकित्सक की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता। अतएव केवल फ्रायड महाशय की विधि से मानसिक चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति को सफलता पाने में अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रेमचिकित्सा

जिस प्रकार फ्रायड महाशय नें मनोविश्लेषण विधि का आविष्कार किया उसी प्रकार डाक्टर होमर लेन ने प्रेम चिकित्सा विधि का आविष्कार किया। वे उद्दण्ड बालकों का सुधार अपनी प्रेम चिकित्सा विधि से करते थे। वें रोगी को प्रेम दिखाकर, उसके अपने भले गुणों को पहचनवाकर, उसमें आत्म-विश्वास उत्पन्न करते थे। होमर लेन अपने विद्यार्थियों और मानसिक रोगियों के लिए सभी प्रकार के कष्ट सहने के लिए तत्पर रहते थे और उनके लिए वास्तव में पर्याप्त त्याग करते थे। उनके प्रेम के कारण अनेक रोगी अचानक शीघ्र ही स्वस्थ हो जाते थे।

काशी मनोविज्ञानशाला ने एक नई मानसिक चिकित्सा विधि का आविष्कार किया है। इस चिकित्सा विधि में इमीलकूए महाशय की आत्मनिर्देश चिकित्सा विधि का उपयोग किया जाता है। इसमें सम्मोहन विशेष काम के लिए उपयुक्त होता है। समोहनके द्वारा दबे भावों का रेचन होता है। इस विधि में होमर लेन की विधि पर चलने की विशेष चेष्टा की जाती है। हम अपनी चिकित्सा विधि में रोगी का आत्मविश्वास उसी प्रकार बढ़ाते हैं जिस प्रकार होमरलेन महाशय कमजोर बालकों का उत्साह बढ़ाते थे। परन्तु हमारी चिकित्सा विधि में न केवल रोगी के प्रति मैत्री भाव का अभ्यास कराया जाता है वरन् स्वयं रोगी को मैत्री भाव के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। जब तक रोगी किसी व्यक्ति की वास्तविक सेवा नहीं कर लेता उसे आत्म-विश्वास होता ही नहीं।

रोगी से मानसिक और शारीरिक शैथिलीकरण कराना और उससे प्रेम-भावना का अभ्यास कराना उसे रोगमुक्त करने के

सच्चे उपाय हैं। रोग की अवस्था में मनुष्य का मन आंतरिक खिंचाव का सदा अनुभव करते रहता है। उसके मन में चलनेवाले संघर्ष इस खिंचाव का कारण होते हैं। रोगी को कभी-कभी इस खिंचाव का ज्ञान हो जाता है। परन्तु अधिकतर उसे इस संघर्ष का ज्ञान नहीं रहता। उसकी अनेक प्रकार की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और भावनाएँ चेतना की सतह पर आना चाहती हैं, परन्तु ये किसी कारण वश अप्रिय होती हैं, अतएव रोगी के आन्तरिक मन का एक भाग उसे चेतना की सतह पर आने से रोकते रहता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के मन में अपनी बहन के प्रति व्यभिचार की भावना छिपी है, वह उसे जानता नहीं, परन्तु यह वासना सदा बाहर आने की चेष्टा करती है और उसके मन का एक भाग रोगी के अनजाने ही उसे दबाये रखता है। फिर यह वासना रोग के बाहरी लक्षणों के रूप में प्रगट होती है। यदि रोगी के आन्तरिक मन के खिंचाव का अन्त हो जाय तो उनका रोग भी नष्ट हो जाय।

आज से कुछ दिन पूर्व एक बीस वर्षीय युवक को हृदय का रोग हो गया था। इस रोग की जितनी भी चिकित्सा होती थी वह बढ़ता ही जाता था। हमारे यहां आनेपर उसने आत्म-स्वीकृति की कि वह अपनी सोलह वर्षीय वहिन से व्यभिचार करना चाहता था। वह उसे बहुत प्रेम भी करता था। यह प्रेम वासनात्मक होगा इसकी न दूसरे लोगों को और न स्वयं रोगी को कल्पना थी। एक बार उसकी वहिन ने उसे बहुत कुछ इस व्यभिचार की चेष्टा के लिए डाँटा। इससे उसे भारी आत्मग्लानि हुई। वह आदर्शवादी व्यक्ति पहले से ही था। इस आत्मग्लानि के कारण उसका मन भारी दुःख की अवस्था में हो गया। इससे उसकी व्यभिचार की भावना दमित हो गई। यही दमित भावना रोग के रूप में व्यक्त होती थी। हृदय की धड़कन का अर्थ है किसी ऐसी भावना का

अपने अनजाने उत्तेजित हो जाना था जिसके प्रकाशन से मनुष्य की आत्म-प्रतिष्ठा को ठेस लगे। हृदय की धड़कन अज्ञातभय को प्रतीक रूप से व्यक्त करती है। रोगी भय के पदार्थ की आत्म-स्वीकृति नहीं करना चाहता। यह भय का पदार्थ बाहरी जगत में नहीं रहता वरन् स्वयं रोगी के मन में ही रहता है। रोगी स्वयं से ही डरता है। जब रोगी को डर के 'कारण का ज्ञान' हो जाता है और जब डर के विषय से मैत्री भाव स्थापित हो जाता है तो रोग का अन्त हो जाता है। उक्त युवक ने जब अपनी वासना की आत्म-स्वीकृति की तो धीरे धीरे उसका रोग समाप्त हो गया।

कितने ही स्वप्नदोष, कल्पित नपुंसकता, हृदय के रोग, न्यूरेसथेनिया, हिस्टिरिया, हठी विचार और अकारण भय तथा चिंता के पीछे दबी हुई अपराध की ग्रंथि काम करती रहती है। जब तक इस ग्रन्थि का निवारण नहीं होता तब तक शारीरिक उपचार से न तो शारीरिक रोग जाता है और न मानसिक। सभी प्रकार के शारीरिक उपचार तभी सफल होते हैं जब कि मानसिक उपचार पहले हो जाय, अर्थात् रोगी अपने आपको पाप से मुक्त समझने लगे। पहले रोगी का मन निर्बल होता है, पीछे उसका शरीर भी निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था में ही उसे वास्तविक शारीरिक रोग भी हो जाते हैं। मन के दूषित विचार रूपी जहरीले कीटाणु बाहर के जहरीले भौतिक कीटाणुओं की अपेक्षा रोग की उत्पत्ति में कहीं अधिक प्रबल कारण होते हैं। यदि किसी प्रकार से अवांछनीय विचार चेतना की सतह पर आ जाय तो मनुष्य का रोग जड़ से चला जाता है। चेतना की सतह पर आने पर ही दमन भावों का निराकरण सरलता से हो सकता है। वे फिर मनुष्य की इच्छाशक्ति के वश में हो जाते हैं और जो विचार दबे रहने पर उसके व्यक्तित्व

को दुर्बल बनाते हैं तथा रोग उत्पन्न करते हैं वे ही उसे अनन्त शक्ति और जीवन देने लगते हैं।

मानसिक शैथिलीकरण

मानसिक शैथिलीकरण मनुष्य के विचारों के बाहर आने से ही होता है। फ्रायड महाशय ने इन विचारों को बाहर लाने के लिए मनोविश्लेषण विधि का आविष्कार किया। कुशल और सहानुभूति पूर्ण व्यक्ति के हाथ में यह विधि उपयोगी सिद्ध होती है। परन्तु जब इसे चिकित्सक अपना पेशा बना लेता है तब चिकित्सक के मन में रोगी के प्रति सहानुभूति नही रह जाती और फिर रोगी का आन्तरिक मन चिकित्सक के समक्ष नहीं आता। कितने ही इस विधि से मानसिक चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति वर्षों रोगी का मनोविश्लेषण करते रहते हैं, परन्तु रोगी को स्वस्थ बनाने में समर्थ नहीं होते।

मानसिक शैथिलीकरण का दूसरा उपाय आत्म-निर्देश द्वारा मन की बातों को चेतना की सतह पर लाना है। शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था में मन को जो कुछ चाहे उसे सोचने की छूट दे देने से यह प्राप्त होता है। मन को कहीं जाने से रोकना नहीं वरन् उसे उसी ओर जाने को प्रोत्साहित करना जिस ओर वह जाना चाहता है, इस विधि का मूल मंत्र है। उसकी गति को साक्षी भाव से देखते रहना चाहिए। इस प्रकार इच्छा और कल्पना के संघर्ष का अन्त हो जाता है। कितने ही रोगी अपने ही विचारों से डरते रहते हैं। वे कभी अकेले नहीं रह सकते। उन्हें भय रहता है कि कहीं उनके भयानक विचार उन्हें सताने न लगें। अतएव वे सदा किसी भारी काम में लगे रहते हैं। इस प्रकार काम में अपने आपको लगाना अपने आन्तरिक मनको भुलाने का प्रयत्न है। परन्तु मनुष्य के

मन के खिंचाव का इस प्रकार सर्वदा अन्त नहीं होता। जब कभी व्यक्ति काम से खाली होता है तब वह आन्तरिक खिंचाव का अनुभव करने लगता है। कभी कभी इसी के कारण मनुष्य को शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं जिसके कारण वह काम में लग ही नहीं सकता और उसे अपने आप के विषय में बाध्य होकर सोचना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति प्रति दिन अपने दलित विचारों को चेतना की सतह पर आने की छूट देता रहे तो उक्त रोग न हों। अपने आपको जानना अपने ऊपर काबू प्राप्त करने के लिए नितांत आवश्यक है। मनुष्य का अभिमान उसे अपने आपको जानने में बाधक बनता है। यदि हम अपने अभिमान को कुछ समय के लिये अलग रख कर रोज ही अपने आन्तरिक मन को बाहर आने की छूट दे दें तो हमें रोगी बनने की आवश्यकता न हो। फिर हमारे सभी विचार हमारी इच्छा शक्ति के वश में रहें।

आत्म-विश्लेषण विधि

प्रक्टिकल मेथड आफ सेल्फ एनालिसिस नामक पुस्तक में श्री पिकवर्थ फारो महाशय ने उक्त विधि से मिलती-जुलती एक मानसोपचार विधि की रूप रेखा खींची है। इस पुस्तक की भूमिका फ्रायड महाशय ने ही लिखी है। परन्तु ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही यह भूमिका लिखी थी। फारो की विधि पर उन्होंने शंका उपस्थित की है। फ्रायड महाशय और फारो में प्रधान विरोध की बात तो यह है कि फ्रायड महाशय इस बात में विश्वास ही नहीं करते कि अपने दबे भावों को चिकित्सक के ऊपर आरोपित किये बिना रोगी आरोग्य प्राप्त कर सकता है। दबे भाव प्रायः प्रेम के भाव ही होते हैं। प्रेम और काम वासना फ्रायड के मत में एक ही बात है।

अतएव मानसिक चिकित्सा की प्रारंभिक अवस्था में रोगी चिकित्सक को ही पूरे मन से प्यार करने लगता है और इसी प्रेम के कारण उसे आरोग्य लाभ होता है। चिकित्सक इस प्रेम को बाद में उचित पात्र की ओर प्रवाहित कर देता है। जब रोगी का प्रेम उचित व्यक्ति की ओर चला जाता है तो रोगी स्वस्थ हो जाता है।

अब यदि कोई रोगी अपने मन का विश्लेषण अपने आप ही करे तो उसके मन के दबे भाव किसके ऊपर आरोपित होंगे? ऐसी अवस्था में वे बाहर ही न निकलेंगे और रोगी का मन खिंचाव की अवस्था में ही बना रहेगा। आवेगों के आश्रय के अभाव में आवेग उत्पन्न नहीं होते और वे चेतना की सतह पर नहीं आते। इस मत को मानने के कारण फ्रायड महाशय पेरानोइमा, सीजोफ्रेनिया और मेलेन्कोलिया आदि रोगों का उपचार मनोविश्लेषण द्वारा संभव नहीं समझते थे। इन रोगों में भी रोगी के गुप्त मन में किसी बाहरी व्यक्ति के प्रति प्रेम के भाव नहीं रहते। वह अपने आपको प्यार करता है। जिस व्यक्ति का गुप्त मन अपने आपको ही प्यार करता है उसे सुधारना अत्यन्त कठिन है।

फ्रायड महाशय के उक्त मत से बहुत से मनोवैज्ञानिक और मानसिक चिकित्सक सहमत नहीं हैं। हेडफील्ड महाशय के विचारानुसार रोगी इस कारण से ही अस्वस्थ रहता है कि वह अपने आपको स्वीकार करने से भागता है। उसमें अपनी महानता का भाव अत्यधिक रहता है, चाहे वह महानता किसी प्रकार की क्यों न हो। उसका इस प्रकार का महानता का भाव उसे वस्तु स्थिति से अनभिज्ञ रखने में कारण बनता है। अपने आपको भुलाने के प्रयत्न के कारण ही मनुष्य रोग से पीड़ित

रहता है। यह रोग उसे बाध्य करके वस्तु स्थिति से परिचित कराता है। यदि रोगी का मन इस प्रकार शिक्षित हो जाय कि वह अपनी सभी कमियों को अपने आप स्वीकार करने के लिये तैयार हो जाय तो रोग का कोई आधार ही न रहे। इस कार्य में चिकित्सक रोगी की सहायता मात्र करता है। परन्तु रोगी स्वस्थ अपने मन से ही होता है। जब तक रोगी अपने रोग से परेशान नहीं हो जाता वह आत्म-स्वीकृति नहीं करता और तब तक चिकित्सक चाहे जितना कुशल क्यों न हो रोगी को आरोग्य नहीं बना पाता।

कितने ही लोगों का रोग उनकी कमियों का आवरण रहता है। उन्हें रोग नहीं पकड़े रहता वरन् वे रोग को पकड़े रहते हैं। यदि ऐसे रोगियों से उनका रोग छीन लिया जाय तो उनका मन वेसहारे हो जायगा। फिर ऐसे व्यक्तियों में आत्महत्या की भावना उत्पन्न होने लगती है। रोगी का चेतन मन रोग से भले ही परेशान हो, उसका अचेतन मन उसे चाहता है। इसलिये ही रोग उसे पकड़े रहता है। बहुत से शारीरिक रोगों का यही कारण होता है। जो स्त्रियाँ अपने पति को नहीं चाहतीं, जो पति अपने पत्नियों से प्रेम नहीं करना चाहते वे यदि किसी प्रकार इस जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते तो रोगी ही बन जाते हैं। लेखक के उपचार में एक रोगी आया जिसे आँख की पीड़ा थी जिसका कारण मानसिक था। वह अपने घर पर नहीं रहना चाहता था। वह कहता था कि उसकी आँख ही फूट जायेगी। वह बनारस के कई डाक्टरों से उपचार करा रहा था। कई एक ने कहा उसे कोई रोग नहीं। वह लेखक के भी उपचार में आया। उसकी आँख की पीड़ा का वास्तविक कारण मानसिक निकला। उसे शीघ्र ही लाभ होने

लगा। सम्भवतः उसे शीघ्र लाभ होने के कारण ही उसका आना बन्द हो गया और वह फिर से डाक्टरों के पास जाने लगा। इस प्रकार वह परिवार में रहने और उसकी सेवा करने के भार से मुक्त रह सका। जब तक रोगी का आन्तरिक मन इस बात को निश्चित नहीं कर लेता कि रोगी रहना जिम्मेदारियों को सहने से अधिक बुरा है तब तक वह अपने रोग को नहीं छोड़ता और किसी प्रकार के स्वास्थ्य के सन्निर्देश रोगी ग्रहण नहीं करता।

प्रेम चिकित्सा की विशेषता

हमारी मानसिक चिकित्सा विधि में रोगी से बातचीत करके, उसे सन्निर्देश देकर अपने अभद्रभाव को स्वीकार करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। रोगी का मन अपने आपमें विशेष प्रकार की कमी का अनुभव करता है। जब प्रेम के द्वारा उसे ज्ञात करा दिया जाता है कि उसकी कमी कल्पित है और उसमें इतने अधिक गुण हैं कि उसकी कमियाँ उसके सामने तराजू के पँसगे के बराबर भी नहीं हैं तो उससे आत्म-स्वीकृति कराना बड़ा सरल हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसके दबे आन्तरिक भाव चेतना की सतह पर अपने आप ही चले आते हैं। उसका भीतरी मन उनके बाहर जाने में कोई रुकावट नहीं डालता। फिर उसका मानसिक शैथिलीकरण सरल हो जाता है। रोगी अपने विचारों से फिर घबड़ाता नहीं, वरन् उन्हें प्यार करने लगता है।

फ्रायड महाशय के इस विचार में मौलिक सत्य है कि मनुष्य के अधिक मानसिक रोगों का कारण दबी काम वासना ही होती है। जब मनुष्य किसी काम चेष्टा को पाप की बुद्धि से देखने लगता है तो वह उस घटना को भूल जाता है जिसमें उसने कामवासना का प्रकाशन किया। परन्तु इससे कामवासना स्वयं

निर्बल नहीं होती। दलित रहने पर वह और भी प्रबल हो जाती है और दबाव के कारण रोगी को विशेष प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है। जब कभी दबी वासना चेतना की सतह पर आने के लिये उद्यत होती है तो रोगी को हृदय की धड़कन, अकारण भय, सिर की पीड़ा अथवा कोई दूसरा शारीरिक रोग हो जाता है। इस प्रकार यह वासना प्रतीक रूप से प्रकाशित होती है। कामवासना से अधिक घृणा करने पर मनुष्य की कामवासना उत्तेजित होने की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। ऐसे लोग एक ओर नपुंसक हो जाते हैं और दूसरी ओर आन्तरिक अशान्ति से दुःखी रहते हैं। इस प्रकार के सभी रोगों का अन्त कामवासना के प्रति पाप बुद्धि को बदलकर किया जा सकता है।

हमारी मानसिक चिकित्सा विधि का प्रमुख अंग रोगी के मन में जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करना है। प्रत्येक रोगी मनुष्य स्वयं से घृणा करता है। वह न अपने आपको और न दूसरों को भला समझता है। बहुत से मानसिक रोगी स्वयं को संसार का सबसे अभागा व्यक्ति मानते हैं। वे संसारी जीवन को ही व्यर्थ मानने लगते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का प्रधान कारण उनकी बढ़ी चढ़ी आकांक्षायें होती हैं। स्वयं से घृणा करने वाला व्यक्ति दूसरों में दोष ही दोष देखता है। यह अपनी कमियों को भुलाने का उपाय है। मानसिक चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य दूसरों के प्रति और स्वयं के प्रति मैत्री भाव का स्थापित करना है। दूसरों के प्रति प्रेम ही आत्मप्रेम और आत्म संतोष का साधन बनता है। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व में आत्म-समन्वय स्थापित होता है। वही मनुष्य सुखी है जो स्वयं को भली प्रकार से जानता हुआ अपने आपकी योग्यता और लौकिक स्थिति से संतुष्ट है।

मनुष्य के जीवन का विकास आत्म-प्रसाद से होता है, आत्म ग्लानि से उसका विनाश होता है। जिस प्रकार से रोगी का आत्म-विश्वास बढ़े, वह अपने आपको निकृष्ट न समझकर एक उपयोगी नागरिक समझने लगे, वही उपाय उसके आरोग्यप्राप्ति का है।

मनुष्य की वासनायें उसके व्यक्तित्व की शक्तियाँ हैं। इनके प्रति घृणा का भाव रखने से वे दलित हो जाती हैं और मनुष्य के व्यक्तित्व में वे विभाजन की अवस्था उत्पन्न कर देती हैं। सभी वासनाओं को स्वीकार करके उनका सदुपयोग करने में बुद्धिमानी है। हमारी कुछ वासनायें शारीरिक सुख-सम्बन्धी होती हैं और कुछ समाज में सम्मान सम्बन्धी। परन्तु समाज में सम्मान तभी मिल सकता है जब हम अपने सुख का त्यागकर दूसरों की सेवा करें। जब तक मनुष्य अपनी विभिन्न वासनाओं में संतुलन करता रहता है तब तक वह रोगग्रस्त नहीं होता। जब उसका यह संतुलन बिगड़ जाता है तब उसे रोग उत्पन्न हो जाता है। हमारी चिकित्सा विधि द्वारा इस संतुलन को स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। रोगी को विश्वास दिलाया जाता है कि वह चाहे जैसा क्यों न हो, उसकी परिस्थितियाँ उसके प्रतिकूल कितनी ही अधिक क्यों न हों, वह उच्च से उच्च व्यक्ति बन सकता है। उसके सभी दोष नष्ट हो सकते हैं। परन्तु वह यह अपने प्रयत्न से ही कर सकता है। यह प्रयत्न करने की उसमें शक्ति वर्तमान है; वह धीरे-धीरे प्रकाशित होगी।

मनुष्य जैसा अपने आपके बारे में बार-बार विचार करता है वह धीरे-धीरे वैसा ही बन जाता है। अपने आप के विषय में भी विशेष प्रकार के विचार आस-पास के लोगों से आते हैं। जो बात दूसरे लोग हमारे बारे में सोचते हैं वही हम कुछ काल बाद अपने आपके बारे में सोचने लगते हैं। रोगी मनुष्य

अपने आपको निकम्मा मान बैठता है। उसके आस पास के लोग भी उसे निकम्मा समझने लगते हैं। इसके कारण उसके मन में अपने विषय में विशेष प्रकार के घृणा के विचार बढ़ते जाते हैं। जब अपने प्रति उसके घृणा के विचार समाप्त हो जाते हैं तो उसका रोग भी समाप्त हो जाता है।

अपने आपके प्रति घृणा के विचारों को समाप्त करना सरल कार्य नहीं है। रोगी के अपने प्रति घृणा के विचार उसके अचेतन मन में रहते हैं। उसके चेतन मन में तो ठीक इसके प्रतिकूल विचार रहते हैं। यदि अपने प्रति घृणा के विचार उसके चेतन मन में आजायँ तो वह आत्म-हत्या ही कर ले। प्रकृति उसके जीवन की रक्षा उसमें आत्म-विस्मृति पैदा करके ही करती है। वह अपने में उपस्थित दोषों को दूसरों में देखता है। अतएव वह आसपास के लोगों को ही घृणा करता है। स्वयं के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये पहले तो हमें उसका आत्म-ज्ञान बढ़ाना पड़ता है अर्थात् उसके अचेतन मन में उपस्थित आत्म-ग्लानि की भावनाओं को चेतना की सतह पर लाना पड़ता है, दूसरे हमें रोगी में यह आत्म-विश्वास उत्पन्न करना पड़ता है कि अपने आपको सुधारने की उसमें अनंत शक्ति है। उसे अपनी अपूर्णता से ही संतोष करना भी सिखाया जाता है। पूर्णता की झक स्वयं रोग है। कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं, स्वयं को उन्नत बनाने के सतत प्रयत्न करने में ही मानवी पूर्णता है। इस प्रकार रोगी का स्वयं के प्रति घृणा का भाव समाप्त हो जाता है। उसकी मानसिक शक्तियां जिन्हें वह पहले घृणा की दृष्टि से देखता था रचनात्मक कार्यों में प्रकाशित होने लगती हैं। वह अपने आसपास के लोगों से मैत्री भाव स्थापित कर लेता है और समाज का प्यारा घटक बनजाता है।

दूसरा प्रकरण

मानसिक असन्तोष

मानसिक असंतोष की व्यापकता

संसार के सभी लोगों में व्यापक मानसिक असन्तोष है, सभी प्रकार के प्रयत्न, व्यक्तिगत तथा सामाजिक असंतोष को मिटाने के लिये किये जाते हैं। जब तक मनुष्य की शक्ति रचनात्मक कार्यों में लगी रहती है, तब तक उसे इस असंतोष की अनुभूति नहीं होती। अपने कार्यों में सफलता मिलने पर मनुष्य को उत्साह और आनन्द की अनुभूति होती है। जब उसे अपने कार्यों में असफलता मिलने लगती है, तो वह मानसिक असंतोष का अनुभव करता है। इस समय उसकी मानसिक शक्ति अवरोध की अवस्था में हो जाती है और वह व्यर्थ की कल्पना में परिवर्तित होकर समाप्त हो जाती है। इस समय जितनी भी कल्पनायें मनुष्य के मन में उठती हैं सभी निराशावादी होती हैं, कभी-कभी मनुष्य इन निराशावादी कल्पनाओं से मुक्त होना चाहता है, परन्तु मुक्त नहीं हो पाता।

असंतोष का बाहरी कारण

मानसिक असन्तोष के दो प्रकार के कारण होते हैं—एक बाहरी और दूसरा आन्तरिक। जब मनुष्य अपनी प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिये बाहरी साधन नहीं प्राप्त करता अथवा उसके किसी प्रकार के उद्योग में अनेक प्रकार की बाहरी अड़चनें उत्पन्न हो जाती हैं तब उसकी इच्छा अपनी पूर्ति न पाकर रुकावट की अवस्था

में हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छा दमित हो जाती है। फिर वह केवल मनुष्य के मानसिक खिंचाव को बढ़ाती है यह मानसिक असन्तोष की स्थिति है। अनेक मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार मनुष्य के मानसिक रोगों का कारण यह मानसिक असन्तोष अथवा मानसिक खिंचाव है। यदि प्रत्येक मनुष्य को अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रकाशित करने के लिये अर्थात् अपनी आत्म-प्रकाशन की इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती जायँ तो उसे कभी भी मानसिक असन्तोष की अनुभूति न हो। इस प्रकार के अनेक मानसिक असन्तोषों का कारण मनुष्य की आर्थिक कठिनाइयाँ और समाज-व्यवस्था रहती है। अतएव समाज के सुधारक सदा यह चेष्टा करते रहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को वे आर्थिक और सामाजिक सुविधायें प्राप्त हों जिससे वह अपना आत्म-प्रकाशन अधिक से अधिक कर सके। अनेक प्रकार के राजनैतिक संगठन और सामाजिक विप्लव इसीलिये होते हैं जिससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिये अधिक सुविधायें मिलें और मनुष्य अपनी रचनात्मक शक्ति को भली प्रकार से प्रकाशित कर सके। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में समाज के थोड़े लोगों को आत्म-प्रकाशन का और अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने का अवसर मिलता है और समाज के अधिक लोगों को न तो आत्म-प्रकाशन का पर्याप्त साधन मिलता है और न उनकी सामान्य सुख की इच्छाओं की पूर्ति ही होती है। इसी कारण से समाज में व्यापक असन्तोष रहता है और विप्लव की तैयारी होती रहती है।

असंतोष का आन्तरिक कारण

मानसिक असन्तोष का दूसरा कारण आंतरिक है, यह कारण सांस्कृतिक है। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति में शारीरिक सुख

की और दूसरे पर अपना अधिकार जमाने की इच्छायें रहती हैं। इन इच्छाओं का नियन्त्रण मनुष्य की शिक्षा के द्वारा होता है। शिक्षा मनुष्य के मन में उन संस्कारों को उत्पन्न करती है जिससे कि मनुष्य अपनी वासनाओं को अपने नियंत्रण में रखने की योग्यता प्राप्त करे और दूसरे व्यक्ति के सुख को अपने सुख के समान मानने लगे। इस प्रकार की शिक्षा का संस्कार 'संस्कृति' कहलाता है। संस्कृति मनुष्य को उदार और संयमी बनाती है। जिस प्रकार मनुष्य के जन्मजात स्वभाव का अंग उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ हैं उसी प्रकार उसके अर्जित स्वभाव का अंग संस्कृति है। कई दिनों के अभ्यास के पश्चात् संस्कृति प्राकृतिक प्रवृत्तियों के समान ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी पर चली जाती है। यह मानव समाज का संचित द्रव्य है। वर्तमान मानव में संस्कृति उसके स्वभाव का अंग उसी प्रकार है जिस प्रकार उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ। किसी देश में एक प्रकार की संस्कृति की प्रबलता होती है और किसी देश में दूसरे प्रकार की, परन्तु सभी संस्कृतियों का उद्देश्य मनुष्य को उदार बनाना और आत्मनियंत्रण का सामर्थ्य प्रदान करना होता है। कई पीढ़ियों के अभ्यास के परिणामस्वरूप संस्कृति मनुष्य के शरीर के समान ही उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में जिस प्रकार मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उसके अचेतन मन में वर्तमान रहती हैं, इसी प्रकार उसकी संस्कृति भी उसके अचेतन मन में वर्तमान रहती हैं। वह मनुष्य बड़ा ही भाग्यवान है जो एक सुसंस्कृत समाज में जन्म पाया हो और जिसके माता-पिता और गुरु ने योग्य शिक्षा देकर भलाई की ओर क्रियाशील होने के लिये अच्छे संस्कार उसके मन में दृढ़ करने की चेष्टा की हो।

जब मनुष्य की शिक्षा अच्छी होती है और उसके अचेतन मन के संस्कार भले होते हैं तो उसके जीवन में उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर उसके अनजाने ही सहज नियंत्रण होता रहता है। दूसरों की भलाई करना उसके स्वभाव का अंग बन जाता है। वह किसी प्रकार के निन्दनीय कार्य करने से उतना ही डरता है जितना कि निम्नकोटि का व्यक्ति राजदण्ड से डरता है। ऐसे ही सुसंस्कृत व्यक्तियों के विषय में कहा गया है।

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ,
जासु कुपथ पगु धरैं न काऊ।

किसी प्रकार का अनुचित कार्य जब सुसंस्कृत व्यक्ति से हो जाता है, तब उसे भारी आत्मग्लानि होती है। इस आत्म-ग्लानि के अनुभव के पश्चात् वह अपने उस सुख की इच्छा का अथवा स्वार्थभाव का दमन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार राजदण्ड के द्वारा इस प्रकार की इच्छाओं का दमन होता है। यदि मनुष्य अपनी स्वार्थमयी इच्छाओं का दमन इस प्रकार न करे तो सारे समाज में असन्तोष ही असन्तोष का वातावरण फैल जाय। बुरे काम के लिये आत्मग्लानि का अनुभव करना मानवता की कसौटी है। परन्तु आत्मग्लानि के पश्चात् मनुष्य के सामने एक भारी समस्या रहती है। सुसंस्कृत व्यक्ति अपने आत्मग्लानि के अनुभव को भूल जाता है; अब उसकी प्राकृतिक इच्छा का दमन उसकी जानकारी में न होकर अनजाने ही होने लगता है। इस दमन के परिणामस्वरूप मनुष्य प्राकृतिक सुख से विरक्त हो जाता है। उसे सुख की और आत्म-प्रकाशन की सभी बातों से घृणा हो जाती है, परन्तु इस प्रकार की मनोवृत्ति से उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का निराकरण नहीं होता है, वे उसके अचेतन मन में उसके अनजाने ही

अवरुद्ध अवस्था में बनी रहती हैं। ये प्राकृतिक इच्छायें मनुष्य के बड़े-बड़े असन्तोष का कारण होती हैं। इस प्रकार के असन्तोष का कारण स्वयं वह व्यक्ति नहीं जानता जिसको यह असन्तोष होता है। यह असन्तोष मनुष्य को सदा बेचैन बनाये रखता है। इस प्रकार के असन्तोष का अनुभव करनेवाले बहुतसे व्यक्ति अपने आपको सदा मानसिक थकावट की अवस्था में पाते हैं। सभी प्रकार की परिस्थितियों के अनुकूल होते हुए भी उन्हें किसी रचनात्मक कार्य के करने में उत्साह ही नहीं होता। जब वे सोकर उठते हैं तो वे अपने को स्वस्थ और चैन की अवस्था में न पाकर थकी हुई अवस्था में पाते हैं। कितने ही ऐसे लोगों को रात में ठीक से नींद नहीं आती। जब नींद आती है तो वे भयानक स्वप्न देखते हैं। जब इच्छाओं का दमन अत्यधिक प्रबल होता है तो मनुष्य को बहुत से निरर्थक स्वप्न दिखाई देते हैं, जो अधिकतर स्मरण ही नहीं रहते।

मानसिक असंतोष का प्रकाशन

उक्त प्रकार का मानसिक असन्तोष किसी ऐसे शारीरिक अथवा मानसिक रोग में प्रकाशित होता है जिसका कारण समझना बड़ा कठिन होता है। मनोविज्ञानशाला में आये हुये एक मानसिक रोगी को संसार के सभी कार्यों में निरर्थक भाव दिखाई देते थे। उसका किसी कार्य को करने में मन नहीं लगता था। वह समाज में मिलना-जुलना पसन्द नहीं करता था। वह एकान्तप्रिय बन गया था। वह धनी घर का लड़का था, परन्तु वह एक गरीब व्यक्ति जैसा अपनी रहन-सहन में हो गया था। उसे धन और ऐश्वर्य के प्रति बुरे ख्याल थे। खाने-पीने में भी उसकी विशेष रुचि न थी। वह विवाहित

जीवन में भी कोई सुख का अनुभव नहीं करता था। कभी-कभी उसे अचानक 'फिट' हो जाते थे, जिससे वह १५, २०, मिनट वेहोश पड़ा रहता था। फिट होने के पूर्व उसका मानसिक खिंचाव अत्यधिक बढ़ जाता था। फिट के समय उसे अँगूठे से एक बिजली जैसा झटका लगता था। यही जब मस्तिष्क तक पहुँच जाता था तो वह बेहोश हो जाता था।

रोगी की जीवनी और मानसिक बनावट के अध्ययन से पता चला कि उसकी शिक्षा-दीक्षा उत्तम प्रकार से हुई थी, माता का नैतिक स्तर बहुत ही ऊँचा था। यह नैतिकता रोगी के स्वभाव का बचपन से ही अंग बन गई थी। रोगी ने अपनी किशोरावस्था में इस नैतिक भावना के प्रतिकूल समलिंगी व्यभिचार में भाग

हाल में ही एक दूसरे रोगी के फिट के रोग का उपचार करने का अवसर मिला। यह रोगी वचपन से ही ऊँचे नैतिक आदर्शों में पला है। उसके माता पिता सुयोग्य समाज सेवक हैं। उनका समाज में बड़ा ऊंचा स्थान है। अतएव रोगी का नैतिक स्तर भी बहुत ऊंचा है। कुछ वर्ष पूर्व वह अपने नजदीकी सम्बन्धी की पत्नी के प्रेमपाश में पड़ गया था। उसके वशीभूत होकर उसने कुछ अनुचित आचरण भी किया। वाद में उसे इसके लिये भारी आत्म-ग्लानि हुई। इस प्रकार उसकी प्रेम भावना दमित हो गई। परन्तु अब वह उसके अचेतन मन में घर कर गई। जब कभी किसी कारण से यह उत्तेजित हो जाती थी तो रोगी को फिट हो जाता था। रोगी को फिट रात के समय ही होता था। वह सोते सोते सोमनेमब्यूलिजम (चलने फिरते स्वप्न) की अवस्था में आ जाता था। वह फिर कुछ क्रियायें करता और फिर आत्मग्लानि करते हुए गिर पड़ता था, फिर उसे लोग लाकर लिटा देते थे। सवेरे उठने पर उसे कुछ याद नहीं रहता था। जैसे जैसे रोगी की दमित भावना को चेतना के स्तर पर लाया गया उसका रोग नष्ट हो गया।

लेनें की चेष्टा की। इस व्यभिचार की भावना के कारण उसे भारी आत्म-ग्लानि की अनुभूति हुई। इससे वह भावना दब गई, और रोगी की नैतिक धारणा अत्यधिक प्रबल हो गई। रोगी में इसके परिणाम स्वरूप तपवाद की मनोवृत्ति प्रबल हो गई। अब उसके अचेतन मन में उपस्थित काम प्रवृत्ति अवरुद्ध होने पर प्रबल हो गई। इसके कारण रोगी को बहुत दिन तक मानसिक असन्तोष बना रहा। यह मानसिक असन्तोष जब बहुत ही बढ़ जाता था तो वह बेहोशी की अवस्था में प्रकाशित होता था। जिस प्रकार जब राज्य के असन्तुष्ट गुटों का बल अत्यधिक बढ़ जाता है तो वह राज्य-व्यवस्था को ही तोड़ देता है और स्वच्छन्द होकर मनमानी क्रियाओं में अपने आपको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार जब मनुष्य की प्रकृतिजन्य वासनाओं का बल दमित होने के कारण अत्यधिक बढ़ जाता है, तब वे अचेतन मन में उपस्थित नैतिक भावना के प्रतिबंध को तोड़कर बाहर निकल आती हैं। इस रोगी को सदा अपनी स्त्री के प्रति पर-पुरुष से प्रेम करने का अकारण सन्देह बना रहता था। इसके कारण उसका दाम्पत्य जीवन और भी दुःखी हो जाता था, परन्तु उसे उसके व्यभिचार का कोई प्रमाण नहीं मिलता था। अतएव वह अपनी मानसिक परेशानी का बेहद अनुभव करता था। साधारणतः ऐसे रोगियों को अपने जीवन साथी के व्यभिचार में फँसे रहने के कुछ न कुछ प्रमाण मिल जाते हैं। यह अपनी ही दमित व्यभिचार की भावना का विकृत रूप से प्रकाशन है। यह उसका प्रक्षेपण अथवा आरोपण कहलाता है। जब मनुष्य इस आरोपण के कारण को समझ जाता है, तो उसकी पर-दोषान्वेषण की मनोवृत्ति समाप्त हो जाती है।

उक्त प्रकार के मानसिक असन्तोष को मिटाने के लिये रोगी को किसी प्रकार से समझाना बुझाना व्यर्थ होता है। ऐसे रोगियों

को अपने ज्ञात अथवा चेतन मन में रोग का कोई कारण नहीं दिखाई देता। वे अपने आप से असन्तुष्ट रहते हैं पर वे इसका कारण नहीं जानते। उन्हें अकारण भय, निराशा और चिन्ता सताये रहती हैं। कभी-कभी ये भय और चिन्तायें किसी विशेष पदार्थ पर आरोपित हो जाती हैं। परन्तु जब एक प्रकार की परिस्थितियाँ उनके सामने से हट जाती हैं तो वे दूसरे प्रकार की परिस्थितियों पर अपने भय, चिन्ता, निराशा आरोपित कर लेते हैं। कितने ही लोगों को साँप द्वारा काटे जाने का प्रबल अकारण भय रहता है। हमारी चिकित्सा में आये हुये एक विद्यार्थी को इतना प्रबल साँप का भय था कि वह उसके कारण रात के समय अपने घर के बाहर नहीं निकल सकता था। पेशाब, पाखाना जाना एक भारी समस्या बन जाती थी। वह न केवल रात को ही साँप से भयभीत रहता था बल्कि दिन को भी सदा अपने बिस्तर और सामान को झाड़ते फटकारते रहता था, जिससे कि साँप उनके बीच में कहीं घुसा न हो। इस भय का कारण खोजने पर पता चला कि इस रोगी के मन में प्रबल समलिंगी व्यभिचार की वासना उपस्थित थी जो कि उसके अचेतन मन में उपस्थित नैतिक प्रतिबंध के द्वारा दबाई गई थी। रोगी को इस दमन का ज्ञान नहीं था। ऐसे रोगी वास्तव में अपने चेतन मन में कामुकता के किसी प्रकार के भावों का अनुभव ही नहीं करते।

कामुकता के अज्ञात प्रबल दमन के कारण कितने ही लोगों को सफाई का झक, गन्दगी का भय, सिगरेट पीने की आदत, और शरीर के कुछ अंगों को विशेष प्रकार से हिलाने-डुलाने की आदत लग जाती है। एक ओर ऐसे लोगों की जीवनी में उच्च आदर्शवादिता पाई जाती है, और दूसरी ओर वे अपने

जीवन में भारी मानसिक असंतोष का अनुभव करते हैं। वे दूसरे लोगों में किसी प्रकार की नैतिक कमी को देखना नहीं चाहते। उनका सारा जीवन दूसरों को नैतिक शिक्षा देने और सदाचार सिखाने में व्यतीत होता है। जिस बात की कमी मनुष्य के आन्तरिक मन में रहती है, उसी की पूर्णता वह दूसरे लोगों में देखना चाहता है। माता-पिता, अपनी सन्तान में उसी प्रकार की कमी के प्रति सतर्क रहते हैं जिस प्रकार की कमी का अनुभव उनका आन्तरिक मन अपने आपमें करता है। यदि ऐसे व्यक्तियों को यह बताया जाय कि जिस कमी को वे दूसरों से हटाने की चेष्टा करते हैं वह वास्तव में उन्हीं में है तो वे चिढ़ जाते हैं। यदि वे इसे स्वीकार भी करेंगे तो केवल शिष्टाचार वश। उन्हें सदा यह विश्वास रहता है कि उनका नैतिक जीवन दूसरों के नैतिकता से कहीं ऊँचा है। ऐसे लोगों को न तो उनकी दमित वासनाओं का ज्ञान रहता है और न उन वासनाओं का दमन करनेवाली व्यवस्था का। अतएव ऐसे लोगों के आचरण अथवा विचार में सुधार करना अत्यन्त कठिन होता है। उनके जीवन में सदा असन्तोष की अनुभूति होती रहती है। यह अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का रूप धारण कर लेती है।

जिस प्रकार मनुष्य की कामवासना का दमन उसकी नैतिक बुद्धि द्वारा उसके अनजाने होता रहता है उसी प्रकार उसकी बदला लेने की भावना का दमन भी उसके अनजाने होता है। जो लोग अपने मनमें किसी के प्रति बार-बार क्रोध का अनुभव करते हैं, परन्तु इस अनुभव के लिये अपने आपको कोस कर ही रह जाते हैं, अथवा अपने क्रोध के लिये आत्म-ग्लानि का अनुभव करते हैं, उनका क्रोध का आवेग दमित हो जाता है।

फिर यह आवेग किसी प्रकार के अकारण भय और बाध्य विचार में प्रकाशित हो जाता है। इसके कारण कितने ही लोगों को क्षय रोग का भ्रम, पेट में फोड़े का भ्रम हो जाता है। कभी-कभी इसके कारण मनुष्य को अकारण ही भूत पिशाच के भय लग जाते हैं। कितने ही लोगों को दमित क्रोध के कारण सिर की पीड़ा और दृष्टि की कमजोरी हो जाती है। इस प्रकार के रोगों से पीड़ित होने वाले व्यक्ति अपने व्यवहार में बड़े ही सुशील होते हैं। यदि वे किसी व्यक्ति के प्रति थोड़ा बहुत भी अन्याय करें, यदि वे किसी से एक शब्द भी कठोर बोल दें, तो वे दिन भर के लिये अथवा कई दिनों के लिये आत्मग्लानि का अनुभव करते रहते हैं। आत्म-ग्लानि का अनुभव इस प्रकार करना स्वस्थ वस्तु नहीं है। यह एक प्रकार का मानसिक रोग है। यह प्रतीक रूप से दमित भावना का प्रतिकार करना है, जो रोगीके अनजाने ही प्रबल आवेग के रूप में अचेतन में उपस्थित है। इसीका दमन उनकी नैतिक बुद्धि उनके अनजाने ही करती है।

कठोर नैत्तिकता का परिणाम

ऐसे रोगियों के चिकित्सा के लिये पहली आवश्यकता यह है कि उनकी नैतिक धारण को इस प्रकार का बनाया जाय, जिससे कि उनके आन्तरिक मन में दबा हुआ आवेग; चेतना के स्तर पर आ सके। ऐसे लोगों को अपने नैतिक धारणा को प्रबल बनाने की शिक्षा देना, उनके जीवन को व्यर्थ बनाना है, वे स्वयं अपने आपको सदा नैतिक शिक्षा देते रहते हैं। उन्हें बचपन से कठोर नैतिकता की शिक्षा मिली है, इसके होते हुए भी उन्हें मानसिक रोग उपस्थित हुआ। इस मानसिक रोग का कारण, उनकी प्राकृतिक शक्तियों का रचनात्मक कार्यों में

प्रकाशित न होना है। जब प्राकृतिक शक्तियों का दमनमात्र होता है तो वे शक्तियाँ रचनात्मक कार्यों का रूप न लेकर ध्वंसात्मक रूप ग्रहण कर लेती हैं और मनुष्य का जीवन दुःखमय बना देती हैं। प्राकृतिक वासनाओं की शक्तियों को रचनात्मक कार्य में लगाने के पूर्व यह आवश्यक है कि उन वासनाओं को पहले मनुष्य जाने, अर्थात् नैतिकता के अज्ञात प्रतिबन्धों को पार करके वे चेतना के स्तर पर आवें। मनुष्य अपनी उसी शक्ति का सदुपयोग कर सकता है जिसे वह जानता है; जिस शक्ति को वह जानता ही नहीं और उसका अपव्यय उसके अनजाने हो जाता है उसका वह सदुपयोग कैसे कर सकता है। मनुष्य के अन्तस्तल में दबी हुई इस शक्ति के ज्ञान करने के लिये ही मनोविज्ञान की नवीनतम शैली के अध्ययन की आवश्यकता है।

अपनी दमित वासनाओं को जानना बड़ा ही कठिन कार्य है। इस कार्य में न तो बुद्धि की कुशलता और न प्रखर पांडित्य ही काम देता है। जिस मनुष्य के मन में इन मानसिक शक्तियों का जितना ही अधिक दमन होता है वह अपने आंतरिक मन के वासनाओं के विषय में चिंतन करने में उतना ही असमर्थ होता है। वह साधारणतः सदा अपने आपको भुलाये रखने की चेष्टा करता है। यदि उसे अपने मन की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाय तो उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ ही समाप्त हो जायं। ऐसे व्यक्ति के आंतरिक मन में विभाजन की अवस्था रहती है और उसकी चेतना के परे उसके नैतिक मन और उसकी प्रबल वासनाओं में सदा द्वन्द्व हुआ करता है। इन दोनों प्रकार के मनों में समन्वय हुए बिना मानसिक असंतोष अथवा मानसिक रोग का अंत नहीं होता।

हमें यहाँ यह स्मरण दिलाना नितांत आवश्यक है कि जो

नैतिक बुद्धि प्रबल प्राकृतिक वासनाओं का दमन करती है वह स्थाई सांस्कृतिक संस्कारों के रूप में चेतना के परे स्थित रहती है, इस प्रकार की दमन करनेवाली व्यवस्था का रोगी के चेतन मन को ज्ञान नहीं होता, अतएव वह अपने रोग का कारण भी नहीं जानता, वह जो रोग का कारण जानता है वह वास्तविक बात से कोसों दूर रहता है, कारण के न जानने के कारण वह अपने रोग का किसी प्रकार का उपचार ही नहीं कर पाता। अज्ञात मन में उपस्थित प्रतिबंधक नैतिक व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करना उसके वश की बात नहीं है और उसमें परिवर्तन एकाएक होता भी नहीं, नैतिक व्यवस्था में इस प्रकार का परिवर्तन करना आवश्यक है जिससे प्राकृतिक शक्ति अवरुद्ध न होकर चेतन मन के समक्ष उपस्थित हो। यदि कामवासना अवरुद्ध है तो वह अनेक प्रकार की कामुक भावों के साथ चेतना के समक्ष आती है। फिर इस भावना का उदात्तीकरण करना आवश्यक होता है।

स्वच्छन्दता और मानसिक स्वास्थ्य

कभी कभी मानसिक चिकित्सक मानसिक रोग को मिटाने के लिये मनुष्य की अवरुद्ध काम अथवा क्रोध की भावना को स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकाशित करने की सलाह देते हैं। परन्तु इससे रोगी का हित न होकर अनहित ही होता है। जबतक मनुष्य का अज्ञात नैतिक मन उसी प्रकार का बना रहता है जिस प्रकार का वह पहले था तबतक प्रतिबंधित वासना का स्वच्छन्द रूपसे प्रकाशित होना घातक होता है। फिर वासनाओं का अवरोध करनेवाले नैतिक संस्कार पुराने समयके रहते हैं और मनुष्य की वर्तमान नैतिक धारणा दूसरे प्रकार की रहती है। मानसिक असन्तोष पुराने संस्कारों और प्राकृतिक इच्छाओं के संघर्ष के

कारण उत्पन्न होता है, प्राकृतिक इच्छाओं के प्रकाशित होने से पुराने संस्कारों में परिवर्तन नहीं होता और मनुष्य की वर्तमान नैतिक बुद्धि के प्रति अन्याय होता है, अतएव आधुनिक काल के सर्वोत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक मानसिक असन्तोष को समाप्त करने के लिये प्राकृतिक इच्छाओं को आचरण में प्रकाशित करने की सलाह न देकर उनको चेतन के स्तर पर लाने भर की सलाह देते हैं। दमित इच्छाओं के इस प्रकार के प्रकाशन को उनका मनोवैज्ञानिक प्रकाशन कहा जाता है इस कार्य के लिये भी मनुष्य को एक नये प्रकार के शिक्षा की आवश्यकता होती है, उसे एक असाधारण सामर्थ्य का परिचय देना होता है, क्योंकि, मनुष्य के लिये सबसे कठिन काम अपनी नैतिक कमजोरियों को पहचानना है और फिर दूसरा पुरुषार्थ इन कमजोरियों के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करके उन्हें सदुपयोग में लाना है।

मानसिक असन्तोष का सहज निराकरण

मनुष्य के मन में मौलिक परिवर्तन धीरे-धीरे होता है इसके लिए नित्य-प्रति अपने आपको समझने की और सुशिक्षित बनाने की चेष्टा करनी पड़ती है। यह एक नई प्रकार की शिक्षा है। उक्त प्रकार का मानसिक असंतोष वाला व्यक्ति अपने आपके प्रति भी बड़ा कठोर रहता है, वह जिस प्रकार अपने आपका दमन करता है, वह दूसरों का भी इसी प्रकार का दमन करता है। इस प्रकार वह दूसरों में भी असंतोष की सन्तति उत्पन्न कर देता है। कहा जाता है कि मानसिक रोग शारीरिक रोग की अपेक्षा अधिक संक्रामक होते हैं। एक मानसिक रोगी अपने आसपास के दूसरे लोगों को भी मानसिक रोगी बना लेता है। अपने आपके मानसिक असंतोष को हटाने की पहली सीढ़ी

दूसरे लोगों के प्रति उदारता का भाव दिखाना है। जो व्यक्ति अपने चेतन मन से दूसरों की कमियों को क्षमा करता है, उसका अचेतन मन भी उसकी कमियों को उदारता की दृष्टि से देखने लगता है। फिर उसके मन के विभिन्न स्तरों में समन्वय स्थापित हो जाता है।

बालकों की स्नेहपूर्वक शिक्षा करना, बालक के रूप में परमात्मा के गुणानुवाद गाना, बालकों का लालन पालन करना, मानसिक रोग और तज्जनित शारीरिक रोगों के निराकरण का सर्वोत्तम उपाय है। जिस समय व्यासदेवजी को अपने जीवन में मानसिक असन्तोष की अनुभूति हुई थी, नारद ऋषि ने उन्हें बालकृष्ण के गुणानुवाद कथन के लिये सलाह दी थी। इससे न केवल व्यासदेव का मानसिक असन्तोष समाप्त हुआ वरन् उसके बाद करोड़ों नर-नारियों का मानसिक असन्तोष भगवान् कृष्ण की बाललीला चिन्तन करके और कृष्ण के गुणानुवाद से समाप्त हुआ। इस प्रकार की धार्मिक चर्चाओं का मनोवैज्ञानिक महत्व बहुत बड़ा है, कितने ही लोगों का उक्त प्रकार का मानसिक असन्तोष छोटे बालकों की शिक्षा से और कला संगीत की उपासना से समाप्त हो जाता है।

हमारे एक वयोवृद्ध मित्र को पांच वर्ष पूर्व भारी निराशा और असंतोष सताने लगे। वे इस समय अपने एक मित्र की चिकित्सा कर रहे थे। ये मित्र विषाद रोग से पीड़ित थे। वे सदा अपनी भर्त्सना करते रहते थे। इनकी चिकित्सा करते करते हमारे मित्र को भी वही रोग हो गया। ये कुशल आयुर्वेदिक वैद्य हैं परन्तु उनका इससे विश्वास उठ गया। इस असंतोष का कारण खोजने पर पता चला कि इस रोग के कुछ दिन पूर्व उनकी युवा साली का विवाह हो जाने के कारण वह अपने पति के

घर चली गई थी। यही उनकी चिकित्सालय को संम्हालती थी और उनकी भी सब प्रकार खबर लेती थी। उसके चले जाने के बाद संसार निराशायुक्त हो गया और सभी विचार काले होगये। इन्होंने अपनी सभी गुप्त भावनाओं को खोला। इनमें दमित प्रवल काम वासना थी। इनको छोटे बच्चों को पढ़ाने की सलाह दी गई। इस काम को इन्होंने बड़े मनोयोग से किया। इससे इनका विषाद रोग समाप्त हो गया।

अपने आरोग्य प्राप्ति के रहस्य को समझाते हुए उन्होंने बताया कि बच्चों को उत्साहपूर्वक पढ़ाने के लिये उन्हें बच्चों के मन को समझना पड़ा। बच्चों के मन को समझने की चेष्टा में उन्हें अपने ही बाल-मन की भावनाओं का ज्ञान हो गया और उसे समझाने की विधि भी ज्ञात हो गई। इस तरह वे अपने बाल-मन की हठ को छुड़ा सके और उसकी शक्ति का सदुपयोग करने में सफल हुए।

कवि नैतिकता के प्रतिबंध की कटुता को सहने योग्य बना देते हैं। इतना ही नहीं वें कर्तव्य को प्रिय बनाते हैं और संयम को शोभनीय बना देते हैं। कवि वास्तव में ऐसे देवात्मा हैं जो पृथ्वी और स्वर्ग को एक दूसरे के समक्ष ले आते हैं और मनुष्य के अनजाने ही उसके मानसिक असन्तोष का निराकरण कर देते हैं।

अध्याय ३

मानसिक रोगों की एकमात्र औषधि

मनोविश्लेषण में प्रेम का स्थान

संसार के सभी मानसिक चिकित्सकों का अनुभव हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि मानसिक रोगों की एक मात्र औषधि प्रेम है। आधुनिक युग के प्रमुख मानसिक चिकित्सक फ्रायड महाशय का कथन है कि मानसिक रोग नष्ट होने के लिये चिकित्सक पर रोगी के प्रेम के भाव अरोपित होना आवश्यक है। इस कथन में बहुत कुछ सत्य है। परन्तु इस प्रकार रोगी के प्रेम प्राप्ति के लिये स्वयं प्रेम देना आवश्यक है। रोगी का चिकित्सक के प्रति स्वार्थमय प्रेम होता है और चिकित्सक का रोगी के प्रति निस्वार्थ प्रेम होता है। यदि चिकित्सक का भी प्रेम स्वार्थमय हो जाय तो रोग के हटाने में वाधा हो जाती है। रोगी चिकित्सक से वासना युक्त प्रेम करने लगता है, परन्तु चिकित्सक का प्रेम सेवाभाव युक्त अर्थात् रचनात्मक प्रेम होता है। जितना ही इस प्रकार के निःस्वार्थ प्रेम का विश्वास रोगी के मन में दृढ़ हो जाता है उसका रोग उतना ही हल्का हो जाता है। दूसरे व्यक्ति के विषय में यह कल्पना अपने मन में आना कि वह हमें प्यार करता है और उसका प्रेम शुद्ध है अपने आपही उससे प्रेम करने लगने का सूचक है। दूसरों से घृणा करनेवाला व्यक्ति यह नहीं सोचता कि वह उनसे घृणा करता है वरन् वह सोचता है कि दूसरे लोग ही उससे घृणा करते हैं। इसी प्रकार प्रेम की बात है।

मनोविश्लेषण विधि के प्रयोगकर्ता कहते हैं कि चिकित्सा काल में रोगी का चिकित्सक के प्रति प्रेम हो जाना तो स्वाभाविक है परन्तु यदि चिकित्सक भी रोगी को उसी प्रकार प्यार करने लगे तो इससे रोगी की चिकित्सा में सहायता न मिलकर हानि ही होती है। इस कथन में कुछ मौलिक सत्य है। रोगी की मानसिक ग्रन्थियां जिनके कारण रोग उत्पन्न होता है वे प्रायः कामवासना सम्बन्धी ही होती हैं। जब मनोविश्लेषण द्वारा रोगी को चेतना पर लाया जाता है तो यह मुक्त किया गया कामभाव पहले पहल चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाता है। इस तरह हिस्टीरिया से पीड़ित स्त्री चिकित्सा काल में अपने चिकित्सक को उसी प्रकार प्रेम करने लगती है जिस प्रकार वह अतीत काल के अपने विस्मृत प्रेमी को प्रेम करती थी और नैतिक भावनाओं द्वारा जिस प्रेम के दमन के कारण उसे हिस्टीरिया का रोग उत्पन्न हुआ था। यदि रोगी चिकित्सक को ऐसा प्रेम न करे तो वह रोगमुक्त भी न हो। परन्तु यदि चिकित्सक भी रोगी को उसी प्रकार का प्रेम करने लगे जिस प्रकार का प्रेम हिस्टीरिया का रोगी चिकित्सक को करता है तो न केवल रोगी के रोगमुक्त होने में अड़चन उत्पन्न हो जाय वरन् अनेक प्रकार की नैतिक और सामाजिक उलझनें उत्पन्न हो जायँ। देखा गया है कि रूपवान तथा आकर्षक व्यक्तित्व का चिकित्सक कभी कभी भारी संकट में मनोविश्लेषण चिकित्सा के कारण पड़ जाता है। वह रोगी से इतनी घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि उसके बिना इससे रहा नहीं जाता। कुछ सच्चे लोगों को इसके कारण भारी बदनामी सहनी पड़ी और कुछ को जेल भी जाना पड़ा है। यह सब रोगी की भावनाओं के प्रति असावधानी का परिणाम है।

जहाँ रोगी के कामुक प्रेम के प्रति सावधान रहना आवश्यक है वहाँ यह भी आवश्यक है कि चिकित्सक की रोगी के प्रति सदा सहानुभूति की ही मनोवृत्ति रहे। रोगी का कामुक प्रेम तभी चिकित्सक को प्रभावित करता है जब उसी प्रकार के प्रेम का दमन उसके मन में भी रहता है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में मानसिक चिकित्सा का काम हाथ में लेने योग्य नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक मनोविश्लेषक को चिकित्सा का काम हाथ में लेने के पूर्व अपनी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण कर लेना अथवा करा लेना चाहिये।

प्रेम के दो रूप हैं—एक स्वार्थमय और दूसरा परार्थमय। रोगी मनुष्य का प्रेम स्वर्थामय होता है। इसी के कारण उसका दमन भी अनिवार्य होता है। इस प्रेम की स्वीकृति रोगी न तो दूसरों के समक्ष और न अपने आपके समक्ष कर सकता है। इस आत्म-स्वीकृति में चिकित्सक सहायता करता है। इसके प्रतिकूल चिकित्सक का प्रेम है। यह परार्थ प्रेम है। सच्चा चिकित्सक सेवा भाव से प्रेरित हो कर ही चिकित्सा कार्य को हाथ में लेता है। जब पैसे रुपये का लोभ उसे सताने लगता है तो उसकी चिकित्सा निष्फल होने लगती है। अतएव जो चिकित्सक जितना ही उदार-मन रहता है वह चिकित्सा कार्य में उतना ही सफल होता है। चिकित्सा चाहे भौतिक हो अथवा मानसिक। भौतिक चिकित्सा की अपेक्षा मानसिक चिकित्सा में उदारता के भावों की और भी अधिक आवश्यकता है। यहां तो सारी चिकित्सा विचारों के परिवर्तन में है। उदार व्यक्ति ही दूसरों के विचारों को प्रभावित कर सकता है। जब हम किसी व्यक्ति में स्वार्थभाव का सन्देह करने लगते हैं तो हम उसके विचारों से प्रभावित नहीं होते। यही कारण है कि

मानसिक चिकित्सा के कार्य में साधु सन्त लोग जितने सफल होते हैं लौकिक चिकित्सक उतने सफल नहीं होते। प्रेत झाड़ने वाले ओझा भी विना फीस के ये सब काम करते हैं। जब ये लोग इन कामों को आर्थिक लाभ का साधन वना लेते हैं अथवा जब वे इनकी आड़ में वासना की तृप्ति करने लगते हैं तो उनकी लोक-कल्याण की शक्ति नष्ट हो जाती है। बहुत से भूत प्रेत झाड़ने वाले लोग जब पथभ्रष्ट हो जाते हैं तो ये भूत प्रेत उन्हें ही खा जाते हैं। धार्मिक मनोवृत्ति से चिकित्सा करने वाले व्यक्ति जब लौकिक लाभ में फँस जाते हैं तो वे उन्हीं मानसिक रोगों के शिकार हो जाते हैं जिनसे वे दूसरों को मुक्त करते रहे थे। इस प्रकार अपने आदर्श से नीचे गिरने पर वे नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

डा० फ्रायड ने प्रेम और काम भाव का बहुत कुछ एकीकरण किया है। परन्तु प्रेम जिस प्रकार काम का आधार है उसी प्रकार वह नैतिकता का भी आधार है। जिस प्रकार सभी प्रकार की काम चेष्टायें प्रेम के बिना रोगमूलक होती हैं इसी प्रकार प्रेम के विना नैतिक आचरण कोरा ढोंग होता है। ऐसा ही नैतिक आचरण रोगमूलक होता है। ऐसा आचरण पहले तो मनुष्य के अभिमान को बढ़ाता और फिर मानसिक संघर्ष को उत्पन्न कर वह मनुष्य को सब प्रकार से निकम्मा बना देता है। प्रेम-विहीन नैतिकता बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के संघर्ष उत्पन्न करती है। यह दिखाऊ नैतिकता होती है। सच्चे प्रेम में काम और उदात्त भावों का विरोध नहीं है। इस प्रकार का प्रेम मानव जीवन का आधार है और इसकी वृद्धि से ही मानसिक रोगों की समाप्ति होती है। मानसिक चिकित्सक का कर्तव्य है कि रोगी के स्वार्थमय प्रेम का उदात्तीकरण करके

वह उसे परार्थवादी बनावे। परन्तु यह काम वह तभी कर सकता है जब वह स्वयं इस प्रकार के प्रेम का अभ्यास करते रहा हो।

फ्रायड महाशय ने मानसिक रोगों के उपचार के लिये स्वप्नों का अध्ययन नितांत आवश्यक माना है। इससे दबी वासना का ज्ञान होता है, परन्तु किस स्वप्न का अर्थ क्या है, यह जानना सरल नहीं। फिर जिस अर्थ को चिकित्सक ठीक समझता है उसे रोगी स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार के अर्थ को न मानने का कारण फ्रायड महाशय ने रोगी की आत्म-स्वीकृति से बचने की मनोवृत्ति बताया है। रोगी अपने आपको छिपाना चाहता है। इसलिये ही वह ऐसे अर्थ को स्वीकार नहीं करता जो उसके सम्मान को ठेस पहुँचावे।

युंग महाशय ने फ्रायड के इस प्रकार अर्थ लगाने की विधि को ठीक नहीं माना। स्वप्न के किसी प्रकार के अर्थ को हमें तब तक ठीक न मान लेना चाहिये जब तक कि रोगी स्वयं उसे स्वीकार न करे। एक ही स्वप्न के अनेक अर्थ हो सकते हैं। यह रोगी की मानसिक स्थिति और उस के चिकित्सक के साथ सम्बन्ध पर निर्भर करता है कि कौन-सा अर्थ ठीक होगा। वास्तविक स्वप्न का अर्थ बताना रोगी को अपने आपको समझने का उपाय है। जबतक रोगी और चिकित्सक में हृदय की एकता नहीं होती तबतक रोगी को पहले तो स्वप्न ही नहीं होते, फिर वे उसे स्मरण नहीं रहते और यदि स्मरण भी रहते हैं तो वह उनका अर्थ स्वीकार नहीं करता।

चिकित्सक और रोगी में हृदय की एकता हो जाने पर रोगी को स्वप्न होने लगते हैं और अर्थ भी स्पष्ट हो जाते हैं। स्वप्न सुनाते सुनाते रोगी और चिकित्सक के बीच और भी एकता

स्थापित हो जाती है। फिर रोगी न केवल स्वप्न द्वारा वरन् अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन करके आत्म-स्वीकृति करता है। चिकित्सक इन सब बातों को सहानुभूति पूर्वक सुनता है। इससे रोगी में आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है; उसकी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति का अन्त हो जाता है। प्रेम की अवस्था में चिकित्सक के रोगी के प्रति सदा सन्निर्देश रहते हैं और ये निर्देश रोगी के आन्तरिक मन में चले जाते हैं। इनसे रोगी को आरोग्य लाभ होता है। जब रोगी चिकित्सक को भला व्यक्ति समझता है तब रोगी स्वयं भला बन जाता है। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक स्वयं रोगी का भला सोचे और यह तभी हो सकता है जब चिकित्सक उसे प्रेम करे। यह प्रेम केवल दिखावा मात्र न हो, वरन् सच्चा प्रेम हो।

प्रेम चिकित्सा के चमत्कार

प्रेम चिकित्सा का चामत्कारिक परिणाम डा० होमरलेन के प्रयोगों में देखा गया है। नर-घातक पागल भी इनकी प्रेम चिकित्सा से सुधर गये हैं। ये रोगी की सेवा करते और उसके दुःख के प्रति सहानुभूति प्रकट करते थे। रोगों की दमित वासना के प्रति वे घृणा का भाव न रखकर उसके प्रति उदार भाव रखते थे। इसके कारण रोगी सरलता से उनके समक्ष आत्म-स्वीकृति कर लेता था। जब तक कोई व्यक्ति दमित वासना को घृणा की दृष्टि से देखता है तब तक वह उस वासना को चेतना की सतह पर लाने में कैसे सहायक हो सकता है। दमित वासना की भलाई को ध्यान में रखकर ही उसे चेतना की सतह पर लाया जा सकता है और उसे मनुष्य के व्यक्तित्व का अंग बनाया जा सकता है। इसके लिये एक विशेष प्रकार के दर्शन की आवश्यकता है।

जीवन का नया दर्शन

मनुष्य की वासनायें उसके शत्रु नहीं अपितु मित्र हैं। प्राकृतिक वासनाओं का समुचित रूप से तृप्त होना आवश्यक है, चाहे ये शारीरिक सुख की हों अथवा समाज-सम्मान प्राप्ति की। जब मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाओं की समुचित तृप्ति हो जाती है तब उच्च कोटि की इच्छाओं का विकास अपने आप हो जाता है। इसमें धीरे-धीरे वृद्धि होती है। जब हम किसी व्यक्ति की निम्न कोटि की इच्छाओं का आदर नहीं करते और समय के पूर्व ही उसे महान् बना देना चाहते हैं तो हम उसके व्यक्तित्व का विकास न कर उसका ह्रास कर देते हैं। व्यक्ति की ये दबी वासनायें फिर उच्च कोटि की वासनाओं के उदय होने में बाधक बन जाती हैं। फिर मनुष्य या तो विषय-लोलुप हो जाता है अथवा वह सदा आत्म-संताप में रहा करता है। मनुष्य की विषय-लोलुपता अधिकतर उसके बचपन के प्रेमहीन जीवन अथवा दमन का परिणाम है। इसी के कारण कभी-कभी मनुष्य को आत्म-भर्त्सना भी होती है और इस प्रकार वह अनेक रोगों का शिकार बन जाता है। यह अपनी आत्म-भर्त्सना के भूलने का उपाय है। यदि बालक की प्रेम की भूख समुचित रूप से तृप्त हो, यदि उसकी निम्न कोटि की अर्थात् खाने, खेलने, तमाशा करने की इच्छाओं का कठोरता से दमन न हो तो बालक विषय-लोलुप अथवा आत्म-घातक न बनकर रचनात्मक कार्य में मन लगानेवाला व्यक्ति बन जावे। मानसिक चिकित्सक को प्रेम के द्वारा प्रौढ़ रोगी के साथ भी वही काम करना पड़ता है जो बालक के प्रति उसके योग्य अविभावक करते हैं। वह बचपन की उसके प्रति की गई भूलों का सुधार करता है। रोगी अपनी निम्न कोटि की वासनाओं को दबाये रखता है और इसके कारण वह बेचैन रहता है। चिकित्सक रोगी में आत्म-विश्वास पैदा करके उसकी

वासना के इस प्रकार के दमन का अन्त करदेता है और उसकी शक्ति को भले मार्ग में लगा देता है। शक्ति का सन्मार्ग में लगाया जाना तब तक सम्भव नहीं जब तक वह दमन से मुक्त न हो जाय। यह कार्य भी प्रेम के द्वारा ही सम्भव है।

मनुष्य के अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों का अन्त मानसिक तथा शारीरिक शैथिलीकरण से होता है। ऐसी अवस्था में यदि रोगी को निद्रा आ जावे तो बहुत ही अधिक लाभ होता है। रोगी के रोग का वास्तविक कारण उसके अचेतन मन में रहता है। जब रोगी के आरोग्यवान विचार चेतन मन से अचेतन मन में चले जाते हैं तो वह आरोग्य लाभ कर लेता है। इसके लिये रोगी को स्वास्थ्य के निर्देश देकर सुला देना आवश्यक है। परन्तु रोगी इस प्रकार शैथिलीकरण की अवस्था अथवा सुप्तावस्था तभी प्राप्त करेगा जब वह प्रेम के वातावरण में हो। चिकित्सक जब रोगी को सभी प्रकार का प्रेम देता है और जब रोगी का चिकित्सक पर पूरा विश्वास होता है तब उसका मानसिक और शारीरिक खिचाव सरलता से ही कम हो जाता है और वह सरलता से सो जाता है। इस प्रकार की निद्रा में कठिन से कठिन रोग थोड़े ही काल में अच्छे हो जाते हैं। चिकित्सक रोगी के ऊपर हाथ फेरकर उसे सरलता से आरोग्यवान बना देता है। रोगी का अचेतन मन इस अवस्था में चिकित्सक के निर्देश को पकड़ लेता है और फिर वह रोगी के स्वास्थ्य में तदनुसार परिवर्तन करदेता है।

प्रेम का प्रत्यक्ष परिणाम रोगी द्वारा दूसरों के प्रति प्रेम दिखाने में देखा जाता है। रोगी स्वार्थ-परायण होता है। जब वह मैत्री भावना का अभ्यास करने लगता है, अर्थात् जब वह अपने विषय में चिन्तित न रहकर दूसरों के दुःखों से दुःखी

होने लगता है, तब वह शीघ्र ही आरोग्य प्राप्त कर लेता है। छोटे बच्चों से प्रेम करना अपने ही बाल मन से प्रेम करना है और उनकी सेवा करना आत्मोद्धार करना है। कितने ही कठिन मानसिक रोग बाल-सेवा से नष्ट हो जाते हैं। हठी विचारों को नष्ट करने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

बालकों की सेवा करना काम-वासना का शोध भी है। जो शक्ति काम-कृत्यों में प्रकाशित होती है और जिसके दमित होने से रोग उत्पन्न होते हैं वही शक्ति शोधित अवस्था में बाल-प्रेम में परिणत हो जाती है। इस प्रकार शिक्षण का कार्य और बालकों के लालन-पालन का कार्य काम-वासना का उदात्तीकरण है। कला, संगीत और खेल भी इस शक्ति का सदुपयोग करते हैं। भगवान कृष्ण की उपासना इसी दृष्टि से उपयोगी है। ये सब प्रेम-प्रकाशन के ही अनेक मार्ग हैं। इन सभी से मानसिक खिंचाव का अन्त होता है और मनुष्य में अभूतपूर्व मानसिक तथा शारीरिक बल का आविर्भाव होता है।

रोगी के मानसिक खिंचाव का अन्त अपनी स्त्री से भी प्रेम करने से होता है। जिस प्रकार रोगी का मन विभाजित अवस्था में रहता है, उसी प्रकार उसका प्यार भी विभाजित अवस्था में रहता है। स्त्री-पुरुष में अनबन रहती है। यदि किसी घर में प्रेम का वातावरण हो तो मानसिक रोगों की उत्पति ही न हो। स्त्री का सच्चा प्रेम प्राप्त करने के लिये पुरुष को त्याग करना पड़ता है और कई प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। जब मनुष्य अपने घर का सुधार करने लगता है और स्वार्थ हेतु घर का संचालन न कर प्रेम के द्वारा उसका संचालन करने लगता है तब उसका मन अपने आप ही सुधर जाता है और उसमें सभी सद्‌गुणों का आविर्भाव अपने आप हो जाता है।

जिस प्रकार घर का प्रेम आरोग्यदायक है, इसी प्रकार मित्रों का, पड़ोसियों का और समाज का प्रेम आरोग्य प्रदान करता है। जिस मनुष्य का हृदय सदा प्रेम के भावों से भरा रहता है उसे रोगी बनने की आवश्यकता नहीं होती। यह प्रेम विषय-लोलुपता नहीं वरन् सेवा-भाव है। प्रेम की कसौटी त्याग है। प्रेम के कारण कठिन से कठिन काम सरल हो जाता है। प्रेम मनुष्य में नव-शक्ति का संचार कर देता है। मनुष्य अपनी शक्ति से तब तक विज्ञ नहीं होता जब तक उसके मन में प्रेम का भाव नहीं आता। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरों को प्यार करता है वह थकावट को उतना ही कम अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति के ध्यान-मात्र से दूसरे लोगों में नव आशा का संचार होता है। जहाँ प्रेम है वहीं आरोग्य है तथा वहीं सुख और शान्ति रहती है।

मानसिक चिकित्सा में प्रेम का कितना महत्व का स्थान है, यह रोग के निराकरण की दृष्टि को ध्यान में न रखकर जब हम रोगी को बल प्रदान करने की दृष्टि को ध्यान में रखकर जानने की चेष्टा करते हैं तब प्रत्यक्ष हो जाता है। रोगी की कमजोरियों को उसे दिखाकर चिकित्सक उसे आरोग्यवान नहीं बना सकता। रोगी को आरोग्यवान तभी बनाया जा सकता है जब हम उसको अपने बल का ज्ञान करावें। प्रत्येक रोगी अपने आपमें मानसिक दुर्बलता का अनुभव करता है। उसके विचार उसके वश में नहीं रहते। वह किसी निर्णय पर दृढ़ नहीं रह सकता। वह सोचता कुछ है और करता कुछ और है। जो व्यक्ति अपने आपमें भरोसा खो चुका है, उसमें आत्म-विश्वास लाने की प्रथम सीढ़ी उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करना है। इससे वह अपने कल्याणकर्ता

में विश्वास करने लगता है। फिर रोगी अपने आप में विश्वास करने लगता है।

जिस व्यक्ति में रोगी विश्वास करता है वह उसके आदर्श स्वत्व का प्रतीक होता है। पहले ऐसे व्यक्ति का रोगी अनुशासन मानता है, पीछे वह आत्म-अनुशासन का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। यदि इस अनुशासन करनेवाले व्यक्ति से रोगी का प्रेम हुआ तो रोगी अपने आदर्श स्वत्व से प्रेम करता है और यदि इसके प्रति उसका घृणा का भाव हुआ तो वह अपने आदर्श स्वत्व से भी घृणा करने लगता है। ऐसी अवस्था में वह आत्म-अनुशासन में असमर्थ रहता है।

रोगी में अनेक प्रकार की मानसिक कमजोरियाँ अवश्य होती हैं, परन्तु उसमें इनको वश में करने की शक्ति भी वर्तमान है। कमजोरियाँ बहुत हैं, परन्तु इनको वश में करनेवाली शक्ति भी अनन्त है। इमरसन महाशय का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर है जो मूर्ख का पार्ट खेल रहा है*। जब चिकित्सक रोगी के प्रति देवत्व का भाव रखता है तो वह इसमें देवता के भाव उदय करने में समर्थ होता है। हम जैसा भी किसी के विषय में बार-बार सोचते हैं वह व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। व्यक्ति के आस-पास के विचार उसके अचेतन मन में चले जाते हैं। प्रेम द्वारा निर्मित विचार आशावादी होते हैं और घृणा द्वारा निर्मित विचार निराशावादी। मानसिक शक्तियों का आविर्भाव, चाहे यह अपने आप में हो अथवा दूसरे व्यक्ति में हो, प्रेम से ही होता है।

मानसिक विश्लेषण द्वारा रोगी को अपनी कमजोरियों का

* 'Every man is God playing the fool'.

ज्ञान कराया जाता है। परन्तु यदि इतना ही किया गया तो रोगी का कोई लाभ न होकर उसकी हानि ही होगी। उसकी आत्म-भर्त्सना और भी बढ़ जायगी। रोगी को अपनी शक्ति का भी ज्ञान कराना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब हम स्वयं उसकी शक्ति में विश्वास करें। जिस प्रकार कोई भी शिक्षक ऐसे बालक का कल्याण नहीं कर सकता जो उसे दुराचारी और कुण्ठित बुद्धिवाला मानता है और जो उसके सुधरने में विश्वास नहीं करता, इसी प्रकार मानसिक रोगी की अपार शक्ति में विश्वास न करनेवाला व्यक्ति उसे लाभ नहीं पहुँचा सकता। चिकित्सक का आन्तरिक विश्वास ही रोगी का विश्वास बन जाता है। यह विश्वास जितना सजीव होता है वह उतना ही कारगर होता है। अतएव रोगी के प्रति प्रेमपूर्ण विश्वास का भाव उसमें आत्म-विश्वास लाने में बहुत सहायक होता है। वह चिकित्सक के प्रेम के कारण अपनी शक्ति में विश्वास करने लगता है और अपने स्वभाव का नव निर्माण कर लेता है।

रोगी के मन पर प्रेम का प्रभाव बड़ा रहस्यमय होता है। प्रत्येक रोगी अपने आपसे असन्तुष्ट रहता है। वह आन्तरिक मन से अपने आपको कोसता रहता है। अपने आपको कोसने की क्रिया का कभी कभी आरोपण दूसरों के ऊपर हो जाता है। जो मनुष्य अपने आप से असन्तुष्ट है वह दूसरों से कदापि सन्तुष्ट नहीं रह सकता। वह अपनी स्त्री से, अपनी सन्तान से अथवा अपने मित्रों से ही सदा झगड़ता रहता है। इस प्रकार की झगड़ा करने की मनोवृत्ति अपने मन की विभाजन और आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति का द्योतक है। जब रोगी से चिकित्सक प्यार करता है तो पहले तो रोगी का आन्तरिक झगड़ा शान्त

होता है। धीरे-धीरे उसके मन में प्रसन्नता आने लगती है। फिर दूसरे लोगों के साथ उसके सम्बन्ध बदलने लगते हैं। वह उनमें बुराई की जगह गुण देखने लगता है। इस प्रकार उसके स्वभाव में अज्ञातरूप से परिवर्तन हो जाता है।

जिन रोगियों को केवल मानसिक रोग रहता है उनके आन्तरिक मन का परिवर्तन उन्हें शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है। जिन्हें मनोविकार जन्य शारीरिक रोग होता है उन्हें अपने आपमें हुए परिवर्तन का पता शीघ्रता से नहीं लगता। परन्तु जब रोग की मानसिक भित्ति गिर जाती है तो धीरे-धीरे शारीरिक रोग भी चला जाता है। रोग कब चला गया इसका ज्ञान भी रोगी को नहीं रहता। कभी कभी रोग के चले जाने का कारण भी वह नहीं जान पाता। उसे सारी बातें रहस्यपूर्ण ही दिखाई देती हैं।

प्रकरण ४

दमित भावों का रेचन

मनोविश्लेषण का उद्देश्य

हमने पिछले प्रकरणों में बताया है कि आधुनिक मानसिक चिकित्सा की आधारशिला दवे मनोभावों का रेचन है। इन मनोभावों के रेचन के लिये रोगी का मनोविश्लेषण करना पड़ता है; कभी-कभी यह रेचन का कार्य अचानक भी हो जाता है। इस प्रसंग में शाला में हुये कुछ प्रयोग उल्लेखनीय है—

अभी हाल की बात है, हमारे यहाँ आनेवाले एक रोगी को कान में सनसनाहट होती रहती थी। इस सनसनाहट के कारण उसका मन उदास रहता था। इधर उसे प्रमेह का रोग भी था, जिसकी उसने बहुत सी चिकित्सा कराई पर रोग न गया। वह अभी अपने जीवन की भावात्मक घटनायें लिख रहा था। उसने काम-वासना संबंधी भी अनेक बातें लिखी। ज्योंही उसने यह बात लिखी कि उसने अपनी काम-तृप्ति के लिये एक बार पशु-मैथुन किया तो उसके एक कान की सनसनाहट एकाएक जाती रही।

अकारण काम का रेचन

मेगडुगल की अपनी एबनार्मल साइकालोजी में हम ऐसे रोगी का वर्णन पाते हैं, जो सदा डरा करता था कि पीछे से कोई उसे पकड़ लेगा। वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। उसकी उमर ५० वर्ष की हो गई थी। यह भय उसे निरर्थक

दिखाई देता था, परंतु उसे रोक नहीं पाता था। यदि उसे किसी सभा में जाना होता तो वह ऐसे स्थान पर बैठता था जहाँ उसके पीछे दीवाल हो, ताकि किसी के पीछे से आने का भय न हो। एक दिन यही व्यक्ति अपने बचपन के गाँव में गया। वहाँ उसका बड़ा स्वागत किया गया। वह गाँव के विभिन्न लोगों के पास उनके घर पर भेंट करने गया। इसी समय वह एक बूढ़े बनिये की दुकान पर पहुँचा। उसने उससे अनेक प्रकार की कुशलता पूछी। बात-बात में उसने मुस्कुराते हुये यह भी कह दिया "कि क्या अब तुमने बोरों में से अखरूट की चोरी करना छोड़ दिया है"। इस बात को सुनते ही उसका चेहरा पीला पड़ गया। उसको बचपन की वे सभी बातें याद आ गईं जो अखरूट की चोरी के साथ संबंधित थीं। शर्म के मारे उसका चेहरा नीचा हो गया। परंतु एक क्षण में ही उसका रोग समाप्त हो गया।

जब यह व्यक्ति १० साल का लड़का था तो यह अपने घर से आकर इस बनिये की दूकान से अखरूट चुरा ले जाया करता था। ये ऐसी जगह पर रक्खे थे जहाँ उन्हें कोई सब समय देखता न था। एक रोज़ इस बनिये ने उस बालक की चेष्टायें देखकर उसकी नीयत पर संदेह किया और वह इस ताक में रहा कि जब वह लड़का कोई चीज उठा कर ले जाने लगेगा उसी समय उसे पकड़ा जावेगा। अतएव ज्योंही वह लड़का बोरे से मुठ्ठी भर अखरूट लेकर चला, झट बनिये ने उसके कुर्त्ते की कालर को पीछे से पकड़ लिया। अब क्या था शरीर काटो तो खून नहीं, यह दशा उस लड़के की हो गई। वह प्रतिष्ठित घर का बालक था ही; उसे डर लगा कि उसकी चोरी की बात सभी लोग जान लेंगे। बनिये ने इस घटना की

बात किसी को नहीं बताई परंतु लड़के के मन पर तो लज्जा और ग्लानि के संस्कार बन ही चुके थे। इनके परिणाम स्वरूप एक ओर उसने अपने आपको समाज में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया और वह एक बड़े सच्चे नागरिक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और दूसरी ओर उसे अकारण भय के रूप में पुराने कृत्य का भुगतान करना पड़ा। जब इस व्यक्ति को अपनी पुरानी दमित स्मृति याद आ गई तो उसका रोग समाप्त हो गया।

आत्मग्लानि का रेचन

दमित स्मृति का जागरण कभी-कभी अचानक भी हो जाता है। मनुष्य निज प्रयास से अपने भूले हुए आत्मग्लानि के एक अनुभव को याद करने में अकसर सफल नहीं होता। परन्तु कोई अचानक घटना—विशेष व्यक्ति का मिलन—ऐसी घटना को चेतना के स्तर पर ले आते हैं और इससे रोग की समाप्ति हो जाती है। इस प्रसंग में निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

लेखक के एक शिष्य को अपनी परीक्षा के समय घड़ी (टाइम पीस) की टकटकाहट पढ़ने में विघ्न डालने लगी। इससे परेशान होकर उसने घड़ी को बाजू के कमरे में रक्खा। परंतु इससे दिल की घबराहट और भी बढ़ गई। वह घड़ी के विना भी नहीं पढ़ सकता था और घड़ी उसे पढ़ने भी नहीं देती थी। यह व्यक्ति मनोविज्ञान का प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी है। वह जानता है कि ये परेशान करनेवाली वस्तुयें किन्हीं दूसरी बातों का प्रतीक होती हैं। अतएव वह ऐसी बात को सोचने लगा जिसका प्रतीक घड़ी की टकटकाहट हो सकती है। कई दिनों तक कुछ भी ध्यान में न आया। एक रोज मानसिक

शिथिलीकरण की अवस्था में उसे ध्यान आया कि एक बार जब वह अपनी पत्नी के पास सोया था और उससे काम-संबंध करना चाहता था तो पास में सोई लड़की जाग गई थी और वह रोने लगी थी। उससे उसे बड़ा क्षोभ हुआ था। उसने लड़की को अपनी माँ के पास बाजू के कमरे में छोड़ दिया। परंतु उसकी आत्मा फिर उसे कोसने लगी। इस प्रकार वह रात्रि अशान्ति में ही व्यतीत हुई। उसे समझ में आया कि घड़ी की टकटकाहट लड़की के शोर मचाने का प्रतीक है और उसका पढ़ना भोगक्रिया का। घड़ी के कमरा बदलने से उसे इसलिये ही परेशानी होती थी कि यह प्रतीक रूप से उस आत्मग्लानि को जागृत करती थी जो रोती हुई लड़की को एक कमरे से दूसरे कमरे में ले जाने के कारण हुई थी। ज्योंही यह पुरानी घटना रोगी को याद आई, उसकी परेशानी एकाएक नष्ट हो गई।

इसी युवक का एक दूसरा अनुभव उल्लेखनीय है। गत वर्ष होली के समय यह अपने देहात के घर गया था। वहाँ पहुँचने पर जब सब लोग अपने मजेमौज में लगे हुये थे उस समय इसे एकाएक पटाके की आवाज परेशान करने लगी। जब पटाके की कोई आवाज होती तब उसे मालूम होता था कि कोई व्यक्ति उसके हृदय पर एक भारी घन पटक रहा है। इस आवाज के भय के मारे वह अपना घर छोड़कर एक मील दूर गंगाजी के किनारे सबेरे ही उठकर चला जाता था और रात होने पर वापस आता था। उसे मालूम होता था कि इन पटाकों की आवाज से उसके दिल की गति ही रुक जायगी। इधर घर के लोग उसे खोजते रहते। खुशी के समय अपने प्रिय पुत्र को कौन देखना नहीं चाहेगा। अभी रंग छोड़ने का

दिन नहीं आया था। उसके आगमन को सोच कर उसे और भी परेशानी होती थी। अतः उसने सोचा कि अब तो मृत्यु नजदीक ही है, अतएव अपने गुरु के पास ही जाकर मरना उचित है। संभव है वे बचा लें। इस विचार को लेकर वह काशी-मनोविज्ञान-शाला के लिये चला। रास्ते में वह सोचता जाता था कि पटाके की आवाज से आखिर परेशानी का कारण हो ही क्या सकता है। उसे ज्ञात था कि ऐसे रोगों का कारण प्रायः कामवासना के क्षेत्र में ही होता है। अतएव उसने अपने उन सभी काम-अनुभवों को सोच डाला जिनके कारण उसे कभी आत्म-ग्लानि हुई थी। सोचते-सोचते उसे पता चला कि जब वह एक बार अपनी किशोरावस्था में अपनी भाभी के पास सटकर सोया हुआ था तो उसे कामवासना जागृत हो गई थी। इस बालक को किसी प्रकार के काम-कृत्य के पूर्व ही वीर्यपात हो गया। फिर उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। बालक की नैतिक बुद्धि प्रबल तो थी ही, वह बहुत अधिक आत्म-भर्त्सना करने लगा। इसके बाद उसने भाभी के पास सोना तो दूर रहा उससे बोलना तक छोड़ दिया था। उसे एकाएक ज्ञात हुआ कि पटाका जननेन्द्रिय का प्रतीक है और उसका छोड़ना वीर्य-स्खलन का। वास्तव में होली के अवसर पर, विवाह के समय, लोग अनजाने पटाके और बन्दूक इसलिये ही छोड़ते हैं कि इनसे उनकी काम-वासना की प्रतीक रूप से तृप्ति होती है। स्वयं रोगी अपनी उक्त वेदना को तथा उसकी समाप्ति के अनुभव को निम्नलिखित शब्दों में लिखता है—

परीक्षा के एक मास पूर्व ही मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं हृदयरोग से पीड़ित हूँ और मेरी मृत्यु निकट भविष्य में निश्चित है। किसी भी क्षण मेरी मृत्यु हो सकती है। जहाँ

कहीं किसी की मृत्यु के बारे में बात-चीत होती थी अथवा जब मैं समाचार पत्रों में हृदयरोग से मरे व्यक्तियों के विषय में पढ़ता था, तो ये सब मेरी मृत्यु के सूचक प्रतीत होते थे। किसी से बात करते, कहीं बाहर बाजार जाते अथवा सोते समय मुझे ऐसा आभास लगता था कि फिर मैं लौटनेवाला नहीं हूँ, बीच ही में समाप्त हो जाऊँगा। कहीं भी जब मैं बाहर एक दो घंटे के लिए जाता था, तो अपनी स्त्री और बच्चे से खूब मिलकर जाता था कि शायद फिर मुझे इनसे मिलने का अवसर न मिले।

परीक्षा समाप्त होने के बाद मेरे रोग ने दूसरी सूरत पकड़ी। परीक्षा के ठीक बाद ही होली का सुअवसर था। मैं जल्दी से घर की ओर इस आशय से बढ़ा कि मैं अपनी स्त्री और बच्चे से इस अवसर पर मिलूँ और उनके त्यौहार को सफल बना दूँ। शायद भविष्य में भगवान उनके साथ फिर हिलने-मिलने का अवसर ही न दें। पर वहाँ एक दूसरी ही समस्या मेरे सामने खड़ी हो गई, जो और भी भयंकर थी। किसी भी क्षण मेरी मृत्यु हो सकती थी। इस कठिन परिस्थिति का अनुमान दूसरा कोई नहीं कर सकता। बात यह थी कि ज्योंही गाँव के बच्चे पटाखे की आवाज करते थे, मुझे ऐसा जान पड़ता था कि हृदय अभी-अभी बैठ जायगा। दिल में उस पटाखे की आवाज के साथ ऐसा झटका लगता था कि अब मेरा काम तमाम हो जायगा। आपको विश्वास न होगा कि होली के दो दिन का त्यौहार मैंने गाँव से बहुत दूर मैदान में बिताया, जहाँ पटाखे की आवाज न सुनाई देती थी। मैं दार्शनिकता की आड़ में सदा गाँव से दूर निर्जन भूमि पर अपना समय गुजारता था। नौ-दस बजे रात को जब गाँव के सभी

बच्चे पटाखा छोड़ना बन्द कर देते थे, तभी मैं गाँव के भीतर घुसता था। फिर भी मैं अपने कानों में उँगलियाँ डाले रहता अथवा रूई भर लेता था। घर पर सदा उदास बैठा रहता। माँ, पिता जी और मेरी स्त्री बार बार पूछते कि तुम क्यों उदास हो और क्यों बाहर-बाहर घूमते हो। मैं होलिकादहन के अवसर पर गाँव से दूर एक मन्दिर की सहन पर बैठा अपने रोग का कारण ढूँढ़ रहा था। पर फिर भी वह मुझे ज्ञात न हो सका। अपनी मृत्यु किसी भी क्षण आयी समझ कर मेरे हाथ में चौबीसों घंटे गीता-माता रहा करती थीं। रामायण का पाठ मैं हरदम किया करता था और भगवान की मनोहर मूर्ति प्रतिक्षण मेरे सामने रहा करती थी कि न जाने कब प्रभु की कृपा-दृष्टि मेरे ऊपर हो जाय।

अन्त में होली के बाद मुझे दूर गाँव से शुक्लजी की शरण में आना पड़ा। मैंने भी समझा कि विना गुरु के ज्ञान हो नहीं सकता है। मैं हृदय पर हाथ रखकर, राम राम जपते, झोले में गीता की पुस्तक लिए बनारस की ओर चल पड़ा। आधे रास्ते पर पहुँचते ही गुरु-कृपा हुई और मेरे मन में यह अन्तर्दृष्टि आ गई। अपने रोग के लक्षणों पर ध्यान देने के उपरान्त बात बिलकुल स्पष्ट हो गई। मेरा बाँया हाथ सदा मेरी छाती की दायीं ओर रहता था और मैं वहीं सहलाता रहता था; इससे निम्नलिखित घटना याद आई:—

जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था, तो अपनी भाभी के स्तन पकड़ा करता था, इससे मेरे हृदय में धड़कन और भय दोनों साथ-साथ होते थे। जब कभी अधिक देर तक स्तन पकड़ने का अवसर होता था तो वीर्यपात भी हो जाता था। कभी-कभी मैं वीर्यपात का दमन करता था। यह बात तो मेरे हाथ की

सांकेतिक चेष्टा से व्यक्त हुई। इसी से मेरे हृदय में धड़कन भी होती थी। हृदय की चोट की बात जहाँ तक है, वह पटाखे की आवाज से स्पष्ट हो जाती है। मुझे पटाखे और विशेषकर उस पटाखे की आवाज से अधिक भय था, जो नकली बन्दूक से छूटते थे। इससे मेरे मन में यह सूझ आई कि ये पटाखे जननेन्द्रिय के प्रतीक हैं और उनका छूटना वीर्य-स्खलन का। ज्योंही मेरे मन में ये सब विचार आए, त्योंहीं ही मेरा रोग दूर हो गया। हृदय की जो पीड़ा पटाखे की आवाज से होती थी, वह दूर हो गयी। काशी पहुँचने पर गलियों में कई बार जोरों का धड़ाका हुआ, जिससे कान के पर्दे फट जायँ, पर मेरे हृदय में चोट न लगी। मेरा रोग सर्वदा के लिए गायब हो गया।"

मानसिक वेदना का रेचन

कभी-कभी रोग से सम्बन्ध रखने वाली घटना रोगी के बचपन के उस समय की होती है जब कि रोगी को साधारण बातों को स्मरण रखने की शक्ति ही नहीं होती। हमने अपने प्रयोगों में देखा कि रोगी को मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में तीन साल तक के अनुभव याद आजाते हैं और इनके याद आने से रोग की समाप्ति हो जाती है।

आज से छै महीना पूर्व एक कालेज का लेक्चरर हमारे पास इस रोग से पीड़ित हो कर आया कि वह ठीक से सो नहीं पाता। सोने पर उसे भयावने स्वप्न आते हैं। वह कभी-कभी कुछ डरावने दृश्य देखकर जोर से चिल्ला उठता था और कभी-कभी बिस्तर से उठ कर इधर उधर भागने लगता था। इस प्रकार की मनोदशा के कारण वह सदा प्रकाश जलाकर ही अपने कमरे में सोता था। इस व्यक्ति को मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया

गया। इस अभ्यास में उसे तीन वर्ष की अवस्था के भयावने दृष्य याद आये।

जब रोगी तीन वर्ष का बालक था तो इसके घर में बहुत बड़ी चोरी हो गई थी। इस चोरी में घर के गहने और वस्त्र सभी चले गए। पीछे पुलिस ने इसकी खोज बीन की। इसके लिये पुलिस घर के नौकरों को ही बहुत पीटती थी। एक बार बालक के देखने में एक ऐसे व्यक्ति को बहुत ही पीटा गया जो रिस्ते में बालक का मामा था और जो उस बालक को खेलाया करता था। उसकी भीषण पीड़ा बालक के मन में बैठ गई। बालक जिस व्यक्ति को प्यार करता है अपने उस प्यारे व्यक्ति की पीड़ा उसी की पीड़ा बन जाती है। उक्त घटना बालक के चेतन मनसे लुप्त हो गई, परन्तु उसके अचेतन मन में वह वर्तमान थी। वह अपनी अचेतन अवस्था में बार-बार उस वेदना को अनुभव करता था जो उसके मामा को पुलिस के पीटने से हुई थी। इसी के कारण वह चिल्लाता और इधर-उधर भागता था। जब रोगी को उक्त घटना याद आई तो उसका रोग समाप्त हो गया। रोगी का आत्म-सम्मान का भाव उपर्युक्त स्मृति को सदा दबाते रहता था। यह सब मारने-पीटने का कार्य रोगी के पिता के आदेश से ही पुलिस ने किया था। ये रेलवे के बड़े कर्मचारी थे। अपनी धन-प्राप्ति के लिये दूसरों पर क्या बीत रही है, यह नहीं सोचते थे। परन्तु जिस व्यक्ति की नैतिक धारणायें प्रबल होती हैं वह इन बातों को पाप ही मानता है। अपने पिता के इस पाप-कृत्य को भुलाने की इच्छा रखना उक्त रोगी के लिये स्वाभाविक ही थी। रोगी बड़ा आदर्श-वादी व्यक्ति है, अतएव उसे उस पुरानी स्मृति को याद करना बड़ा ही पीड़ा-जनक था। जब स्नेह के वातावरण में उससे आत्म-स्वीकृति कराई गई तो पुरानी घटना उसे याद आई और रोग की समाप्ति तभी हो गई।

इसी रोगी की दूसरी भावात्मक घटना जो उसके रोग का कारण थी, निम्नप्रकार से है—

जब रोगी सात वर्ष का था तो एक नौकर जिसकी उमर सत्रह-अठारह वर्ष की थी उसको खेलाने, इधर उधर घुमाने के लिये लगाया गया। यह इस बालक को दूर-दूर तक भी ले जाया करता था। एक बार वह उसे गणेश जी के एक मन्दिर में ले गया और वहाँ एकान्त देख उसने अपनी जननेन्द्रिय बच्चे के हाथ में पकड़ा दी। यहाँ बच्चा कर ही क्या सकता था। लड़के को इतना डरवा दिया गया था कि इस बात को उसने किसी से न कहा। परन्तु बच्चे को देवस्थान में इस पाप-कृत्य के विषय में भारी आत्म-ग्लानि होती रही। इसकी स्मृति उसके आत्म-सम्मान को ठेस लगाने वाली थी, अतएव वह उसे भूल गया। परन्तु उसके परिणाम बने रहे। जब पुरानी स्मृति उसे याद आई तो उसकी मानसिक बेचैनी समाप्त हो गई।

मनोभावों के रेचन की आवश्यकतायें

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक प्रयोगों की यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि दमित भावों का रेचन रोगी स्वयं के प्रयास से नहीं कर सकता। यदि यह संभव होता तो किसी प्रखर बुद्धि के व्यक्ति को मानसिक रोग ही न होता। मानसिक रोगी बड़ा अभिमानी व्यक्ति होता है। वह अपने आपको महान समझता है। उसके सामान्य जीवन के आदर्श ऊँचे होते हैं। उसकी ऊँची नैतिकता का अभिमान उसके अचेतन मन में भी घर कर जाता है। अतएव कोई ग्लानिकारक स्मृति चेतना के स्तरपर ऐसी मनःस्थिति में आ ही नहीं सकती। बहुत दिन तक रोग द्वारा पीड़ित रहने पर ऐसे व्यक्ति का अभिमान घट जाता है। वह जब दयनीय अवस्था में

आता है तभी दमित स्मृति का चेतना की सतह पर आना संभव होता है।

दूसरी बात उसके चिकित्सक के प्रतिभाव की है। यदि वह चिकित्सक को सन्देह की दृष्टि से देखता है, यदि उसके प्रति रोगी का शरणागत का भाव नहीं है तब भी दमित स्मृति चेतना की सतह पर नहीं आती। रोगी अपने चिकित्सक को परमात्मा के रूप में देखता है तब उसे आत्म-स्वीकृति करना सरल हो जाता है। चिकित्सक में भी अत्यन्त उदारता का रहना नितांत आवश्यक है। जैसे जैसे रोगी आत्म स्वीकृति करे वैसे वैसे उसे प्रोत्साहित करते जाना आवश्यक है। उसका आत्म-विश्वास कदापि कम न होने देना चाहिये, अन्यथा मनो-भावों के रेचन का कार्य समाप्त हो जाता है। इससे प्रेम के भावों का मानसिक रोगों के उपचार में महत्व स्पष्ट हो जाता है। जो चिकित्सक रोगी को जितना अधिक प्यार करता है वह रोगी को उतना ही लाभ पहुँचाता है। यदि रोगी और चिकित्सक में हृदय की एकता है तो रोगी को चिकित्सक के समीप जाना भी आवश्यक नहीं होता। वह उसकी कल्पना मात्र से लाभ उठा सकता है और अपने जीवन का नव निर्माण कर सकता है। जिस प्रकार एकलव्य द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उससे शिक्षा लेकर एक भारी धनुर्धारी बन गया इसी प्रकार चिकित्सक के प्रति अनन्य भक्ति रहने से मनुष्य न केवल मानसिक रोगों से मुक्त हो जाता है वरन् वह अपने जीवन में आमूल परिवर्तन कर सकता है।

प्रेम के भावों से मुक्त होकर हम जिस व्यक्ति का बार-बार चिन्तन करते हैं उसका व्यक्तित्व हमारे अचेतन मनमें बैठ जाता है। इस प्रकार हमारा उससे सर्वथा तादात्म्य हो जाता है। इससे मनुष्य उसी प्रकार का व्यक्ति बन जाता है जिस प्रकार के

व्यक्ति का वह स्नेह-युक्त भावों से चिन्तन करता है। यदि कोई व्यक्ति अपने चिकित्सक को पूर्ण स्वस्थ और भला मानता है तो वह उसके चिन्तन मात्र से स्वस्थ और भला बन जाता है। उसके मन के भीतर रहने वाला विष अपने आप ही बाहर निकल कर समाप्त हो जाता है। भगवान को अवतार के रूप में मानकर उसकी भक्ति के द्वारा शान्ति-लाभ करने का मनोवैज्ञानिक रहस्य यही है। जो व्यक्ति राम को सभी प्रकार पूर्ण मानकर कहता है—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभी प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।

ऐसा व्यक्ति राम-रूप ही हो जाय तो आश्चर्य ही क्या! राम सभी प्रकार के गुणों के आगार हैं। वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। अतएव मानसिक विकार उनकी उपस्थिति में ठहर ही नहीं सकता। गुरु का और राम का विचार प्रेम के भावों से ओत प्रोत रहने से किसी प्रकार की आत्म-स्वीकृति में तथा मानसिक रोगों की समाप्ति में बहुत ही सहायक होता है।

प्रकरण ५

मानसोपचार में पुनः-शिक्षा

पुनः-शिक्षा क्या है ?

मानसिक रोग की उत्पत्ति मनुष्य के प्रबल मनोभावों के दमन से होती है। जिस व्यक्ति की बचपन की शिक्षा अत्यधिक आदर्शवादी होती है, उसके मनोभावों का वैसा ही दमन होता है। पुनः-शिक्षा का कार्य रोगी के आदर्श का निर्माण नहीं वरन् उसके आदर्शों को व्यवहार्य बनाना है। आदर्शवादिता मनुष्य को अपनी कमजोरी के ज्ञान से वंचित रखती है। अतएव मनुष्य इससे मुक्त नहीं होता। फिर उसके आदर्श और व्यवहार में एकता नहीं रहती। वह अपने अनजाने अथवा अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने आदर्श के विरुद्ध आचरण करता है। किसी भी प्राकृतिक मनोभाव की आत्म-स्वीकृति न करने से वह एक ओर विकृत हो जाता है और दूसरी ओर इतना प्रबल हो जाता है कि मानसिक विभाजन तथा मानसिक रोग की स्थिति उत्पन्न कर देता है। जिस मनोभाव का जितना ही दमन किया जाता है, वह उतना ही प्रबल और बुरा बनते जाता है। यही मनोभाव रोग में प्रकाशित होता है। पुनः शिक्षा का कार्य इन दमित भावों को चेतना के स्तर पर आने की सहूलियत देने का है।

रोगी का आदर्शात्मक मन उसके उन मनोभावों का दमन करते रहता है, जो उसके जीवन के आदर्श के प्रतिकूल होते हैं।

वह इनसे सम्बन्धित स्मृतियों को भी दबाते रहता है। मनुष्य की भावात्मक स्मृतियाँ जितनी ही प्रबल होती हैं, उसे अपने आदर्शात्मक स्वत्व को अर्थात् दमनात्मक स्वत्व को उतना ही प्रबल बनाना पड़ता है। इस तरह अत्यधिक आदर्शवादी मनुष्य का मन विभाजित अवस्था में रहता है। जबतक मनुष्य के आदर्शवादी मन में इतना परिवर्तन नहीं हो जाता कि वह भोगवादी प्रवृत्तियों को अपने स्वभाव का अंग मान ले, तबतक मानसिक विभाजन की अवस्था का अन्त नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को वे घटनायें याद नहीं आतीं जिनके कारण उसे मानसिक रोग हुआ। अतएव मानसिक चिकित्सक का सबसे महत्त्व का कार्य मनुष्य के आदर्श में इस प्रकार का परिवर्तन लाना है, जिससे वह अपनी भोगेच्छाओं को असाधारण न मानकर सामान्य मान ले और उन्हें अपने जीवन का अनिवार्य अंग जाने। यह पुनः-शिक्षा का कार्य बड़ा ही जटिल है। किसी मनुष्य के आदर्श का निर्माण करना कठिन है; उससे अधिक कठिन उसके आदर्श और उसकी जीवन-शक्तियों में समन्वय स्थापित करना है, अर्थात् उसके आदर्शों को व्यवहार्य बनाना है। सामान्य आदर्शवादियों की दृष्टि में यह कार्य बहुत कुछ अनैतिक ही दिखाई देगा। रोगी के आदर्श ऊँचे होते ही हैं। वह इनके प्रतिकूल कुछ नहीं सुनना चाहता। वह नहीं जानता कि इन आदर्शों के पीछे खोखलापन है। ये आदर्श उसके नैतिक दिवालियापन को केवल ढाँकते हैं। यदि किसी रोगी को बताया जाय कि वह वास्तव में अपनी कमजोरी को अपने आपसे छिपाता है, तो वह इस ज्ञान के देनेवाले का शत्रु हो जायेगा। नैतिकता का दिवालिया व्यक्ति उच्च नैतिकता धारण करता है और दूसरों द्वारा प्रशंसा सुनने के लिये लालायित रहता है। वह इस प्रकार अपनी कमजोरी को छिपाता है। परन्तु प्रकृति

हमारी किसी कमजोरी को छिपी नहीं रहने देती। वह उसे किसी न किसी प्रकार प्रकाशित करती ही रहती है। अत्युच्च नैतिकतावाले व्यक्ति को बड़े घृणित स्वप्न होते हैं। जब इस प्रकार का स्वप्न होना बन्द हो जाता है तो उसे किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है। रोग मनुष्य का प्राकृतिक शिक्षक है। वह बताता है कि उसकी आन्तरिक मनःस्थिति कैसी है।

मानसिक चिकित्सक का कार्य

जो काम रोग दण्ड के द्वारा करता है, वही काम प्रेम के द्वारा चिकित्सक करता है। परन्तु समय के पूर्व कोई चिकित्सक किसी रोगी की सहायता नहीं कर सकता। जब रोगी का मन अपने रोग से ऊब जाता है तभी वह चिकित्सक की बातों में तथ्य देखने लगता है और फिर उसके आदेशानुसार अपने जीवन में परिवर्तन करने की चेष्टा करता है। रोगी का अपने सिद्धान्तों के साथ भावात्मक सम्बन्ध हो जाता है। वह उनमें सचाई ही देखता है। उनके दोषों के प्रति उसकी दृष्टि ही बन्द हो जाती है। अतएव अगर कोई व्यक्ति इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल कुछ बातें कहे तो वह उसे व्यर्थ ही नहीं, अपितु हानिकारक समझता है। ऐसे रोगी की पुनःशिक्षा अत्यन्त जटिल कार्य है।

हमने अपने मानसिक चिकित्सा के अनुभवों में देखा कि हस्तमैथुन की जटिल आदत उन्हीं किशोर बालकों में रहती है जिन्हें अच्छे नैतिक वातावरण में बचपन से ही रक्खा गया है, जिनके पिता उनके प्रति अत्यन्त सतर्क रहे, और जो स्वयं नैतिकता के बड़े ऊँचे आदर्श रखते हैं। ये बालक जितना ही

अपने आपको हस्तमैथुन के लिये कोसते हैं, यह आदत उतनी ही जटिल होती जाती हैं। वे हजार प्रकार के दृढ़ निश्चय इसके प्रतिकूल करते हैं, परन्तु समय आने पर इसके किये विना नहीं रहते। इससे वे अपने आप पर ही विश्वास खो बैठते हैं। फिर यह आत्म-विश्वास का अभाव उनके दूसरे कार्यों में भी देखा जाता है। उनकी स्मरण-शक्ति कमजोर हो जाती है। वे चित्त की एकाग्रता खो बैठते हैं। अपनें किसी निश्चय पर ही दृढ़ नहीं रहते हैं। सभी लोगों की बातों में उन्हें सन्देह होने लगता है।

ऐसी अवस्था में जब वे कुछ डरावने लेख इस आदत के विषय में पढ़ लेते हैं तब तो उनकी दुर्दशा का ठिकाना नहीं रहता। वे सभी प्रकार के मानसिक रोगों की तैयारी कर लेते हैं। कभी-कभी वे इस आदत को छोड़ने में समर्थ होते हैं तो उन्हें स्वप्नदोष होना शुरू हो जाता है। इससे वे जितना ही डरते हैं वह रोग उतना ही बढ़ते जाता है। कभी कभी यह प्रमेह का रूप ले लेता है। इस अवस्था में मनुष्य को हर प्रकार के रोग, अथवा दूसरी बुराइयाँ अपने में दिखाई देने लगती हैं। ये सभी बातें उस शिक्षा का दुष्परिणाम हैं जो मनुष्य के स्वभाव के सभी तत्वों की अवहेलना कर उसे आदर्श बनाने की चेष्टा करती है। इस व्यक्ति को अब ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे वह अपने को देवता न मान कर सामान्य व्यक्ति ही माने। इसके लिए उसके उन दबे भावों को चेतना के स्तर पर लाया जाता है जिनके कारण उसके मन में खिंचाव उत्पन्न हुए।

अत्युच्च आदर्शवादिता और मानसिक रोग

मानसिक रोग अत्युच्च आदर्शवादिता का सहगामी है। मानसिक रोगी को अपने चरित्र की आलोचना असह्य होती है।

अपने आन्तरिक मन की स्थिति को समाप्त किये विना उसका रोग समाप्त नहीं होता। पुनः-शिक्षा का कार्य रोगी के झूठे अभिमान को हटाना और उसमें आत्म-विजय प्राप्ति की क्षमता उत्पन्न करना है। इस प्रसंग में हमारी शिक्षा में आये दो एक व्यक्तियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं।

आज से एक साल पूर्व हमारे पास एक १८ वर्ष का नवयुवक आया। उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल हस्तमैथुन करने की आदत थी। उसका कहना था कि जब मैं किसी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में यह जान लेता हूँ कि उसे यह आदत है तो उसे बहुत घृणा करता हूँ, परन्तु मैं स्वयं उसमें पड़ा हूँ। यह व्यक्ति बड़ा सदाचारी है। उसके माता पिता भी उसे सदाचारी ही मानते हैं। वह स्वयं किसी प्रकार के अन्य व्यभिचार को अपने में नहीं देखना चाहता। एक बार उसके बड़े भाई ने उसकी माँ से उसके सुनने में कहा कि वह किसी पड़ोसी की बहू के प्रति प्रेम-दृष्टि रखता है। इसको सुन कर वह तिलमिला उठा और अपने बड़े भाई को शत्रु समझने लगा।

इस युवक को आरम्भ में बड़ी सांत्वना दी गयी। पीछे उसे अपने स्वप्न लिखने को कहा गया। उसने कई स्वप्न बताये। पहले स्वप्न में उसने देखा कि वह अपने कमरे में बन्द है और सभी प्रकार के जंगली जानवर बाहर से चिल्ला रहे हैं और उसके कमरे का दरवाजा भड़भड़ाते हैं। वह उनसे डर रहा है।

दूसरे स्वप्न में उसने देखा कि बहुत से साँप, बिच्छू और गोजर उसके कमरे में विद्यमान हैं। ये सब जगह मौजूद हैं। दीवारों पर नजर डालने से ये ही दिखलायी देते हैं। वह बहुत घबड़ा गया है।

इन दोनो स्वप्नों का अर्थ स्पष्ट ही है। पहला स्वप्न उसका अपने सम्बन्धियों के साथ शत्रुता का भाव व्यक्त करता है। वह न केवल अपने बड़े भाई वरन् अपने माता और पिता से भी द्वेषभाव रखने लग गया था। ये लोग उसे शेर चीते जैसे दिखलायी दे रहे थे। ये इस समय किसी न किसी बात के लिये उसके आलोचक बन गये थे। दूसरा स्वप्न उसका अपने आन्तरिक भावों के प्रति शत्रुता व्यक्त करता है। उसके दमित भाव अब साँप, बिच्छू, गोजर आदि के रूप में परिणत हो गये थे। इन दोनों स्वप्नों पर हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि रोगी को न तो घर के भीतर आनन्द है और न बाहर। उसे न तो अपने सम्बन्धियों की ही मित्रता प्राप्त है और न अपने मनोभावों की। ऐसे स्थिति में व्यक्ति किसी जटिल रोग का आवाहन करने लगता है। इस समय इस रोगी को खाँसी, बुखार आदि रोग हो रहे थे। वह क्षय का भी अभिनय कर रहा था। वह आन्तरिक मनःस्थिति और अपने सम्बन्धियों के व्यवहार से परेशान था अतएव अपने जीवन का ही अन्त करना चाहता था।

स्वप्न द्वारा शिक्षा

रोगी के आगे के स्वप्न बड़े ही विलक्षण थे। ये स्वप्न उसकी पुनः शिक्षा में सहायक हुये। एक दिन रोगी बड़ी निराशा की अवस्था में आया और उसने धीरे धीरे बताया कि उसने स्वप्न में अपने आपको उसी युवती से प्रेमालाप करते पाया, जिसके प्रति प्रेम-दृष्टि रखने का आरोप उसके बड़े भाई ने उसपर किया था। उसने हमसे भी पूछा कि क्या वास्तव में वह इतना पापी है कि वह दूसरे की स्त्री के प्रति भी व्यभिचार की भावना रखता है? जब हमने बताया कि इसमें कोई

अस्वाभाविक बात नहीं है, और इस प्रकार के स्वप्न बड़े बड़े महात्माओं को भी होते हैं, तो उसे कुछ शान्ति मिली। उसे बताया गया कि वह अपने भाई से इसलिये ही अधिक रुष्ट हुआ था कि उसके आन्तरिक मन में वह चोर छिपा था जिसकी ओर भाई ने उँगली उठाई थी। दूसरे लोग हमारी कमजोरियों को सरलता से जान लेते हैं और हम स्वयं उन्हें नहीं जान पाते। इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति से उसे बड़ा लाभ हुआ।

अगले स्वप्न में उसने देखा कि उसके घर का नौकर ही उसकी माँ के साथ व्यभिचार कर रहा है और यह देखकर उसे बुरा नहीं लगता। इस स्वप्न को सुनाने में रोगी को उतनी उद्विग्नता नहीं हुई जितनी पहले हुई थी। इस स्वप्न के पीछे छिपा हुआ अर्थ उसे बताया गया। डाक्टर फ्रायड का कथन है कि पिता पुत्र में संघर्ष माता के स्नेह की प्राप्ति के लिये ही होता है। जब माँ बेटे को पति से अधिक प्यार करती है तो पति को बेटे का शत्रु बना देती है। फिर जब वह पुत्र को छोड़कर पति पर अधिक ध्यान देने लगती है तो पुत्र को ईर्ष्यालु बना देती है। इस व्यक्ति के सम्बन्ध में यही हुआ था। माँ पहले इसे इतना अधिक प्यार करती थी कि उसकी सभी मनचाही बातें करती थी। पीछे जब कुछ समय के लिए किशोरावस्था में बालक को बाहर रहना पड़ा तो माँ का ध्यान बड़े भाई के प्रति और पिता के प्रति चला गया। फिर अब ये दोनों उसे शत्रुवत् दिखाई देने लगे।

उक्त सभी मानसिक प्रतिक्रियायें युवक के अनजाने ही उसके अचेतन मन में होती थीं। उसका चेतन मन उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मानसिक रोग उसे इसलिये ही हुआ था। जब युवक ने अपने मनोभावों को जान लिया तो उसका रोग

भी समाप्त हो गया। फिर अपने सम्बन्धियों के प्रति उसके मनोभाव बदल गये। नौकर का आचरण यहाँ स्वयं के आचरण का ही प्रतीक था।

पुनः-शिक्षा और आत्मोद्धार

मनुष्य की पुनः-शिक्षा के लिए उसे आत्म-ज्ञान कराना नितान्त आवश्यक है। फिर उसमें आत्म-विश्वास का उदय होता है। वह झूठी अथवा दिखाऊ आदर्शवादिता को त्याग कर सच्चे नैतिक मूल्यों को अपनाता है। आज भारतवर्ष में मनोविज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि हम अपनी भौतिक तथा नैतिक कमजोरियों को झूठी आदर्शवादिता से छिपा रहे हैं। इसके कारण हमारे देश में मानसिक रोगों की वृद्धि हो रही है। हमारे धर्मशिक्षक सदा आदर्शों की चर्चा करते हैं, परन्तु उन आदर्शों के अनुसार चलने की शक्ति मनुष्य में धीरे-धीरे ही आती है। एक-ब-एक लादी गई आदर्श-वादिता आत्म-भर्त्सना तथा इच्छाशक्ति की दुर्बलता लाती है। इसी के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। पुनः-शिक्षा का कार्य मनुष्य को आत्म-ज्ञान कराकर आत्म-विश्वास बढ़ाना है तथा उसके आदर्शों को व्यावहारिक बनाना है।

प्रकरण ६

प्रेम चिकित्सा के प्रयोग

मानसिक रोगी की मनोदशा

मानसिक रोगी के मन में अपने ही प्रति प्रबल असन्तोष और घृणा की मनोवृत्ति रहती है। रोगी के स्वभाव का एक अंग दूसरे अंग को शत्रु के रूप में देखता है। रोगी का अहंभाव अपना तादात्म्य उस अंग के साथ कर लेता है जो समाज की दृष्टि में अथवा नैतिकता की दृष्टि में भला समझा जाता है और उसके स्वभाव का जो अंग इस नैतिक अथवा स्वाभाविक अंग के प्रतिकूल समझा जाता है उसे वह घृणित समझने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के मन में देवासुर संग्राम प्रारम्भ हो जाता है। यह देवासुर संग्राम पहले मनुष्य के केवल चेतन मन पर ही होता है, परन्तु इस संग्राम का रूप इतना दुःखद होता है कि मनुष्य इस दृश्य को अपने ज्ञान-चक्षु से अलग कर देना चाहता है। जब यह देवासुर संग्राम मनुष्य की चेतना से हटाया जाता है तो वह मनुष्य के मन के ऐसे स्तर पर होने लगता है जहाँ चेतना की पहुँच नहीं रहती। इस संग्राम के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व शक्तिहीन हो जाता है। उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। उसे किसी कार्य के करने में उत्साह ही नहीं रहता। उसे सदा मानसिक बेचैनी रहती है; अनेक प्रकार के निरर्थक भय और अशुभ भावनाएँ ऐसे व्यक्ति को सताने लगती हैं। कभी कभी इस प्रकार के व्यक्ति को वास्तविक अथवा काल्पनिक शारीरिक रोग पीड़ित

करते हैं। ये रोग रोगी की मानसिक बेचैनी को कम करने के हेतु ही उत्पन्न होते हैं। जब रोगी के आन्तरिक असंतोष की स्थिति असाध्य हो जाती है तब वह शारीरिक रोग के रूप में प्रकाशित होती है। कभी-कभी रोगी का शारीरिक रोग काल्पनिक ही होता है। यदि ऐसे रोगी से यह वास्तविक अथवा काल्पनिक रोग एकाएक छिना लिया जाय तो उसकी स्थिति इतनी बिगड़ जाय कि उसे आत्म-हत्या करने के लिये विवश होना पड़े। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से परेशान व्यक्ति के लिये किसी प्रकार का बाह्य रोग जीने का एक सहारा है। यह वास्तव में उसका मित्र होता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित व्यक्ति को स्वस्थ बनाने के लिये मन की विरोधी भावनाओं में समन्वय स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। यह समन्वय तब तक स्थापित नहीं होता जब तक कि विरोधी भावनाएँ मनुष्य की चेतना के समक्ष नहीं आती। साधारणतः मानसिक रोगी को द्वन्द्व मचानेवाली भावनाओं का ज्ञान ही नहीं रहता। मनुष्य को उसका देवासुर संग्राम क्या है इसी का ज्ञान नहीं रहता। द्वन्द्व करनेवाली भावनाओं में से रोगी स्वयं एक को अच्छा समझता है और दूसरे को बुरा। इसलिये यदि रोगी को अपनी भली भावना का ज्ञान भी हो गया तो उसे बुरी समझी जानेवाली भावना का ज्ञान होना भी बड़ा कठिन होता है। अतएव रोग के उपचार में पहला कार्य रोगी का अपने ही प्रति दृष्टिकोण बदलना होता है।

मैत्रीभाव की स्थापना

रोगी अपने आप से घृणा करने के कारण अपने आसपास अमैत्री और सन्देह का वातावरण बना लेता है। उसका विश्वास

रहता है कि उसका कोई भी सच्चा मित्र नहीं है और सभी लोग उसके छिद्रान्वेषण के लिये तत्पर रहते हैं। यह अपने ही प्रति द्वेष के भाव का बाह्य पदार्थों पर आरोपण है। रोगी से अपने आस-पास के सभी लोगों से मैत्रीभावना का अभ्यास कराकर उसके उक्त दूषित दृष्टिकोण को परिवर्तित किया जाता है। बाह्य वातावरण से मैत्रीभाव स्थापित करने से मनुष्य के आन्तरिक मन में भी मैत्री भाव स्वयं के अनजाने स्थापित हो जाता है। रोगी का मैत्रीभाव पहले-पहल चिकित्सक के प्रति स्थापित होता है फिर चिकित्सक के निर्देशानुसार इस मैत्रीभाव का प्रसार अपने पिता, भाई, स्त्री, भौजाई, तथा पड़ोस के लोगों के प्रति स्थापित हो जाता है। जब रोगी अपनी सभी परिस्थितियों को और अपने वातावरण को अपने प्रति कल्याणप्रद मानने लगता है और रोग को भी अपना मित्र समझने लगता है तब उसके रोग की समाप्ति हो जाती है। वह फिर अपने आपका शत्रु न बनकर मित्र बन जाता है। उसे अपने-आपको समझना सरल हो जाता है। यहाँ कुछ मनोविज्ञानशाला में आये हुए रोगियों के उपचार का वृत्तान्त उल्लेखनीय है।

हृदय के धड़कन की चिकित्सा

आज से ६ माह पूर्व मनोविज्ञानशाला में एक प्रतिभावान् युवक जो काशी विश्वविद्यालय में बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा था, अपने शारीरिक और मानसिक रोग के उपचारार्थ आया। इस रोगी का प्रमुख रोग वीर्यपात संबंधी था। इसके कारण उसे हृदय की धड़कन अकारण ही हो जाती थी। इसके साथ और रोग भी थे। किसी भी घबड़ाहट के समय रोगी को वीर्यपात हो जाता था। इसके अतिरिक्त उसे कुपच,

मन्दाग्नि, चित्त में एकाग्रता की कमी, स्मृति का ह्रास, निराशावादिता, अकारण भय और चिंता आदि रोग भी थे। इस रोगी ने अपनी चिकित्सा के पूर्व अपनी स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है :—

"(१) मुझे जल्दीबाजी के किसी कार्य में वीर्यपात का भय रहता था।

(२) गाड़ी अथवा मोटर पकड़ने के लिये जल्दी करने में, अन्तिम घंटी बजने पर वह चाहे परीक्षा की अथवा कक्षा की हो, वीर्यपात का भय रहता था।

(३) किसी भी व्यावहारिक कार्य करते समय यह भय लगा रहता था जैसे विज्ञान में प्रयोग करते समय, भूगोल में चित्र बनाते समय, प्रयोगात्मक निरीक्षण करते समय।

(४) मुझे बार बार स्वप्न होते थे। स्वप्नदोष से मेरा शरीर इतना दुबला हो गया था कि चार-पाँच वर्ष तक मैंने अपना खुला शरीर किसी को नहीं दिखाया। अपने कपड़े उतारने पर भी मुझे वीर्यपात का भय रहता था।

(५) किसी भी सामाजिक मानदण्ड के प्रतिकूल आचरण करने से अथवा किसी प्रकार की विशेषता आ जाने से वीर्यपात हो जाता था। उदाहरणार्थ, कमीज के ऊपर धब्बा हो जाना, बीच में फटा कमीज पहनना, फटा जूता, पायजामा पहनने से, चप्पल के ढीले होने से, मोजा फटने से, मूँछ ठीक से न कटी होने से। इसके अतिरिक्त सुन्दर कपड़े पहनने पर, सुन्दर रंग की सूट पहनने पर, कंधे पर गलेबंद रखने से, सुन्दर मोजा पहनने से वीर्यपात का भय हो जाता था।

(६) जिस चूल्हे पर मैं भोजन बनाता था यदि उसका मुँह वड़ा हुआ और अग्नि की लपट के बाहर निकलने का भय रहता था तो उससे मुझे वीर्यपात का भय रहता था। वन्द कमरे में यदि एकाएक जोर से शब्द सुन लेता तो वीर्यपात का डर रहता था।

(७) किसी प्रकार की काम में देरी हो जाने पर, जैसे पुस्तकको लौटाने, अखबार को देर तक खड़े-खड़े पढ़ने में वीर्यपात का भय रहता था।

मेरा जीवन इतना विकट हो गया था कि मुझे उठने बैठने में वीर्यपात का भय सदा वना रहने लगा। केवल यही नहीं, मेरे शरीर में ऐसी रसायनिक क्रियायें होती थीं कि अन्न तक नहीं पचता था, कब्जियत बढ़ती जाती थी। भाई साहव के सामने कोई कार्य करने में मुझे विशेष प्रकार का डर लगता था। पत्र लिखते समय वीर्यपात का भय होता था। मैं अपने जीवन से परेशान हो चुका था, मन में आत्महत्या की भावनायें आने लगी थीं।"

उक्त रोगी का रोग सर्वथा मानसिक था, यह केवल मनोवैज्ञानिक उपचार से ही अच्छा हो सकता था। ऐसे रोगी बहुत दिनों तक अपनी वैद्यक अथवा डाक्टरी चिकित्सा कराते रहते हैं, परन्तु इससे लाभ न होकर उनका रोग और भी बढ़ जाता है। अकारण वीर्यपात के रोगों के पीछे किसी न किसी प्रकार की पाप-भावना की मानसिक ग्रन्थि छिपी रहती है। जब तक सहानुभूतिपूर्वक रोगी से बातचीत करके इस ग्रन्थि का निराकरण नहीं किया जाता उसका रोग नहीं जाता। आधुनिक मनोविश्लेषण चिकित्सा पद्धति में रोगी के जीवन का पूरा अध्ययन किया जाता है और उसे बाल्यकाल की स्मृतियों को

चेतना की सतह पर लाने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। ये स्मृतियाँ आत्मग्लानि-जनित होती हैं। या तो ये उसके आत्म-सम्मान को अथवा उसके नैतिक भावना को ठेस पहुँचाती है। इसी के कारण वे सदा एक अज्ञात मानसिक सत्ता के द्वारा दबाई जाती हैं। मानसिक चिकित्सक का कार्य यह है कि वह ऐसे रोगी को अपना स्नेह दिखाकर इन दबी हुई स्मृतियों को चेतना की सतह पर लाने को प्रोत्साहित करे। जितनी दूर तक चिकित्सक अपना प्रेम दिखाकर रोगी को इस कार्य में प्रोत्साहित करता है, वह अपने घृणित भावों को अथवा दुःखद स्मृतियों को चेतना की सतह पर लाने में समर्थ होता है। प्रेम प्रदर्शन से रोगी का आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। जब तक उसका आन्तरिक मन यह निश्चय नहीं कर लेता कि मैं चाहे कितना बुरा क्यों न होऊँ, किसी एक व्यक्ति का स्नेह भाजन बनने योग्य हूँ; और सभी प्रकार की आत्म स्वीकृति के पश्चात् भी उनके स्नेह को नहीं खोऊँगा, तब तक उसके मन में दबी हुई स्मृतियों को चेतना की सतह पर आने की प्रेरणा ही उत्पन्न नहीं होती और प्रयत्न करने पर भी वे स्मृतियाँ चेतना की सतह पर नहीं आतीं। मनोविश्लेषण चिकित्सा में अधिक काल इसीलिये लगता है कि चिकित्सक अपने स्वार्थवश ही रोगी का मानसिक उपचार करता है और ऐसी अवस्था में वह रोगी के प्रति वास्तविक स्नेह दिखाने में असमर्थ रहता है। इस स्नेह के अभाव में न तो रोगी को प्रोत्साहन होता है, न उसकी दबी हुई अनैतिक अथवा दुःखद भावनायें चेतना की सतह पर सरलता से आती हैं। उसकी अप्रिय स्मृतियाँ चेतना के नीचे कार्य करती रहती हैं और मनुष्य के मन को विभाजित अवस्था में बनाये रखती हैं।

उक्त रोगी से स्नेहपूर्वक बर्ताव करने से और उसे प्रेम-

चिकित्सा के मूल तत्व को भली प्रकार समझाने से रोगी की दमित स्मृतियाँ उसकी चेतना की सतह पर आईं। यह रोगी बाल्य काल से ही अपने नजदीक सम्बन्ध की स्त्री से प्यार करता था। इस प्यार ने विषयासक्ति का रूप ले लिया था। रोगी इसके लिये अपने आपको कोसता भी था। परन्तु उसकी कल्पनायें उसके वश में नहीं रहती थीं। इस प्रकार का मानसिक द्वन्द्व कई दिनों तक चला। इसके परिणाम स्वरूप वह मन में अत्यन्त दुखी हो गया। फिर उसे अत्यन्त हठी विचार सताने लगे। इस व्यक्ति ने उक्त महिला से अपना बोलचाल इसलिये बन्द कर दिया ताकि कहीं आवेग में आकर उसके साथ कोई कुकृत्य न हो जाय। प्रेम के स्थान पर अब शत्रुभाव उक्त महिला से स्थापित हुआ तभी से रोग का प्रारम्भ हुआ।

यहाँ इस बात को बताना आवश्यक है कि इस रोगी का उक्त महिला के साथ वास्तविक काम-सम्बन्ध कभी भी नहीं हुआ। उसके मन में कई बार कल्पनायें उठीं, महिला की ओर से भी उसे प्रोत्साहन मिला, परन्तु आपस में शारीरिक मिलन कभी नहीं हो पाया। रोगी की नैतिक भावना सदा भर्त्सना करती रही, अतएव उसे व्यवहारिक काम-कृत्य करने का साहस ही न हुआ। वह पीछे अपने विचारों का दमन करने लगा। फिर इस दमन के परिणामस्वरूप उसे उक्त मानसिक रोग उत्पन्न हो गया। जैसे-जैसे उसके प्राचीन कृत्यों की स्मृति दमित होती गई उसका रोग जटिल होता गया।

जब कोई रोगी इस प्रकार के जटिल मानसिक स्थिति में पड़ जाता है तब उसे इस स्थिति से धीरे-धीरे ही छुड़ाया जा सकता है। अपने पुराने अनुभवों को भुलाने के बदले रोगी को उन्हें स्मरण कराना आवश्यक होता है और धीरे-धीरे ही

उससे आत्म-समन्वय कराया जाता है। मनुष्य अपनी प्रबल प्रवृत्ति को तभी वश में कर सकता है जब वह उसकी चेतना की सतह पर आ जाय। जब तक उसकी प्रबल प्रवृत्ति दबी रहती है तब तक उसकी शक्ति का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मानसिक रोगी अपने आपको अपने किसी कृत्य के लिये घृणा करता है। इस आत्म-घृणा के कारण वह अपने रोग को जटिल बना देता है। वह अपनी पुरानी बातों को किसी के समक्ष कहने की हिम्मत ही नहीं करता। यदि ऐसे व्यक्ति से सहानुभूति पूर्वक व्यवहार किया जाय तो वह अपने आप पर विश्वास करने लगता है।

उपर्युक्त मानसिक रोगी से आत्म-स्वीकृति सहानुभूतिपूर्वक कराई गई। फिर उसे अपनी शक्ति को सदुपयोग में लाने का साधन बताया गया। इस रोगी से निम्नलिखित अभ्यास के लिये सलाह दी गई।

(१) उक्त महिला के प्रति सेवा तथा स्नेह की वृद्धि। इसके लिये वह उसके बच्चों को प्रेम प्रदर्शित करे।

(२) सभी बच्चों के प्रति प्रेम का अभ्यास—उनके खेलों में सहायता देना, पढ़ाना तथा मिठाई देना आदि काम करना।

(३) अपनी स्त्री के प्रति विशेष प्रेम प्रदर्शन करना। उनमें देवत्वभाव की कल्पना करना।

(४) अपनी परिस्थिति को अपने लिये भला मानना, प्रतिकूल परिस्थितियों को शिक्षक के रूप में देखना।

(५) रात्रि में सोने के पूर्व शुभ आत्म-निर्देश देना। सोते समय भले लोगों का ध्यान करना, और सब के प्रति मैत्री भाव करते हुये सो जाना।

(६) दूसरों के प्रति आलोचना की मनोवृत्ति समाप्त कर देना। दूसरे व्यक्ति में गुण की खोज करना।

(७) अपने से अधिक कष्ट में पड़े हुये व्यक्ति की सहायता मनोयोग के साथ करना।

जो मनुष्य सदा अपने रोग का चिन्तन करते रहता हैं और उसकी दवाई के लिये परेशान रहता है वह अपने रोग को और भी बढ़ा लेता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की, रोग मुक्त होने में सहायता करे, तो इससे वह अनायास रोग से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अपने रोग के भय को अपने अन्दर स्थान देता है वह उसे उतना ही भारी बना देता है। मानसिक रोगी में अपने रोग को अत्यधिक महत्व देने की प्रवृत्ति स्वभावतः रहती है। रोग के प्रति उदासीन हो जाना अथवा उसे कल्याणकारी मानना उससे मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

मैत्री भावना का व्यापक अर्थ

इस प्रकार हम देखते हैं कि जटिल रोगों के उपचार के लिये रोगियों से हमें न केवल उन व्यक्तियों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराना पड़ता है जिनसे वे द्वेष करने लगे हैं, वरन् उनके रोग के प्रति भी और प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रति भी मैत्री भाव का अभ्यास कराना पड़ता हैं। इससे मनुष्य का आत्म-भर्त्सना का भाव अथवा अपने को अभागा मानने का भाव समाप्त हो जाता है। रोग मनुष्य को इस प्रकार की अत्म-वेदना से बचाने के लिये ही आता है। जब आत्म-वेदना का कारण समाप्त हो जाता है तब रोग भी समाप्त हो जाता है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जब किशोरावस्था में एक बार कामवासना प्रबल हो जाती है तब उसका एकाएक दमन करना लाभप्रद न

होकर हानिप्रद ही होता है। दमन का प्रारंभ काम-कृत्य-संबंधी घटनाओं के प्रति पाप बुद्धि उत्पन्न होने से होता है। फिर मनुष्य उस वासना से ही घृणा करने लगता है जिसके कारण उसने कामकृत्य किये। इसके बाद मनुष्य अपने आपसे घृणा करने लगता है। कभी-कभी यह घृणा का भाव किसी ऐसे व्यक्ति पर आरोपित हो जाता है जिसने उसे कामुकता में प्रवेश करने को प्रोत्साहित किया। कुछ समय के बाद वह अपनी लज्जास्पद स्मृति को भूल जाता है। किसी प्रकार के अनैतिक कार्य को जब मन भूल जाता है तब दमित स्मृति मानसिक विभाजन की स्थिति उत्पन्न कर देती है। अपनी पुरानी दुःखद स्मृतियों के भुलाने के कारण ही जटिल मानसिक और शारीरिक रोग होते हैं। ये रोग इन दबी स्मृतियों को चेतना की सतह पर लाये विना समाप्त नहीं होते। स्मृतियों को चेतना की सतह पर लाने पर वे प्रवल प्रवृत्तियाँ भी चेतना के समक्ष आ जाती हैं जिनके कारण लज्जास्पद काम किये गये थे। अब ऐसे व्यक्ति के सामने इन प्रवृतियों की शक्तियों को सदुपयोग में लगाने की समस्या रह जाती है। परन्तु अव यह कार्य उतना कठिन नहीं रहता जितना कठिन वह प्रवृत्तियों के दमित होने की पूर्व अवस्था में था। मानसिक रेचन के समय मनुष्य की नैतिकता प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकती है, अतएव मनुष्य अपनी नई समझ की सहायता से अपनी प्रवल पाशविक प्रवृत्तियों को वश में करने में समर्थ होता है। प्रधान समस्या उसके सामने अपने रोग का कारण समझने की रहती है, अर्थात् दबी वासना को पहचानने की रहती है। अधिकतर रोग का कारण समझते-समझते रोग ही समाप्त हो जाता है। रोग के कारण को स्वयं समझना एक बड़ी भावात्मक घटना है। कारण का पहचानना और आत्म-समन्वय स्थापित करना, दोनों एक ही साथ

होते हैं। जबतक रोगी में आत्म-समन्वय की क्षमता नहीं आती, वह रोग के वास्तविक कारण को पहचान ही नहीं पाता। जो व्यक्ति अपना ही शत्रु बना हुआ है वह अपने रोग से मुक्त कैसे हो सकता है। रोग को समाप्त करना और आत्म-मैत्री करना एक तथ्य के दो नाम हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में हम देखते हैं कि प्रेम दमित होकर घृणा बन जाता है। फिर वह आत्मग्लानि का रूप लेता है। यही आत्मग्लानि भयानक रोग बन जाती है। इसको मिटाने के लिये पुरानी स्मृति को जगाना और घृणा के पात्र के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करना आवश्यक होता है। सभी लोगों के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करने से भी रोग नष्ट होता है। इससे मनुष्य की दमित पाप-भावना और आत्म-ग्लानि के भाव नष्ट होते हैं। इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है—

एक युवक को अपनी साली से प्रेम हो गया था। पर प्रेम युवक के विवाह के थोड़े ही काल के बाद से हुआ था। युवक के मन में एक ओर साली से अत्यधिक आकर्षण था और दूसरी ओर उसे इस आकर्षण के लिये आत्म-भर्त्सना भी होती थी। युवक की यह मानसिक अवस्था आठ वर्ष तक बनी रही। साली का विवाह देरी में हुआ, परन्तु विवाह के पश्चात् भी जीजा का उसके प्रति आकर्षण न गया। इस प्रकार के उलझन के परिणामस्वरूप वह युवक, उसकी साली और उसकी स्त्री तीनों कई वर्षों तक बीमार रहे। बीमार होकर युवक को अपने दवा कराने के लिये सालभर ससुराल में रहना पड़ा। यहाँ उसकी रुग्णावस्था में उसकी साली उसकी सेवा शुश्रूषा करती थी। इससे उसका स्नेह और बढ़ गया। परन्तु साली के सेवा से उसे लाभ अवश्य हुआ।

जब साली का विवाह हो रहा था, तब उसके पैरों को विशेष प्रकार के वात रोग ने पकड़ लिया; इसके कारण वह फेरे लेने में अड़चन का अनुभव करती थी। इसके बाद साली को टायफायड का रोग हुआ। इससे उसके बदन का सौंदर्य समाप्त हो गया। उसके सिर के बाल उड़ गये। वह एक बुड्ढी स्त्री जैसी बन गई। रोगी की स्त्री को भी समय के पूर्व ही बुढ़ापा आ गया। हमें उसने अपने जीवन-सम्बन्धी मार्मिक घटनाओं को बताया और इससे उसे पर्याप्त लाभ हुआ।

इस समय रोगी की अवस्था २४ वर्ष की थी। १६ वर्ष की अवस्था से ही साली के प्रति उसका आकर्षण प्रारम्भ हुआ था। प्रारम्भ में इस रोगी को स्वप्नदोष का रोग हुआ। बाद में चलकर इसी ने अकारण भय, चिन्ता, निराशा, मन्दाग्नि का रूप धारण कर लिया। इसका डाक्टरी उपचार कई वर्षोंतक हुआ। रोग सदा घटता बढ़ता रहता था। परन्तु रोगी सर्वथा रोगमुक्त नहीं हो पाता था। उसका किसी रोजगार में मन नहीं लगता था। वह अकारण ही दूकान पर बैठे-बैठे बेचैन हो जाता था। इसके कारण वह एकचित्त होकर कोई काम नहीं कर पाता था। इस रोगी की पुरानी स्मृतियाँ जगाई गईं और उससे मानसिक शैथिलीकरण तथा मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया। इससे रोगी को पर्याप्त लाभ हुआ।

एक दूसरे रोगी को अपनी बाल्यावस्था से ही अपनी मामी से विशेष प्रेम हो गया। पहले तो इस प्रेम ने वात्सल्यता का रूप धारण किया, पीछे किशोरावस्था के पश्चात् यह प्रेम कामुक बन गया। मामी के पास से चले जाने पर उसके अभाव में यह युवक बार-बार मामी के साथ शारीरिक मिलन का स्वप्न देखता था।

उसकी नैतिक बुद्धि अपने इस भावना के लिये भर्त्सना करती थी। इस प्रकार की भर्त्सना से उसकी इच्छाशक्ति, स्मरण शक्ति, तथा चित्त की एकाग्रता का वहुत ह्रास हो गया। उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी हो गये। वह सदा मानसिक परेशानी की अवस्था में बना रहता था। जैसे-जैसे यह रोगी अपनी पुरानी लज्जाजनक बात को छिपाने की चेष्टा करता था उसका शारीरिक व मानसिक रोग बढ़ता ही जाता था।

मानसिक रोगी का दूषित दृष्टिकोण

लज्जाजनक अथवा आत्मग्लानि कारक भावना के मनके अन्त:पटल में उपस्थित रहने से मनुष्य सदा मानसिक परेशानी की अवस्था में रहता है। उसे सभी लोग स्वार्थी और धोखेबाज दिखाई देते हैं। वह किसी बाहरी व्यक्ति से मिलना भी नहीं चाहता। वह सोचता है कि वे लोग उसका अपमान कर देंगे। अतएव वह अपने आपमें ही रमण करता है। बाहरी रूप से वह साधक के समान दिखाई देता है, परन्तु भीतर से उसका हृदय भारी संताप से पीड़ित रहता है। वह इस संताप का कारण संसार की निष्ठुरता में आरोपित करता है। यह वास्तव में अपने आन्तरिक मन की अपने ही प्रति भावना का आरोपणमात्र है। जिस मनुष्य का आन्तरिक स्वत्व ही उसका तिरस्कार करता है उसका बाह्यजगत में सम्मान कौन करेगा ?

हाल ही में हमारे उपचार में एक नवयुवक आया। इस नवयुवक का उपचार हमारे सम्पर्क में आने के पूर्व विजली के झटकों द्वारा मानसिक रोगियों के दो अस्पतालों में हो चुका था। इन अस्पतालों के उपचार में रोगी को बिजली के झटके तथा इन्जेक्सन दिये गये थे। इससे रोगी को कुछ समय के लिये लाभ

हो गया था। परन्तु अस्पताल के बाहर तीन चार महीने के बाद उसका रोग फिर ज्यों का त्यों हो गया था। यह रोगी घर के सभी सम्मानित लोगों को बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखता था। वह महीनों नहीं नहाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी बात के लिये उसे आग्रह करे तो वह उससे बहुत ही क्रुद्ध हो जाता था और उसे मारपीट देता था। रोगी सदा अकेला एक कमरे में बन्द रहता था। किसी से बोलना चालना तो दूर रहा, पेशाब पाखाना के लिये भी वह बहुत कम कमरे के बाहर निकलता था। लेखक ने उसे गर्मी के दिनों में दोपहर को भी इसी बन्द कमरे में पाया। इस कमरे में हवा आने के लिये केवल सामने के दरवाजे थे। रोगी के नख और बाल एक जटाधारी साधु के समान बढ़ गये थे।

रोगी की बौद्धिक शिक्षा भी भली प्रकार से हुई थी। उसने एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। उसने हमारे साथ बड़ी ही सौजन्यता का व्यवहार किया। जैसे-जैसे उसके साथ सम्पर्क बढ़ाया गया वह अपने हृदय को खोलता गया। उसकी कविताओं में रुचि है और वह अपनी किशोर अवस्था में स्वयं कविताओं की रचना करता था। उसकी सर्वप्रिय कविता 'हितैषीजी' की 'अघोर' नाम की कविता है। उसने इस कविता को बड़े ही भावपूर्ण रूप में पढ़ कर सुनाया। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चला कि इस कविता का वह अपने जीवन में अभिनयमात्र कर रहा था। नैतिक और आदर्श स्वत्व के सभी प्रतीकों को वह शत्रुभाव से देखता था।

रोगी बचपन से ही भावुक व्यक्ति था। वह अपनी शैशव और बाल्यावस्था में अपनी भाभी के पास उनके बदन से सट कर सोया करता था। किशोर अवस्था के आने पर उसे भाभी

के प्रति कामुक भावनायें उत्पन्न होने लगीं। इन भावनाओं की वह तृप्ति नहीं कर पाता था। नैतिक शिक्षा अच्छी होने के कारण उसे अपनी कामुकता के प्रति आत्म-ग्लानि होती थी। जब यह आत्म-ग्लानि विस्मृत हो गई तब उसने मेलेन्कोलिया का रूप ले लिया। रोगी अब अपना ही दुश्मन बन गया था।

प्रेमपूर्वक व्यवहार और बातचीत से उसकी दमित स्मृतियों को जगाने पर उसकी मानसिक और शारीरिक दशा में चमत्कारिक सुधार हुआ। इस प्रकार जब रोगी के मन में आत्ममैत्री स्थापित हो जाती है तब उसका रोग समाप्त हो जाता है।

मैत्री भावना द्वारा हठी विचार की समाप्ति

हठी विचार वह विचार है जिसे हम अपने मन से बार बार निकालते हैं परन्तु वह फिर भी आ जाता है। ऐसे विचार के पीछे मानसिक ग्रन्थि रहती है। मैत्री भावना के अभ्यास से इसे समाप्त किया जा सकता है। फिर यह विचार भी हट जाता है। इस प्रसंग में हमारा एक प्रयोग उल्लेखनीय है। यहाँ हम स्वयं रोगी के शब्दों में उसकी अनुभूति को देते हैं—

"मेरा रोग इन्टरमिडियट फाइनल क्लास से प्रारम्भ होता है। जब परीक्षा को करीब एक महीना रह गया था, तब मैं एक हिन्दी की पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ रहा था। पढ़ते-पढ़ते मुझे ऐसा आभास हुआ कि मैं जो कुछ पढ़ता हूँ मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता। मैंने इसकी पुष्टि के लिये उस पुस्तक को फिर से ध्यानपूर्वक पढ़ना आरम्भ किया तो अन्त में मालूम हुआ कि वास्तव में जो कुछ पढ़ता हूँ मेरी समझ में नहीं आता। मैं इससे डर गया। मैं इतना डर गया कि मैं सोचने लगा कि मैं परीक्षा में क्या लिखूँगा जब कि मुझे कुछ याद ही नहीं

होता है। मेरा दिमाग परेशान रहने लगा। मैं पागलों की भाँति इधर-उधर भागने लगा और निश्चय किया कि मैं परीक्षा में नहीं बैठूँगा। किसी प्रकार से परीक्षा में बैठ गया और प्रथम श्रेणी में इन्टर पास किया। अब भी मुझे यही आभास होता था कि जो पढ़ता हूँ मुझे यही याद नहीं होता।

मैंने बी० ए० प्रथम वर्ष में इलाहाबाद युनिवर्सिटी में नाम लिखाया। जब मैं कभी पुस्तक लेकर पढ़ने बैठता तो वह विचार मन में आता कि मैं जो कुछ पढ़ता हूँ मुझे याद नहीं होता और मेरे समझ में नहीं आता। एक दिन की बात है कि मैंने मन में सोचा कि यह सोचना बेकार है कि जो कुछ पढ़ता हूँ मेरे समझ में नहीं आता, तो उसी समय मेरे मस्तिष्क में दूसरा विचार आया कि 'मैं तुमको पढ़ने नहीं दूँगा'। तब तो मैंने कहा कि कभी ऐसा भी मैं कर सकता हूँ, तो फिर कहने लगा कि 'यदि ऐसा ही हो जाय तो', तब मैं बहुत डर गया। अब मैं इतना डर गया कि सोचने लगा कि अब मैं बहुत शीघ्र मर जाऊँगा और इस बीमारी का कोई इलाज नहीं हो सकता।

जब कभी अपने क्लास में पढ़ने जाता जहाँ मेरे साथ लड़कियाँ पढ़ती थीं, तो मेरे मन में आता था कि कहीं उनकी साड़ी न उठा दूँ, उनकी छाती न पकड़ लूँ। जब युनिवर्सिटी से होस्टल लौटता था तो रास्ते में सोचता कि कहीं मोटर से न टकरा जाऊँ। जब कभी ट्रेन में आया करता तो ऐसा होता कि कहीं अपना टिकट बाहर न फेंक दूँ या गाड़ी के पहिये के नीचे न चला जाऊँ। रात के समय जब बाहर जाता और पैर में कोई चीज चुभ जाती तो ऐसा ख्याल आता कि मुझे साँप ने काट लिया है और मैं सोचने लगता मैं बहुत शीघ्र मर जाऊँगा।

दिन मैंने सुना कि मेरे किसी सम्बन्धी की मृत्यु हृदय गति रुकने से हो गयी तो मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि भी मृत्यु हृदय की गति रुकने से हो रही है। एक दिन मेरे पर एक चील बैठा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था तो मैं या कि मेरी मृत्यु शीघ्र होने वाली है, क्योंकि मेरे कुटुम्ब ल का बोलना अशुभ माना जाता है।

ए० फाइनल में मैं शुक्लजी के सम्पर्क में आया और मेरी बीमारी का मनोविश्लेषण किया और उनके अनवरत से अच्छा होने लगा। मैंने बी० ए० की परीक्षा सिर्फ तीन महीना पढ़कर दी और मैं सेकेन्ड क्लास में पास हो। फिर धीरे-धीरे मैं पूरा अच्छा हो गया और मेरा पुराना का अनुभव मुझे एक विलक्षण स्वप्न-सा दिखाई देने है।

इस रोग के निराकरण के लिये मैंने उन लोगों से मैत्री-ना का अभ्यास किया जिन्हें मैं घृणा करने लगा था। जी से बातचीत के बाद मैं मैत्री-भावना का अभ्यास अपने मित्रों के साथ रहकर करने लगा, अपने दोस्तों को प्रेम की ना से देखने लगा, बच्चों को प्यार करने लगा, अपनी स्त्री से करने लगा जिससे मैं बहुत घृणा करता था। अब मेरी स्त्री की साकार मूर्ति बन गई है। मेरे एक घनिष्ठ मित्र को स्ती से कुछ दिन बाद घृणा की दृष्टि से देखने लगा था, अब उनको प्रेम की दृष्टि से देखने लगा हूँ। उनमें मैं ाइयों को ही पाता हूँ। किसी भी दोस्त की नुकताचीनी द्रान्वेषण) नहीं करता, बल्कि उनके अच्छे गुणों को देखता बच्चों को मिठाई देता हूँ। इस प्रकार से मुझे काफी लाभ। धीरे-धीरे मेरा मानसिक समन्वय हो गया।

उक्त व्यक्ति बड़ा सुशील और प्रतिभावान नवयुवक है। उसकी बचपन से लेकर अभी तक की समस्त जीवनी सुनी गई और मुख्य भावात्मक घटनाओं को लिखाया गया। अनेक स्वप्नों का विश्लेषण करके दबी भावना की आत्म-स्वीकृति कराई गई। इस युवक ने जो सचाई अपनी गन्दी से गन्दी भावना को प्रकाशित करने में दिखाई वैसी कोई विरला ही व्यक्ति दिखाता है। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके मन में प्रबल समलिंगी प्रेम-वासना है और इसका दमन होने के कारण वह उसके व्यक्तित्व की शत्रु बन गई है। वह एक ऐसे व्यक्ति को घृणा करने लगा था जिसे वह बहुत ही प्रेम करता था। वह उसे स्वार्थी समझने लगा था। इस प्रकार की धारणा के परिणामस्वरूप वह अपने पुराने जीवन को ही भुलाने लगा। पुराने भावमय अनुभवों की स्मृति को दबानें के परिणामस्वरूप उसका जीवन नीरस हो गया। उसके वदन की प्रसन्नता जाती रही। उसका हँसमुख चेहरा काला पड़ गया। वह किसी को भी प्यार नहीं कर सकता था। अपनी स्त्री से भी वह विमुख रहने लगा। साथ ही साथ उसे अनेक प्रकार की झक उत्पन्न हो गई थी जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। सभी के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास कराके उसके व्यक्तित्व-विच्छेद का अन्त किया गया।

अब इस युवक का उत्साहमय प्रसन्न वदन देखकर किसी भी व्यक्ति को प्रसन्नता हो जाती है।

प्रकरण ८

आत्म-विश्वास का विकास

रोगी की मनोस्थिति

मानसिक रोगी का मन घृणा के विचारों से भरा रहता है। वह जिस प्रकार दूसरों से घृणा करता है, स्वयं से भी उसी प्रकार घृणा करता है। एक ओर वह अत्युच्च आदर्शवादी होता है और दूसरी ओर उसमें प्रबल भोग-प्रवृत्तियाँ रहती है। इनके कारण वह सदा अपने आपको कोसा करता है। अधिक मानसिक रोगी कामवासना के किसी भी प्रकार के प्रकाशन को घृणा की दृष्टि से देखते हैं; परन्तु वे स्वयं ऐसे ही कृत्यों में पड़े रहते हैं जिससे वे अत्यन्त घृणा करते हैं। इससे वे स्वयं को घृणा करते और अपना जीवन आत्महत्या द्वारा समाप्त कर देना चाहते हैं। निराशा और असफलता की मनोवृत्ति के लोगों के मनसूबे ही ऐसे होते हैं जिन्हें प्राप्त करना उनकी शक्ति और सामर्थ्य के बाहर की बात होती है। वे मानों असफल होने के लिए ही अपने जीवन का संचालन करते हैं ताकि वे अपने आपको अधिक से अधिक कोस सकें।

ऐसे लोगों का बचपन आलोचना के वातावरण में बीतता है। रोगी का विश्वास होता है कि उसके घर का प्रधान व्यक्ति, पिता, माँ, बड़ा भाई आदि उसे घर के दूसरे व्यक्ति से कम प्यार करता है। ऐसी अवस्था में वह सोचने लगता है कि संसार के सभी लोग स्वार्थी हैं और बुरे हैं। वह स्वयं भी बुरा है। उसका जीवन व्यर्थ है। ऐसा व्यक्ति जीवन में कुछ चमत्कार करके दिखाना चाहता है। अतएव वह कुछ ऐसे

काम हाथ में लेता है जो उसके कई सम्बन्धी नहीं कर पाये थे। इस प्रकार वह उन्हें नीचा दिखाना चाहता है। जब वह ऐसे काम में असफल हो जाता है तो वह आत्महत्या करने का प्रोग्राम बनाने लगता है। अत्युच्च आदर्शवादिता और आत्म-हत्या के विचार एक दूसरे के पूरक हैं। ये दोनों घृणा के वातावरण में पनपते हैं। ये महान अहंकार के द्योतक हैं और प्रेमहीन वातावरण में बालक के लालन-पालन के परिणाम हैं। प्रेमहीन वातावरण मनुष्य में अहंकार और पर-आलोचना की मनोवृत्ति उत्पन्न करता है। यही मनोवृत्ति फिर अपने प्रति हो जाती है। इसी से मनुष्य निराशावादी बन जाता है। वह फिर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का आवाहन करने लगता है।

अब यदि उक्त प्रकार के रोगी का उपचार करना हो तो आवश्यक यह है कि उसे स्नेह दिया जाय। बालक दूसरों को वही दे सकता है जो स्वयं उसने दूसरों से पाया है। यदि उसने दूसरों से प्रेम पाया है तो वह दूसरों को प्रेम देगा और यदि उसने दूसरों से घृणा तथा आलोचना पाई है तो वह दूसरों को भी वही देगा। यदि वह दूसरों को घृणा न करे तो वह स्वयं को ही घृणा करने लगेगा और अपनी ही आलोचना करने लगेगा। इस प्रकार की मनोवृत्ति के मनुष्य में आत्म-विश्वास नहीं रहता। जो व्यक्ति दूसरों को प्यार नहीं करता, वह उन पर विश्वास भी नहीं करता। वह फिर स्वयं को भी न प्यार करता है और न उसमें आत्म-विश्वास होता है। ऐसे व्यक्ति में आत्म-विश्वास की उत्पत्ति उसे प्रेम दिखाकर की जा सकती है। इस प्रसंग में हमारे यहाँ से लाभान्वित एक मानसिक रोगी की अनुभूति उल्लेखनीय है।

निराशा का विनाश

एक प्रतिभावान युवक जो इस समय एक कालेज का सफल अध्यापक है, लिखता है—

दो वर्ष पहले प्रोफेसर यू० ए० असरानी ने, जो कि बनारस हिन्दू यूनिर्सिटी में भौतिकशास्त्र के अस्टिस्टेन्ट प्रोफेसर हैं, प्रोफेसर लालजी रामजी शुक्ल की चर्चा की और मुझे सलाह दी कि मैं उनके घर जाकर अपनी कमजोरियों के संबंध में उन्हें बताऊँ। जीवन के विषय में मेरे कुछ विलक्षण विचार हैं जैसे, बिलकुल अकेले में रहना, स्त्रियों से घृणा करना, धन की उपेक्षा करना, बड़े भारी वैज्ञानिक और दार्शनिक बनने की इच्छा होना, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संयम लाना, और तानाशाह के समान अनुशासन रखना। मेरे ऐसे विचार व्यवहारिक जीवन में ठीक थे, परन्तु मेरी मानसिक स्थिति बहुत अस्थायी रहती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं सदा उदास रहने लगा और जीवन के सम्बन्ध में मेरी उदासीनता का भाव प्रकट होनें लगा। मैं अपने संस्कारों के विरुद्ध भी था जिसने मुझे कई कठिन अवस्थाओं में बचाया था। बचपन में मैं बहुत अच्छा विद्यार्थी था और सभी कक्षा में प्रथम श्रेणी लाता था। परन्तु इस समय प्रतिदिन मानसिक द्वन्द्व होने के कारण मैं अपने मनकी एकाग्रता को खो बैठा था और यद्यपि मैंने अपनी प्रीवियस एम० एस० सी० की पढ़ाई अच्छी लगन के साथ की थी, परन्तु फिर भी मैं परीक्षा में सबसे कम नम्बर लाया जिसने मेरे मन को बिलकुल तोड़ दिया। उस दिन के बाद मैं बहुत ही उदास और शांत रहने लगा।

एक दिन मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस वर्ष परीक्षा में अच्छी तरह से पास नहीं हुआ तो इसका मतलब यह होगा

कि मैं जीवन में कोई अच्छा काम नहीं कर सकता और उस दिन जब मैं अपने परिणाम को पाऊँगा तो आत्महत्या कर लूँगा। मेरे काम में दिन प्रति दिन कमी आती गई, यद्यपि मैं बहुत अभ्यास और परिश्रम करता था। मैंने अपनी थीसिस के लिये १५ घंटे प्रतिदिन के हिसाब से १ महीने के करीब काम किया और मैंने करीब ५०० पृष्ठों के नोट केवल दो पत्रों के लिये तैयार किये थे। इसके परिणाम-स्वरूप यदि मैंने ब्रह्मचर्य का पालन ठीक से न किया होता तो मैं पागल बन जाता।

एक दिन मेरा एक दोस्त प्रो० लालजीराम शुक्ल से मिलने जा रहा था। मैं भी उसके साथ शहर कपड़ा खरीदने आया। मेरा उद्देश्य उनसे मिलने और बात करने का नहीं था। जब मेरा साथी उनसे बात कर रहा था तो मैंने भी वार्तालाप में भाग लिया। एकाएक मुझे ध्यान आया कि प्रोफेसर असरानी ने मुझे शुक्लजी से मिलने की सलाह दी थी। मैंने उन्हें अपनी कठिनाइयां बताई और पूछा कि क्या वे मेरी कठिनाइयों को सुलझा देंगे। उन्होंने एकान्त में मेरी बातों को सुनना शुरू किया। अपने हृदय को उनके सामने खोलकर रखा, अपनी महत्वाकांक्षाओं और इच्छाओं के संबंध में उन्हें बताया और अपने जीवन के संबंध में भी बताया। अन्त में मैंने अपनी मानसिक कठिनाइयों को उनके सामने रखा। सारांश में वे इस प्रकार थीं—

(१) शादी के संबंध में विरुद्ध विचारों का आना।

(२) समाज की सेवा करने की इच्छा, परंतु वर्तमान अवस्था में समाज से घृणा करना।

(३) जीवन के प्रति उदासीनता और आत्महत्या के विचार का बार २ आना।

(४) मानसिक स्थिरता और एकाग्रता का विनाश ; इसके साथ-साथ स्मृति का ह्रास होना।

आखिरी बात मेरी चिंता का कारण थी, क्योंकि मुझे जीवन में कोई रुचि नहीं थी। उन्होंने मेरी बात में बड़ी रुचि दिखाई और मेरी सराहना की कि तुमने अपने कमजोर विचार मेरे सामने दिल खोल कर रख दिये हैं। उन्होंने मुझे सलाह दी कि सर्व प्रथम मैं सब लोगों से प्यार करना शुरू करूँ। दूसरे मैं अपने जीवन को सर्वशक्तिमान् सत्ता पर छोड़ दूँ और अपने जीवन का सीधा-सादा ढांचा मात्र तैयार कर लूँ, उसे पूर्ण रूप से न बनाऊँ। तीसरे मैं अपने जीवन के अत्युच्च आदर्शों को छोड़ दूँ, मध्य मार्ग को ग्रहण करूँ; अपने जीवन को एकांगी न बनाऊँ।

मैं नहीं कह सकता कि मैंने कितनी लगन के साथ इन बातों को व्यवहार में लाने की कोशिश की। मैंने निम्नलिखित कार्य करने शुरू किये।

(१) मैंने अपनी कक्षा के छात्रों और छात्राओं से मिलना शुरू कर दिया जिनसे पहले मैं बचना चाहता था।

(२) मैं अपने भतीजे और भतीजी को प्यार करने लगा। मैं अपनी भाभी को भी प्यार करने लगा हूँ।

(३) मैं लगन के साथ अपनी पढ़ाई करने लगा, पास करने के लिये नहीं बल्कि अपने को काम में लगाये रहने के लिये मैं पढ़ने लगा।

इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे बहुत कुछ आराम २० दिन में मिल गया।

उक्त युवक ने १२ घंटे रोज पढ़ने के बदले जब अपनी पढ़ाई के लिये केवल ६ घंटे दिये और बाक़ी समय जीवन के दूसरे महत्व के कामों के लिये दिया तो वह अपनी एम० एस-सी० की परीक्षा में प्रथम आया। जब उसने १५ घंटा समय दिया था तो उसका स्थान कक्षा में सब से नीचा था। जब उसने अपने मन को चिन्ता-रहित कर केवल ६ घंटा समय दिया तो वह प्रथम श्रेणी में कक्षा में प्रथम आया। वह बाक़ी समय दूसरे छात्रों को पढ़ाने में, घर के लोगों की सेवा में बिताता था। इस प्रकार मैत्री भावना के अभ्यास से उक्त युवक के जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया।

चिढ़ने की आदत का विनाश

मैत्री भावना का अभ्यास मनुष्य में आत्म-विश्वास की उत्पत्ति करता है। इससे वह शान्त-मन रहता है। दूसरे लोगों की आलोचना से परेशानी नहीं होती। जिन लोगों को ऐसी परेशानी रहती है वे मैत्री भावना के अभ्यास से मुक्त हो जाते हैं। यहाँ एक प्रतिभावान युवक का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है—

अपने कुछ परिचित लोगों से झगड़ा होने के कारण मैं सदा परेशान रहता था। उन लोगों की आवाज मात्र सुनने पर मुझमें विष की सी लहर दौड़ जाती थी। मैं बड़ा आदर्शवादी बनता था, जीवन की बड़ी सुन्दर कल्पना करता था। पर उन लोगों से थोड़ी सी हँसी-मजाक में मैं चिढ़ गया और तुनुक मिज़ाज तथा चिढ़नेवाले को लोग ज्यादा चिढ़ाते हैं। मुझे बड़ा भय मालूम होने लगा। मन अस्थिर हो उठा और सदैव उन्हीं की बातें घूमने लगीं। वे कभी प्रेम से बुलाते तो जलन लगती और एक बार उनके बुलानेमात्र पर मैं गाली-गलौज कर बैठा।

इतना शान्त प्रकृति का बनने का प्रयत्न करने पर भी मैं अपने पथ से विचलित हो गया।

खैर! जब मैं बहुत परेशान हुआ तो मनोविज्ञानशाला में आया। यहाँ स्वामी विशुद्धानन्दजी से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने मुझे हँसकर उन लोगों से क्षमा माँगने के लिए कहा, पर मैंने उन्हें ऐसा करने में अपनी असमर्थता बताई। उनकी यह बात मेरे अचेतन मन पर जम गई और दो तीन दिन में मैंने उन लोगों से हँसकर क्षमा माँग ली, अपनी गलती स्वीकार कर ली। सारा झगड़ा दूर हो गया। दुःखमय संसार सुखमय हो गया। मैंने इस प्रकार सीखा कि अचेतन मन पर बातों का प्रभाव पड़ जाता है, मानसिक स्थिति बदल जाती है और जीवन के दृष्टिकोण भी*।

इस युवक का निम्नलिखित मैत्रीभावना का प्रयोग उल्लेखनीय है–

जब मैत्री भावना के अभ्यास से मैं अपनी मानसिक दुर्बलता

*यह व्यक्ति बड़ा प्रतिभावान युवक है। एक ओर वह भोला-भाला है और दूसरी ओर वह बड़ा बुद्धिमान भी है। वह अपनी परीक्षायें प्रथम श्रेणीं में ही पास करता है। उसमें गुरुभक्ति कूट-कूटकर भरी है। यह बड़ा ही सच्चा और सदाचारी है। जब यह हमारे पास आया तो वह बहुत ही परेशान था। उसकी सभी बातों को सहानुभूतिपूर्वक सुना गया। उसी समय स्वामी विशुद्धानन्दजी भी शाला में आये थे। मैंने इस युवक को उनके समक्ष उपस्थित कर दिया। धार्मिक मनोवृत्ति का होने के कारण उनके वचनों का बड़ा प्रभाव उसके मन पर पड़ा। उसे बताया गया था कि मैत्री भावना का प्रभाव मनुष्य के अनजाने भी उसके मन पर पड़ता है। इससे न केवल इस भावना के अभ्यास करनेवाले को लाभ होता है वरन् जिसके प्रति इस भावना का अभ्यास किया जाता है उसे भी लाभ होता है।

से मुक्त हो गया तो मुझे विश्वास हो गया कि शुभ कामनाओं में भी बड़ा प्रभाव है। निरंतर चिंतन से यह बात हृदय में पूर्णतया जम गयी। मेरे परम प्रिय एवं हार्दिक मित्र श्री दयाशंकर दीक्षित जी को अभी हाल में टौंसिल, जुकाम, बुखार हल्का सा, सिर का दर्द तथा जाँघ का दर्द था। वे जब मेरे पास आए तो उनका दुःख देख कर मुझे कष्ट हुआ। मैंने शिष्टाचारवश उन्हें पानी के कुल्ले तथा नमकीन पानी पीने आदि का कुछ अपना अनुभूत उपचार बता दिया। परन्तु ऐसा करने से उनको विशेष लाभ नहीं हुआ। वे अस्पताल से दवाई लेने लगे। जिस दिन वे दवाई लेने बिरला डिस्पेन्सरी आए तो फिर मुलाकात हुई। उस दिन रात को मैंने लगभग साढ़े नौ बजे दीक्षितजी का स्मरण किया। पर स्मरण में कमी आ जाती थी। कभी हाथ, पैर या धड़, पूरा चित्र आने में बहुत देर लगी। इससे भी मेरी तृप्ति नहीं हुई और मैंने उस चित्र को सजीव बनाने के लिए अपनी उनसे हुई बातों और उनके ज़वाब देने की मुद्रा पर विचार केन्द्रित किया। जब मुझे वे बातें करते हुए सजीव दिखाई दिए, तब मैंनें उनकी उस समय की स्थिति एवं अवस्था पर बिचार किया। मैंने उन्हें सद्भावना भेजी।

दूसरे दिन मिलने पर ज्ञात हुआ कि जाँघ का दर्द नहीं है, कुछ जुकाम आदि में भी लाभ है। पर सिर का दर्द असहनीय है। उसके बाद दूसरी रात्रि को फिर मैंने उनका स्मरण किया और उनके सोने की अवस्था का विचार करके उनके आरोग्य की सच्चे हृदय से प्रार्थना की। पर मुझे उस समय उनके सिर के दर्द का ही ध्यान था। अगले दिन मिलने पर मालूम हुआ कि सिर का दर्द, जुकाम, बुखार समाप्त

है। इस प्रकार क्रमशः तीन चार दिन में वे धीरे-धीरे स्वस्थ होते गए।*

हाँ, तो मेरी इन शुभ कामनाओं के भेजने का एक साधारण सा प्रयोग है। इसकी मुख्य चार बातें हैं :—

(१) जिसको ठीक करना है उससे पूर्ण हृदय मिला हो।

(२) उनके रहन सहन की तथा निवास-स्थान की स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो।

(३) उनका स्मरण चित्र रूप में ही नहीं आए, वरन् वह सजीव होकर बातें करने लगे। चित्र पूर्ण हो।

(४) उनके प्रति शुभ कामना की जाय। ईश्वर से कहें कि उनको अमुक कष्ट है वह ठीक हो जाय। परन्तु उस समय मन में

* उपर्युक्त वृत्तांत से स्पष्ट है कि मनुष्य के मन में उससे कहीं अधिक शक्ति है जिसका उसे ज्ञान है। हम मनुष्य के सम्पर्क में आकर ही नहीं वरन् कल्पना द्वारा उसका मनमें चित्रण करके उसे लाभ पहुँचा सकते हैं। यह शक्ति मन की असाधारण अवस्था में बढ़ जाती है। परन्तु इसका उपयोग हम स्वयं नहीं कर पाते।

कितने ही हिस्टीरिया के मानसिक रोगियों को दूसरों के मन की बात जानने की, दूर की बात जानने की, तथा भविष्य की रूप रेखा बताने की शक्ति रहती है। मानसिक चिकित्सा की अवस्था में वे शक्तियाँ प्रकाश में आती हैं। इस प्रकार की शक्तियां आरोग्य-प्राप्ति कर लेने पर चली जाती हैं। उनका देर तक ठहरना आरोग्य लाभ में बाधक होता है। कुछ लोग इन शक्तियों को देवी-देवता और भूत-प्रेत आदि की शक्तियाँ कहने लगते हैं। वास्तव में वे हमारे आन्तरिक मन की ही शक्तियां हैं। ये शक्तियां अहंकार अर्थात् चेतना के नियंत्रण में नहीं रहती। इनके देर तक रहने से मानसिक विच्छेद की अवस्था बनी रहती है।

सद्भावना पूर्ण मात्रा में विराजमान हो; चमत्कार प्रदर्शन, यश प्राप्ति या अन्य किसी प्रकार के अभिमान की भावना न हो।

नव-उत्साह का जागरण

मनुष्य में आत्म-विश्वास और उत्साह प्रोत्साहन से आते हैं। इनके अभाव में अथवा बार-बार आलोचना होने पर मनुष्य में आत्म-हीनता का भाव आ जाता है। आत्म-हीनता का भाव जब किसी व्यक्ति के मन में घर कर लेता है तो अनेक प्रकार की सफलता प्राप्त करने पर भी वह नहीं जाता। इस प्रकार की मनोवृत्ति से व्याप्त एक नवयुवक का कुछ दिन पूर्व ही शाला में उपचार हुआ। यहाँ उसके अनुभव उल्लेखनीय हैं—

"मैं उन कुछ गिने चुने विद्यार्थियों में से रहा हूँ जिनको अत्यन्त सफल विद्यार्थी कहा जाता है और जिन्हें समाज में एक विशेष प्रकार का सम्मान प्राप्त होता है। मैंने स्कूल से लेकर कालेज तक की हर परीक्षा प्रथम श्रेणी में अच्छा स्थान प्राप्त करके पास की और केवल पढ़ाई में ही नहीं, चरित्र, अनुशासन और नैतिकता में भी मैं सभी विद्यार्थियों से बढ़ा हुआ समझा जाता था और सभी साथी, जाननेवाले तथा अध्यापक भी मेरी ओर एक विशेष दृष्टि से देखते थे, किन्तु मानसिक शान्ति नहीं थी। यह मानना पड़ेगा कि बाहरी दुनियाँ की प्रशंसा तथा मान का पहाड़ भी एक राई के दाने के बराबर आन्तरिक शान्ति नहीं दे सकता; शान्ति तथा सुख का सम्बन्ध भीतर से है न कि बाहर से।

"मेरे जीवन की सबसे बड़ी समस्या, जिसने बचपन से ही मेरे मन की शान्ति को भंग किया और जो समाज में बहुत से नवयुवकों को बेचैन बनाती है, थी—जीवन में एक ठोस दृष्टिकोण की कमी। बचपन से बहुत नजदीकी रिश्तेदारों तथा

कुटुम्बियों से वह विशेष प्रेम न मिलने के कारण, जिसका हर बालक भूखा रहता है तथा बहुत गम्भीर और सोच विचार की प्रकृति होने के कारण मैं हमेशा संसार के कामों और उसके वैभव से असंतुष्ट रहता था। संसार के किसी भी कार्य में दिलचस्पी कदापि नहीं लेता था; कोई कार्य इसलिये करता था कि बोझ उतारना है। यही हाल पढ़ाई में रहता था, सुन्दर से सुन्दर पेपर कर लेने के पश्चात् भी परीक्षा के कमरे से बाहर निकलता था तो रोनी सी सूरत होती थी। इसी बीच में मैंने अध्यात्मवाद पर तथा ब्रह्मचर्य पर कुछ पुस्तकें पढ़ लीं। ब्रह्मचर्य पर बहुत सुन्दर-सुन्दर लेख पढ़ने पर मुझे यह झक सवार हुई कि मैं जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा तथा संसार के लिये कोई बड़ा कार्य करूँगा। विचार तो निश्चित ही उच्च थे, किन्तु कोई पथ-प्रदर्शक कहाँ से आता। इसलिये मैंने पुस्तकों से सहायता लेनी चाही। आयु तथा प्रकृति के नियम के अनुसार काम-वासना का मन में पैदा होना स्वाभाविक था, किंतु मेरे मन में जो पूर्णता का भूत सवार था, वह उनको कहाँ बर्दाश्त कर सकता था। इसलिये काम सम्बन्धी विचारों को दमन करने की कोशिश की और बहुत पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहता था, किन्तु उससे बिल्कुल उलटा परिणाम होता था। मैं दिन प्रतिदिन अधिक दुखी होता गया। मैं किसी लड़के तथा लड़की की ओर नहीं देखता और "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" नामक पुस्तिका में दिये हुए विभिन्न नियमों का पालन करने का प्रयत्न करता, किताब पढ़कर आसन तथा प्राणायाम की कोशिश करता जिससे मुझे स्वप्नदोष होना बन्द हो जाये, किन्तु मैं यह नहीं समझता था कि दमन करके वासनाओं को नहीं जीता जा सकता। केवल यही मेरी गलती थी।

शारीरिक दृष्टि से मैं कमजोर ही हूँ, मानसिक शान्ति को वैसे न प्राप्त कर सकने के कारण मैं अक्सर दुखी और साथही साथ बीमार भी रहा करता था। पेट में गड़बड़, जुकाम इत्यादि मेरे पक्के मित्र हो चुके थे। इसके अलावा आत्मभर्त्सना की आदत पैदा हो गई थी। हर बात पर अपने को कोसना, अपना जीवनही बेकार समझना, अपने को शरीर से निर्बल और व्यवहार में बहुत हीन मानना, यही मेरा स्वभाव बन गया था। हरएक अपरिचित आदमी मुझे बड़ा नजर आता था जिसके सामने मैं अपना व्यक्तित्व लघु समझता था।

यह युवक पहले पाकिस्तान का निवासी था। भारत के बँटवारे के बाद उसे बहुत कष्ट सहना पड़ा था। उसके पिता का स्वर्गवास हो चुका था। उसे भाई-भौजाई पर आश्रित रहना पड़ता था। आत्म-हीनता का भाव इस युवक में बहुत दिन तक रहा। जब उसे पिता का स्नेह शाला से मिला तो उसका आत्म-हीनता का भाव जाता रहा। अपने इस भाव से मुक्त होने के अनुभव के विषय में युवक लिखता है—

मैंने बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में इसलिये प्रवेश किया था कि मैं स्वर्गीय मालवीयजी का बहुत भक्त था और सोचता था कि अब भी यूनिवर्सिटी में कुछ विभूतियाँ हैं जिनके जीवन में मालवीयजी की ज्योति है। एक साल बीत गया, मुझे काशी में आने का वास्तविक लाभ नहीं हुआ। मैंने बहुत से मन्दिर देखे, किन्तु मेरी काशी यात्रा बिल्कुल अपूर्ण तथा व्यर्थ थी। आखिर सौभाग्य से कुछ मित्रों के साथ एक इतवार को यूनिवर्सिटी से शहर जा रहा था कि रास्ते में उन्होंने कमच्छा में मनोविज्ञान के एक प्रोफेसर साहब से मिलने की इच्छा प्रकट की। इच्छा न होते हुए भी मैं उनके साथ गया तो वे 'मनोविज्ञानशाला' में

आये। वहाँ प्रो० लालजीराम शुक्ल, एक बहुत सीधे सादे व्यक्ति कुछ नवयुवकों से बातचीत कर रहे थे। हम भी बैठ गये, बहुत ध्यानपूर्वक मैं बातचीत सुनता रहा, जलपान किया किन्तु एक भी शब्द बोला नहीं। मेरे मन में आनन्द का समुद्र उमंगे मार रहा था कि जिस वस्तु के लिये मैं जीवन भर परेशान फिर रहा था आज वह मोती मुझे अकस्मात् ही मिल गया है। उस दिन कुछ बातचीत नहीं हुई, किन्तु मैंने दूसरे ही दिन बहुत हिम्मत करके शुक्लजी को एक पत्र लिखा कि मैं आप से मिलना चाहता हूँ। दो दिन के पश्चात् मैं सवेरे कालेज जाने की तैयारी कर रहा था कि पूज्य शुक्ल जी कमरे पर आ गये और उसके पश्चात् दिन प्रति दिन सम्बन्ध दृढ़तर होता गया, यहाँ तक कि अब शुक्लजी को अपने से अलग समझना मेरे लिये अति कठिन हो गया।

मनोविज्ञानशाला में कुछ बार आने और लोगों से मिलने से ही काफी मानसिक अशान्ति समाप्त हो गई किन्तु मुझे मानसिक शांति को खतम करने और शांति को हमेशा कायम रखने के लिये दो चीजों ने विशेष लाभ पहुँचाया। प्रथम, मनोविज्ञानशाला का सबसे बड़ा सिद्धान्त—प्रेम-चिकित्सा। मैत्री-भावना के अभ्यास से मुझे बहुत कुछ शान्ति प्राप्त हुई और इससे जीवन में एक नया दृष्टिकोण जो कि ठोस और मजबूत है मिला। इसके अलावा मुझे सोते समय 'शैथिलीकरण' करने का आदेश मिला जिसके कारण न केवल मेरे मन की अशांति उस समय के लिये खतम हो गई, बल्कि यह जीवन भर मानसिक शांति प्रदान करने के लिये काफी है। अब भी किसी समय मस्तिष्क पर बहुत खिचाव पड़ने या कोई धक्का लगने पर शैथिलीकरण से तुरन्त मन की स्थिति सुधार जाती है।

मैं समझता हूँ कि मेरा कोई विशेष मानसिक रोग नहीं था। केवल एक-दो ग्रन्थियों के कारण जीवन दुखी था, किन्तु उतनी सी बात होने पर भी मैं अपने जीवन को बेकार समझता था। अब मुझे मनोविज्ञानशाला से जीवन में एक नया उत्साह ही नहीं मिला बल्कि पूरे जीवन के लिये एक नया दर्शन भी मिला। पहिले मन बिल्कुल अशांत रहता, अच्छे परचे होनेपर भी मन दुःखी रहता था, किन्तु अब यदि पेपर एक आध खराब भी हो जाय तो मुझे उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि जब मन शांत हो तो बाहर की सफ़लता या असफलता कुछ नहीं कर सकती। जिस दिन से मैं मनोविज्ञानशाला में गया उसी दिन से मैं अपनी काशी यात्रा को पूर्ण समझता हूँ। यही मन्दिर मेरी आत्मा को सुख और शांति देता है।" ❀

❀ उक्त विद्यार्थी अपनी कक्षा में प्रथम रहनेवाला प्रतिभावान् व्यक्ति था। इसके घर की स्थिति जानने से ज्ञात हुआ कि उसे अपने सम्बन्धियों द्वारा उचित प्रोत्साहन नहीं मिला। प्रेमहीन वातावरण ही उसके हतोत्साह का कारण था। प्रेमपूर्वक व्यवहार करने से उसका रोग जाता रहा। इस विद्यार्थी ने सामान्य परिश्रम करके भी काशी विश्वविद्यालय के बी० ए० और बी० एस० सी० के सभी विद्यार्थियों में प्रथम स्थान पाया। उसने एम० ए० भी प्रथमश्रेणी में पास किया। इस समय वह एक डिग्री कालेज में गणित विभाग का अध्यक्ष है। यह एक ओर अच्छा गणितज्ञ है और दूसरी ओर दार्शनिक भी।

प्रकरण ९

शारीरिक रोगों का उपचार

शारीरिक रोगों का आवाहन

जब मनुष्य का मन असंतोष की अवस्था में रहता है, तो उसे किसी प्रकार का शारीरिक रोग पकड़ लेता है। ऐसी अवस्था में उसका अचेतनमन शारीरिक रोग का आवाहन करता है। कितने ही लोगों को मानसिक असंतोष के कारण स्नायविक दुर्बलता की अनुभूति होती है। कितने ही अपने आप में शक्तिहीनता का अनुभव करते हैं। कुछ लोगों को हृदय की धड़कन हो जाती है और कुछ को सिर की अथवा पेट की पीड़ा होने लगती हैं। ऐसे रोगी अपने आपको किसी कारणवश कोसते रहते हैं। जब इन रोगियों को स्नेह के भाव में रख कर अपनी शंकाओं के समाधान करने का अवसर दिया जाता है, तो उनका रोग अनायास समाप्त हो जाता है। इस प्रसंग में मनोविज्ञान शाला के उपचार से लाभान्वित व्यक्तियों के दो एक अनुभव उल्लेखनीय हैं। इनके कथन बड़े शिक्षाप्रद हैं।

कुपच के रोग का विनाश

एक युवक अपने पेट के रोग के विषय में लिखता है—

सन् १९४५ ई० में मैंने मैट्रिक पास किया था। उस समय मेरा स्वास्थ्य गिरा हुआ था। परन्तु अध्ययन के प्रबल विचार से अपनी शारीरिक कमजोरी का कुछ भी न ख्याल कर कालेज में मैंने एडमिशन लिया। अब मुझे घर से दूर रहना पड़ता

था। यह जीवन का पहला मौका था कि मुझे घर-परिवार को छोड़ कौटुम्बिक सुखों से अलग होकर एक नयी जगह में, जहाँ कि अपने परिचित आदमी नहीं थे, रहना पड़ा। कालेज की पढ़ाई मुश्किल से लगभग तीन महीने तक चल सकी, कारण, कब्जियत के भारी आक्रमण से मेरा स्वास्थ्य दिन-दिन खराब होता जा रहा था। अतः विवश हो अपनी अग्रिम शिक्षा की प्रबल भावना को दबा कर मैं अब घर पर ही रहने लगा, यद्यपि मेरे माता-पिता की ओर से ऐसी कोई बात नहीं पायी गयी कि मेरे अनुकूल व्यवस्था में उनकी असमर्थता साबित हो। वे अब भी मेरी शिक्षा के लिये खर्च इत्यादि देने के लिये तैयार थे, पर मुझे स्वयं अपनी अदूरदर्शिता और हठ के लिये दुःख था। मैंने अज्ञानता के कारण कुसंग में पड़कर बुरी आदतेंसीख ली थीं। उससे भी अधिक दुःख यह कि एक मामूली परिवार के होते हुए, जिसकी आर्थिक स्थिति उतनी बढ़िया नहीं है, वे मेरे इस तरह की खर्चीली व्यवस्था का भार ढोवें। केवल तीन माह की पढ़ाई में दो ढाई सौ रुपये खर्च हुए। यह एक माता-पिता के ऊपर आर्थिक बोझ ही था।

घर पर रहते हुए भी मेरे स्वास्थ्य में कोई परिवर्तन न हुआ, बल्कि हालत बदतर होती गयी। उसी समय मुझे सरकारी यातायात विभाग में अस्थायी नौकरी मिली। उसमें भी मैंने लगभग एक वर्ष काम किया और घर से दूर ही रहा। सरकारी काम खत्म हो जाने पर फिर मुझे घर कुछ महीनों तक रहना पड़ा। स्वास्थ्य शोचनीय स्थिति में था। लगातार कई दिनों तक कब्जियत की शिकायत रहा करती थी। कभी-कभी बुखार रहता और मन सर्वदा चिन्ताग्रस्त रहता। अब भी शिक्षा प्राप्ति की उत्कट इच्छा मुझे दबाव डालती थी। अतः टाईप, टेलीग्राफ सीखने और प्राइवेट इन्टरमिडियेट परीक्षा देने के विचार

से बनारस आया। यहाँ मैंने 'मानसिक चिकित्सा' का अध्ययन किया। यह पुस्तक मैंने अपने आप ही खरीदी थी, क्योंकि मुझे सन्देह हुआ कि सम्भवतः मुझे मानसिक रोग है। यहाँ कुछ दिनों रहने के पश्चात् मैं 'मानसिक चिकित्सा' के लेखक श्रीशुक्लजी के सम्पर्क में आया, जिनके अमूल्य नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक शिक्षाओं का व्यवहारतः पालन किया। इनके आदेशानुसार मैंने इनकी संरक्षता में रह कर लिखने पढ़ने का सब काम जारी रखा। लिखने पढ़ने में लगे रहने के कारण मेरी मानसिक प्रगति के साथ-साथ मेरा स्वास्थ्य भी सुधरने लगा। मन चिन्ता से मुक्त हुआ, पढ़ने में ध्यान लगा, जिसके परिणामस्वरूप मुझे परीक्षा में भी सफलता मिली।

एक मेरी कमजोरी यह थी कि दूसरों, खास कर अपने से बड़े या आयु में बड़े लोगों से मिलने में मुझे संकोच होता था। मुझे मिलने के समय आत्महीनता का भाव होता था इसके कारण मैं उनसे मिल नहीं पाता था। मुझे एक बार क्षय रोग का भी बहम हो गया था और एक बार थूक के साथ खून आ जाने से और भी भय हो गया था। यह भय कुछ समय तक बना रहा। अब मैं पूर्ण स्वस्थ होने का अनुभव करता हूँ।*

---

*इस विद्यार्थी को किशोरावस्था में समलिंगी व्यभिचार का अनुभव हुआ था और उसे रोग के पूर्व हस्तमैथुन की जटिल आदत थी। कुछ पुस्तकों द्वारा उसके कुपरिणाम को मान कर आदत तो छूट गई परन्तु उक्त रोग उपस्थित हो गया था। इससे मैत्रीभावना द्वारा आत्मस्वीकृति कराई गई। जब उसकी पाप-ग्रन्थि का निराकरण हो गया तो यह स्वस्थ हो गया।

शक्तिहीनता का विनाश

शक्तिहीनता का रोग स्नेहहीनता का ही दूसरा नाम है। जो व्यक्ति अनुभव करता है कि उसे अपने अभिभावकों का उचित प्रेम नहीं मिलता वह अपने आप में शक्तिहीनता का अनुभव करता है। कुछ लोगों की यह धारणा वास्तविक तथ्यों पर आधारित रहती है और कुछ को इसका भ्रममात्र होता है। परन्तु भ्रम भी मनुष्य को निकम्मा बनाने में सर्वथा सफल होता है। इस प्रसंग में मनोविज्ञानशाला में आए एक नवयुवक का अनुभव उल्लेखनीय है—

"मैं बहुत दिनों से (५-६ साल से) शारीरिक और मानसिक दोनों तरह की बीमारियों से ग्रसित रहा करता था। इन बीमारियों को दूर करने के लिये मैंने अनेक औषधियों का सेवन किया। लेकिन मुझे कुछ भी लाभ न हुआ। अपनी दशा पर मुझे बड़ी दया आती थी। मैं जीवन से निराश हो गया था। मेरी बचपन से ही बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ थीं, पर अस्वस्थता के कारण मेरी वे आकांक्षाएँ गगन-कुसुम हो गयी थीं। अपने लक्ष्य तक पहुँचने की मुझे बिलकुल आशा न रही। अपनी अस्वस्थता से ऊब कर कभी-कभी मैं आत्महत्या तक कर लेना चाहता था।

मेरे शरीर में कभी-कभी एकाएक कमजोरी आ जाती थी। इतनी कमजोरी होती कि चलना फिरना बिलकुल कठिन हो जाता था। चलने में मालूम पड़ता था कि मैं गिर पड़ूँगा और जब बैठा रहता था तो उठा नहीं जाता था। उस समय शरीर बिलकुल शिथिल हो जाता था। लेट जाने पर भी आराम नहीं मिलता था। यह कमजोरी पहले हाथों में ज्ञात होती और उसके बाद सारे शरीर में व्याप्त हो जाती। कभी सिर्फ एक ही हाथ में

महले मालूम होती, कभी दोनों हाथों में एक साथ या कभी पैरों से ही प्रारम्भ होती। तत्पश्चात् सारे शरीर में फैल जाती। कभी-कभी सिर्फ हाथों में ही चल कर बन्द हो जाती। शेष भाग में कोई परिवर्तन नहीं मालूम होता था। ऐसी अवस्था कुछ देर, एक-आध या दो घण्टे तक रहती थी। तदुपरान्त पुनः स्वाभाविक अवस्था आ जाती थी। मुझे ऐसी बीमारी पर बड़ा आश्चर्य होता था। कई डाक्टर तथा वैद्यों से अपनी दशा बतलाई, पर उन सबों ने यही कहा कि ऐसी तो कोई बीमारी ही नहीं होती है। अतएव इस कमजोरी की तो कोई दवा न हो सकी; हाँ, सामान्य कमजोरी के लिये मैंने कुछ दिनों दवा भी की, पर लाभ कुछ न हुआ। मेरी समझ में कुछ नहीं आता था कि आखिर यह है क्या और क्यों ऐसा होता है।

इसके टिके रहने का समय भी निश्चित न था। कभी आध घण्टे कभी एक घण्टे और कभी दो घण्टे तक भी कमजोरी बनी रहती थी। कुछ दिनों तक तो नित्य प्रति कमजोरी आती थी। कभी तो एक ही दिन में दो बार भी आ जाती थी। ऐसी हालत में मैं बहुत हतोत्साह हो जाता था, कुछ भी नहीं किया जाता था और चुपचाप पड़ा रहता था। यदि कुछ करना रहता तो बड़े मुश्किल से किसी तरह कर पाता।

कभी-कभी शरीर में बड़ी गर्मी ज्ञात होने लगती। नित्य सवेरे सिर गर्म हो जाया करता था। कभी-कभी सिर में भी दर्द हो जाया करता था। कुछ दिनों तक लगातार यह नित्यप्रति किसी-न-किसी समय शुरू हो जाता और कुछ घण्टे रहता। कभी-कभी तो तीन-चार दिनों तक लगातार बिलकुल जकड़ा ही रहता था। रात दिन वैसे ही बना रहता था।

इसके सिवा और भी कई बीमारियाँ थीं। पेट अक्सर गड़बड़ रहा करता था। पाचन क्रिया कभी सुचारु रूप से नहीं होती थी। प्रायः प्रति दिन अजीर्ण हो जाया करता था। कभी पेट में बहुत दर्द भी होता था और कब्जियत भी अक्सर रहती थी।

एक जो और बीमारी थी वह थी धातु दौर्बल्य तथा स्वप्नदोष की। लेकिन स्वप्नदोष इतना अधिक नहीं होता था। थोड़ी सी ही उत्तेजना होने पर कभी-कभी वीर्यपात हो जाता था। इससे मैं बहुत अधिक चिन्तित रहा करता था। इसको सुधारने के लिये भी मैंने बहुत सी औषधियों का सेवन किया लेकिन सब बेकार हुईं। मैं अपने को नपुंसक समझने लगा था। इस तरह अधिक वीर्यपात से मैं बहुत घबड़ाया। इसका कारण यह था कि १३ १४ वर्ष की अवस्था में ही, जब कि मैं मिड्ल स्कूल में पढ़ता था, मुझे हस्त-मैथुन की आदत लग गई थी। पहले तो मैं कुछ समझता न था। दवाओं के सूची-पत्रों में मैंने इसके बारे में पढ़ा तब मालूम हुआ कि वीर्यपात अधिक होनेवाले को टी० बी०, कुष्ट आदि असाध्य रोग हो जाते हैं और मानसिक हालत बिलकुल खराब हो जाती है, स्मरण शक्ति बिलकुल क्षीण हो जाती है। इससे मैं बहुत भयभीत हुआ। मैंने इस आदत को दूर करने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन दूर नहीं कर सका। मैं उपदेश वाक्यों को लिख लिखकर अपने पास रखता था, ताकि मैं इस आदत से मुक्त हो सकूँ। लेकिन आदत छूटी नहीं। चार-पाँच वर्ष तक मैं इससे ग्रसित रहा। मैं अपने आप पर नियन्त्रण रखने की बड़ी चेष्टा करता लेकिन कभी सफल न होता। मुझे बड़ी आत्मग्लानि हुआ करती थी। मुझे विश्वास हो गया कि जब मैं इतना वीर्यपात कर रहा हूँ तो परिणामस्वरूप मुझको कोई न कोई

असाध्य बीमारी हो जायेगी और मुझे अकाल में ही जीवन से हाथ धोना पड़ेगा।

मेरी शादी आज से पाँच-छः वर्ष पहले हो गयी थी। लेकिन अभी तक स्त्री मेरे यहाँ नहीं आती थी और कभी मिलने का मौका भी न मिला था। मुझे बराबर चिन्ता बनी रहती थी कि मैंने अपना जीवन तो बिगाड़ा ही, साथ ही दूसरे को भी बिलकुल चौपट कर दिया। शादी होने के पहले से ही मैं उस बुरी आदत से ग्रसित था। अपनी बीमारी को मैं समझता था। कभी-कभी छाती में दर्द हो जाता था। इसलिये मैं शादी नहीं करना चाहता था। मैं समझता था कि कुछ दिनों के बाद ही तो मुझे इस संसार से चला जाना है, फिर मैं क्यों किसी को दुःखसागर में ढकेलूँ। लेकिन मेरे संरक्षक ने मेरे विरोध करने पर भी आखिर शादी कर ही दी। दूसरी बात यह थी कि मैं चाहता था कि मैं स्वस्थ हो जाऊँ तथा पर्याप्त शिक्षा प्राप्त कर प्रोफेसर बनूँ और मेरी शादी मेरे समान ही पढ़ी-लिखी लड़की से हो, जो मुझे हरेक काम में सहायता कर सके। साथ ही वह सुन्दर भी हो। लेकिन इनमें से कोई भी बात न हुई। मैं अपनी सारी बीमारियों की जड़ हस्तमैथुन को ही समझ गया था।

मेरी स्मरण शक्ति बहुत कमजोर हो गई थी। कक्षा में क्या पढ़ाई हो रही है, मेरी समझ में न आता था। किताबें पढ़ने पर भी कुछ याद न रहता था। इस तरह परीक्षा पास करना भी मेरे लिये बिलकुल कठिन हो गया था। लेकिन मैं प्रारम्भ से मंदबुद्धि नहीं था। बचपन से मिडिल तक मैं वर्ग में सदैव सर्वप्रथम रहा। इसके बाद धीरे-धीरे पतन प्रारम्भ हो गया। नवें वर्ग तक तीसरा नम्बर रहा। इसके बाद स्मरण शक्ति इतनी कमजोर हो गई कि परीक्षा पास करना बिलकुल असंभव सा

प्रतीत होने लगा। मुझे बी० ए०, एम० ए० तक पढ़े लोगों को देखकर अपने पर बड़ी तरस आती और मुझे उनपर बड़ा आश्चर्य होता था कि कैसे वे लोग इतनी परीक्षाएँ पास करते गये।

मेरे मन में सदैव चिन्ता बनी रहती थी। प्रसन्न चित्त रहना मुझे आता ही नहीं था। युद्ध में पराजित हुए सैनिक की तरह मैं रहता था। मैं भी अपने जीवन-संघर्ष में बुरी तरह पराजित हुआ था। मुझे पुनरुत्थान की आशा न रही। आशा की रेखा बिलकुल क्षीण होती गई। मुझे विश्वास नहीं होता था कि मैं अपने लक्ष्य तक पहुँच सकूँगा। वीर्यपात होने के बाद मुझे अत्यन्त आत्मभर्त्सना होती थी। मानसिक बीमारी के बढ़ने पर मुझे कभी-कभी ऐसा लगता था कि मैं पागल हो जाऊँगा। बुद्धि काम नहीं करती थी। सिर में एक विचित्र तरह का अनुभव होता था। सिर जकड़-सा जाता था। सिर में बड़ा भारीपन लगता था।

इन बीमारियों से ग्रसित रहते हुए भी मैंने कभी अध्ययन स्थगित नहीं किया। यद्यपि कुछ समझ में न आता था, फिर भी अवकाश रहने पर पढ़ता ही रहता था। मैं किसी तरह परीक्षाएँ पास कर लेता था।

मेरी आर्थिक हालत अत्यन्त खराब थी। लेकिन मैं घर का उतना दीन नहीं था। घर वाले यदि चाहते तो पढ़ने का पूरा खर्च दे सकते थे। लेकिन घर में चाचाओं की चलती से खर्च मिलने में बड़ी कठिनाई होती थी। वे लोग पढ़ाना चाहते नहीं थे। मेरे पिताजी जीवित हैं, लेकिन उनकी कुछ चलती नहीं। मेरी माता तो बहुत पहले मेरी आठ वर्ष की अवस्था में ही स्वर्ग सिधार गई थीं। मैं मिडिल पास करने के बाद से ही बाहर रहने

लगा। भोजन मुझे सदैव स्वतः बनाना पड़ता था। चाचाओं की हरकत से बड़ा कष्ट होता था। मैं घर में रहता तो वे कभी पढ़ने का अवकाश न देते और खूब काम करवाते थे। साथ ही वे विगड़ते भी बहुत अधिक थे। उनसे मैं बहुत डरता था। मेरे घर का वातावरण बिलकुल कलहमय था। घर में शान्ति नहीं थी। कभी-कभी तो मैं एकान्त में बैठकर रोया करता था और अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाता था। हाई स्कूल पास करने पर मैं बनारस में पढ़ने लगा। तब से घर से बिलकुल खर्च नहीं पाता था। मुझे अपने आप पर निर्भर करना पड़ता था। मैं ट्यूशन छात्रवृत्ति आदि से अपना खर्च चलाता था।

बनारस में दो साल तक रहने के बाद मुझे मालूम हुआ कि मेरी बीमारी डाक्टर नहीं दूर कर सकते, इसको मनोवैज्ञानिक ही अपने नये उपचारों से दूर कर सकते हैं। इस बीच मैंने प्रो० लालजीराम शुक्ल की लिखी मनोविज्ञान पर कई पुस्तकें पढ़ीं। मुझे मालूम हुआ कि वे मानसिक रोगों का उपचार भी करते हैं और बहुत लोगों को फायदे भी हुए हैं। तब से मैंने भी निश्चय किया कि मैं भी अपने रोगों का इलाज उनसे कराऊँ। पर उसके बाद ही जब गर्मी की लम्बी छुट्टी में घर गया तो एक दिन अपने चचेरे भाई से झगड़ा हो गया। उस समय तो कुछ न हुआ। पर पीछे जोर से छाती में धड़कन सी होने लगी। पर वह भी कुछ देर में ठीक हो गयी। दूसरे दिन जब मैं भोजनोपरान्त लगभग १० बजे विश्राम के लिए खाट पर लेटा था तो हठात् छाती में कमजोरी लगने लगी। बोलने की शक्ति बिलकुल समाप्त हो गई। मेरे पास और भी कई आदमी थे। मैं किसी तरह बहुत धीमे स्वर तथा इशारे से प्रकट कर सका कि मेरी हालत बिलकुल खराब हो गई, मैं बोल नहीं सकता, छाती

में बहुत कमजोरी लगती है। तुरन्त मुझे मकरध्वज दिया गया। फलस्वरूप थोड़ी देर के बाद मेरे दिल में शक्ति आने लगी। शाम तक कुछ शक्ति आ गई, पर फिर भी वैसी नहीं।

इसके बाद दूसरे दिन फिर उसी तरह कमजोरी आ गई। बोलना फिर एकदम बन्द हो गया। रात भर वही हालत रही, सवेरे कुछ ताकत आई। तब भी बहुत धीमे स्वर में फुसफुसाहट के तौर पर बोल सकता था। तब से तो हालत बिलकुल खराब होने लगी। सिर्फ छाती में ही कमजोरी नहीं लगती, बल्कि सारे शरीर में। बढ़ते-बढ़ते हालत इतनी खराब हो गई कि मैं बिलकुल हिल-डोल नहीं सकता था, बोल भी नहीं सकता था। किसी का खाट से स्पर्श बर्दाश्त नहीं होता था। किसी तरह की आवाज नहीं सह सकता था। आवाज से मेरी छाती में बड़ी पीड़ा होने लगती थी। ऐसा लगता था कि हार्टफेल हो जायगा और किसी के खाट के स्पर्श करने से दिल में बड़ा धक्का लगता। इससे भी लगता कि हार्टफेल हो जायगा और ऐसा लगता था कि यदि कोई शरीर स्पर्श कर देगा तो शरीर से सभी नसें बाहर निकल जायँगी और प्राण उड़ जायगा। इसी प्रकार की परिस्थितियाँ मुझे कई मास तक घोर त्रास देती रहीं। मेरा एक वर्ष का समय इन दुःखों के राज्य में व्यतीत हो गया। दूसरे साल १९४८ के जुलाई में मैंने पुनः अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। अस्वाभाविक कमजोरी बीच-बीच में आ ही जाती थी। और साथ ही मानसिक बीमारियों से भी परेशान रहता था। तब मैंने प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता प्रो० लालजीराम शुक्ल के पास चलने का इरादा किया। लेकिन मुझे हिचकिचाहट भी बहुत होती थी। सोचता था—इतने बड़े विद्वान क्या मुझसे मिलेंगे? क्या मेरे लिए वे अपना अमूल्य समय बर्बाद करेंगे। इसी

तरह नित्य आने की इच्छा होती, पर साहस न होता। एक दो बार तो घर के दरवाजे तक आकर लौट गया। सोचता था पता नहीं कैसे स्वभाव के व्यक्ति हैं। कहीं हमारी बात सुनकर क्रुद्ध न हो जायँ।

लेकिन एक दिन बहुत साहस करके उनके पास गया। उनसे मिलने और उनके व्यवहार से मैं दंग रह गया। पहले तो उनकी वेषभूषा बिलकुल सादी है। बिलकुल साधारण ढंग से रहते हैं। उनको देख कर पहले तो अनुमान भी न किया कि ये ही उक्त विद्वान् मानसिक रोगों के उपचारक हैं। उन्होंने मेरे प्रति बड़ी सहानुभूति दिखलाई। मेरी सारी बातों को पूछा। उसके बाद बहुत से उपदेश दिये। मानसिक बीमारियों को दूर करने के बहुत से ढंग बता गये। उन्होंने सप्ताह में एक बार अपने पास मुझे आने के लिये कहा। इन दिनों हठात् आनेवाली कमजोरी मुझे नित्य आ जाया करती थी। साथ ही दिमाग में बड़ी उलझन जैसी लगती। चित्त कभी स्थिर न रहता था। पढ़ा-लिखा कुछ भी नहीं जाता था। किसी भी बात को सोच नहीं सकता था। मस्तिष्क में अजीब तरह का लगता था। लेकिन जब उनके पास जाता था तो थोड़ी देर के लिये मन बिलकुल अच्छा-सा हो जाता था। कमजोरी दूर हो जाती। कई बार ऐसा होता कि कमजोरी से चलने की बिलकुल इच्छा न होती, पर बड़ी दिक्कत से किसी तरह जाता। उनके पास पहुँचने पर मैं ताकत महसूस करने लगता और मुझे मालूम होता कि मुझमें कोई बीमारी नहीं है। लेकिन लौट कर आने पर दूसरे दिन या उसी दिन कुछ घण्टे बाद फिर कमजोरी आ जाती।

पहले दिन तो उन्होंने जबानी ही बहुत सी बातें पूछीं; उसके

बाद सब को, जिसको मैं कहने में सकुचाता था, लिख देने के लिए कहा। मैंने घण्टों बैठ कर अपने जीवन की बातें लिखीं। उसके बाद उन्होंने शुरू से अन्त तक याद करके जीवन के सारे संस्मरणों को एक कापी पर लिख कर लाने को कहा। एक सप्ताह बाद मैं लिख कर ले आया। उसके बाद उन्होंने मुझसे कापी पढ़वाई, बीच-बीच में आवश्यक प्रश्न भी करते थे। मैं सब का उत्तर देता जाता था। यद्यपि उन बातों को अब तक मैंने और किसी से नहीं कहा था। सिर्फ उनको अपने रोगों से छुटकारा पाने के लिए कहा। उनमें मुझ को असीम श्रद्धा और विश्वास हो गये।

अन्त में उन्होंने मुझे महत्वपूर्ण दो-तीन बातें बताईं। पहली बात मैत्रीभावना का अभ्यास बताया। उन्होंने कहा कि सब से मित्रवत् व्यवहार करो। सब को अपना मित्र ही समझो। यदि दूसरा तुम से शत्रुता रखता हो तो वह भी तुम्हारे मधुवाणी से तथा अच्छे व्यवहार से खुश हो जायगा और तुम्हारे प्रति भी मित्रता की भावना रखेगा। "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाली भावना अपने में लाने को कहा। साथ ही त्याग करने के लिये भी बतलाया। परोपकार करने के लिये भी बहुत जोर दिया। दुःखियों के दुःख को जहाँ तक हो सके दूर करने के लिये तथा दूसरों के दुःख में दुःखी होने के लिये कहा।

दूसरी बात जो उन्होंने बतायी वह शैथिलीकरण है। इसकी उन्होंने विधि भी बतला दी। इसकी विधि यह बतलाई कि दिन में एक दो बार चित्त लेट कर शरीर को बिलकुल ढीला कर दो और अपने ध्यान को अपने श्वास पर स्थिर करने का अभ्यास करो। इसी बीच सोचना चाहिये कि मेरे अंग ढीले हो रहे हैं; मुझे नींद आ रही है। इस प्रकार का अभ्यास करते करते

तुम सो जाओगे। यह निद्रा बड़ा ही लाभदायक होता है। इससे सभी बीमारियाँ दूर हो जायँगी। तीसरी बात उन्होंने यह बतलाई कि अपनी स्त्री से प्यार करो।

मैं उन्हीं के आज्ञानुसार चलने लगा। मैं घर से दूर था, इसलिये स्त्री से तो प्यार नहीं कर सका। लेकिन तो भी उसके प्रति प्यार की भावना लाने लगा। अब तक मैं उसको प्यार नहीं करता था। पहले तो बड़ी कठिनाई ज्ञात हुई। लेकिन धीरे-धीरे उसके प्रति प्रेमभाव आने लगा। मैं दोनों बातों का बराबर अभ्यास किया करता। सब के प्रति मन में मैत्रीभाव रखने लगा। इसमें भी पहले बड़ी कठिनाई हुई क्योंकि पूर्व संस्कार के कारण हृदय मैत्रीभावना स्वीकार नहीं करता था। उधर शैथिलीकरण का भी दिन में दो-तीन बार अभ्यास करता था। यह भी बहुत कठिन मालूम पड़ता था। मन केन्द्रित होता ही नहीं था। फिर भी निरन्तर अभ्यास करता गया।

उन दिनों तुरन्त तो कोई लाभ न हुआ पर कुछ दिनों के बाद कमजोरी के आने की अवधि बढ़ती गई। अब ज्यादा दिनों के बाद कमजोरी आती। बीच-बीच में उनके पास भी जाता रहा। जब-जब उनके पास जाता वे बड़ी सहानुभूति प्रकट करते और कुशल-क्षेम पूछते तथा उपदेश की बातें बताते और पढ़ने-लिखने की बातें भी पूछते। इस तरह मैं करीब दो महीने तक ऊपर बताई बातों का अभ्यास करता रहा। अधिक दिन हो जाने से अभ्यास करना भूल भी जाता, पर जब याद आता तो कर लेता था।

इन उपायों से मुझे जादू सा लाभ हुआ। हठात् कमजोरी का आना तो बन्द हो ही गया। यह अभ्यास मैंने गत साल जुलाई के बाद से शुरू किया था। इधर कई दिनों

के बाद एक भी दिन कमजोरी नहीं आई हैं। मस्तिष्क में भी भय वैसा नहीं लगता जैसा पहले लगा करता था। स्वास्थ्य भी अब पहले से अच्छा रहने लगा। अभी तो कोई ज्यादा दिन नहीं हुआ है, लेकिन जैसा रुख है उससे मालूम पड़ता है कि मैं अब कुछ दिनों में बिलकुल स्वस्थ हो जाऊँगा। इधर मैंने कोई दवा भी नहीं खाई है। लेकिन फिर भी चंगा मन महसूस करता हूँ।

इस बार मई के प्रारम्भ में वार्षिक परीक्षा के बाद जब घर गया तो स्त्री से मिलने का भी अवसर प्राप्त हुआ। इसके पहले एक बार और दुर्गापूजा की छुट्टी में गया था और उससे मिला था। पर उस बार १०-१२ बार सहवास करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल न होता था। पहले सिर्फ स्पर्श और दर्शन से ही वीर्यपात हो जाता था। मैं बड़ा निराश हो गया था कि उसका जीवन कैसे बीतेगा। मुझे बड़ी चिन्ता रहती थी। साथ ही मुझे भी आनन्द न मिलता था।

पर इस बार वैसी बात न हुई। हाँ, पहली बार अत्यधिक कामावेश के कारण तुरंत वीर्यपात हो गया। लेकिन बाद में ऐसा न हुआ। कई दिनों के बाद तो फिर १०, १५ मिनट तक सहवास का आनन्द ले सका। अब मैं अपने को बिलकुल समर्थ समझने लगा। अब मुझे कभी असफल होने का डर नहीं रहता। इस बार मैंने उससे प्यार से बातें कीं। धीरे-धीरे प्यार का भी अभ्यास करते-करते दो महीने के बाद मैं उसे बहुत चाहने लगा। अब नपुंसकता मुझसे दूर भाग खड़ी हुई।

अब मेरे जीवन में पुनः आशा का संचार हो गया। अब मुझे विश्वास होने लगा है कि मैं अब अपने जीवन में बहुत कुछ सफल हो जाऊँगा। विश्वास है कि आशा का प्रदीप दिनोंदिन

प्रज्ज्वलित ही होता जायगा। अभी दो फायदे मुझे बहुत अधिक हुए हैं—पहली कमजोरी का न आना और दूसरी सहवास की शक्ति। मुझे विश्वास है शेष बातें भी कुछ दिनों में दूर हो जायँगी।

अपनी सुधार की इन बातों के लिये मैं जीवन भर प्रो० लालजीराम शुक्ल का ऋणी रहूँगा क्योंकि उन्होंने अमूल्य समय को मेरी भलाई में लगाने का पूर्णरूप से प्रयत्न किया।*

---

*यह छात्र दस वर्ष पूर्व मनोविज्ञानशाला में आया था उस समय वह बड़ा दुःखी, निराशावादी और आत्मविश्वासहीन था। उसके जीवन में धीरे-धीरे चमत्कारिक परिवर्तन हुआ। अब वह साहसी, प्रयत्नशील और आशावादी बन गया है। वह विश्वविद्यालय की सर्वोच्च कक्षा में पढ़ रहा है। उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी सराहनीय है।

अध्याय १०

भूतबाधाओं का निराकरण

भूतबाधाओं का रहस्य

मनुष्य का व्यक्तित्व एक रहस्यमय वस्तु है। यह अनेक प्रकार के संस्कारों, इच्छाओं और आकांक्षाओं का बना हुआ है। इन विभिन्न प्रकार के संस्कारों में जबतक एकता स्थापित रहती है, तबतक मनुष्य सुखी, स्वस्थ और सबल रहता है। जब इस प्रकार की एकता किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में नहीं होती, तब मनुष्य निर्बल, दुःखी और रोगी हो जाता है। मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल उसके व्यक्तित्व के गठन की दृढ़ता पर निर्भर करता है। जब किसी व्यक्ति का मानसिक संगठन ढ़ीलाढ़ाला हो जाता है, तो उसकी इच्छा शक्ति अपने मनमें उठने वाले असंगत विचारों को रोकने में असमर्थ रहती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की कल्पनायें अभद्र हो जाती हैं और वह अपने मन से इनको समाप्त करने की कितनी ही प्रबल चेष्टा क्यों न करे, इस कार्य में असमर्थ रहता है।

जब कभी किसी व्यक्ति के मन में आने वाले अवांछनीय विचार इतने प्रबल हो जाते हैं कि लाख प्रयत्न करने पर भी उन्हें मनमें आने से रोक नहीं पाता, तो वह हताश हो कर इन विचारों के वश में हो जाता है। वह फिर इन विचारों को अपने विचार न मान कर किसी दूसरे व्यक्तित्व के विचार मानने लगता है। इन विचारों का जनक फिर वह किसी भूत प्रेत को मानने लगता है और फिर वह इस भूत की कल्पना अपने से बाहर करता है। वास्तव में यह दूसरा व्यक्तित्व ही अपने भीतर

उपस्थित रहता है, जो अपने संपूर्ण व्यक्तित्व का एक टुकड़ा होता है और जो विरोधी बन कर प्रधान व्यक्तित्व से लड़ने लगता है। मानसिक रोग की अवस्था में किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनेक टुकड़े हो जाते हैं। ये टुकड़े उसके प्रधान व्यक्तित्व से युद्ध करते रहते हैं। वे प्रधान व्यक्तित्व की आशाओं, आकांक्षाओं के फलित होने में बाधायें उपस्थित करते रहते हैं और उसकी नैतिक भावनाओं को ठेस पहुँचाते रहते हैं। मार्टेन-प्रिस ने अपनी "डिसोसियेशन आफ परसोनैलिटी" नामक पुस्तक में मिस ब्यूशाम्प नामक एक ऐसी महिला का वर्णन किया है जो शरीर में तो एक थी परन्तु जिसके व्यक्तित्व में तीन विभिन्न प्रकार की आत्मायें रहती थीं। ये एक दूसरे का विरोध भी किया करती थीं।

उच्च आकाक्षायें और व्यक्तित्व का विभाजन

मनुष्य का व्यक्तित्व तब कमजोर हो जाता है, जब उसके प्रधान व्यक्तित्व की आकांक्षायें इतनी ऊँची होती हैं कि उनकी प्राप्ति उसकी शक्ति के बाहर होती है। ये आकाक्षायें कभी-कभी लौकिक लाभ संबन्धी होती हैं और कभी नैतिक श्रेष्ठता प्राप्ति की होती हैं। दोनों प्रकार की अति उच्च आकांक्षाओं से मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छाओं का—अर्थात् शारीरिक सुख संबन्धी इच्छाओं का दमन होता है। मनुष्य में शारीरिक सुख की इच्छाओं का रहना उतना ही स्वाभाविक है, जितना लोक संग्रह एवम् समाज सेवा की इच्छाओं का रहना। मानव-जीवन के प्राकृतिक रूप से विकसित होने से शारीरिक सुख की इच्छायें विकसित होकर दूसरों के सुख की चाह में परिणित हो जाती हैं। जब शारीरिक सुख की इच्छायें प्राकृतिक रूप से तृप्त नहीं होतीं, जब उनका दमन क्रूरता से कर दिया जाता है, तो ए इच्छायें

स्वाभाविक न रह कर अस्वाभाविक और पैशाचिक बन जाती हैं। हमारी ही दमित इच्छायें हमारे लिये कठिन-से-कठिन कष्टकारिणी बन जाती हैं। हम यह नहीं जानना चाहते कि ये इच्छायें हमारी ही हैं, अतएव किसी बाह्य-आत्मा पर इन्हें आरोपित करते हैं। यह आरोपण की क्रिया अनजाने होती है। यही मनुष्य का भूत है, जो उसे अनेक प्रकार से त्रास देता है।

काशी मनोविज्ञान शाला में भूत-बाधाओं से पीड़ित हो कर जो अनेक नव युवक अपने उपचार के लिये आते हैं, उनके जीवन-वृत्तान्त तथा अनुभव उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। भूत-बाधायें उन्हीं युवकों को होती हैं, जो बड़े महत्वाकांक्षी होते हैं और जिन्होंने अपनी महत्वाकांक्षा के कारण अपनी शारीरिक सुख संबन्धी इच्छाओं की अवहेलना की है तथा जिनकी इच्छायें विकृत हो कर सर्वथा अनुचित बन गई हैं। उदाहरणार्थ किसी किशोर बालक को अवस्थानुसार काम वासना की जागृति होती है। इस वासना की शक्ति का उपयोग अनेक प्रकार के सामाजिक कार्यों में किया जा सकता है। संगीत, कला, कविता आदि से इस वासना का उदात्तीकरण होता है। जब इस वासना के प्रस्फुरण के लिये कोई मार्ग नहीं रहता, तब इसकी शक्ति पुरोगामी न बन कर प्रतिगामी बन जाती है। काम वासना की पुरोगामिता समवयस्क मित्र के प्रेम में अथवा विषम लिंगी व्यक्ति के प्रेम में होती है। जब इस प्रकार के प्रेम को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता है तब बालक का नैतिक स्वत्व अत्यधिक दमनात्मक बन जाता है। फिर यह वासना पुरोगामी न बन कर प्रतिगामी बन जाती है। बालक के माँ-बाप, अभिभावक और शिक्षक की मान्यतायें हीं उसके नैतिक स्वत्व का निर्माण करती हैं। जिन बातों के लिये

लोग उसकी भर्त्सना करते हैं उन्हीं बातों के लिये वह स्वयम् अपनी भर्त्सना करने लगता है। इस प्रकार की आत्म-भर्त्सना से बालक की काम-शक्ति प्रतिगामिनी हो कर आत्म प्रेम अथवा मातृप्रेम का रूप धारण कर लेती है—अर्थात् बालक अपने स्वरूप पर ही विमोहित रहता है, अथवा माँ के मोह में बधा रहता है। इसके परिणाम स्वरूप वह चेतन मन से अति उच्च आदर्शवादी हो जाता है परन्तु अचेतन मन से पाँच वर्ष का बालक बन जाता है। ऐसे ही व्यक्ति बाह्य क्रिया के रूप में हस्तमैथुन करते हैं और उसके लिये भारी संताप मनाते रहते हैं। मातृप्रेमी अत्यधिक मातृप्रेम के कारण अपने अचेतन मन से पितृ-द्वेषी बन जाते हैं। उनका नैतिक स्वत्व उन्हें यह स्वीकार नहीं करने देता कि वे बड़े ही स्वार्थी और भोगेच्छुक हैं और माँ को ही पत्नी के रूप में देखते हैं। किशोर अवस्था के पार करते करते ऐसे लोगों का व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है—अर्थात् उन्हें भूत बाधायें प्रताड़ित करने लगती हैं।

आज से कुछ मास पूर्व मनोविज्ञान शाला में एक १८ वर्षीय युवक आया। इस व्यक्ति को एक विशेष प्रकार की भूत-बाधा थी। इसके कारण वह घर के लोगों को तंग करता था और उन्हें भार रूप बन गया था। यह युवक एक विश्वविद्यालय का प्रतिभावान् विद्यार्थी था। १८ वर्ष की अवस्था में ही वह एम० एस सी० की अन्तिम कक्षा में भी पहुँच गया था। इसने अपनी सभी कक्षायें प्रथम श्रेणी में पास की थीं। १२ वर्ष की अवस्था में इसने मैट्रिक पास किया। १४ वर्ष में आई० एस सी० तथा १६ वर्ष में बी० एस सी० पास की। विशेष प्रतिभावान् होने के कारण भारत सरकार १००) मासिक इसे स्कालरशिप देती थी। इस विद्यार्थी के मंसूबे बड़े ऊँचे हो गये थे। उसके

माता-पिता उसे आई० ए० एस्० में बैठाना चाहते थे।

उक्त युवक की पढ़ाई में अत्यधिक लगन थी। वह क्षण भर भी अपना समय व्यर्थ खर्च नहीं करता था। कक्षा में सर्वोच्च रहना, यही उसके जीवन का ध्येय बन गया। वह विज्ञान और गणित का विद्यार्थी था। विज्ञान और गणित की जिन कठिन बातों को वह समझ नहीं पाता था उन्हें वह रट कर याद कर लेता था। आई० एस सी० तक तो सब काम ठीक से होता रहा परन्तु बी० एस सी० में आते-आते उसका आत्म-विश्वास कम होने लगा। इसी बीच किशोर अवस्था का आगमन हुआ और उसे संगी-साथियों से संपर्क बढ़ाने की आन्तरिक अनुभूति होने लगी। परन्तु घर का प्रतिबन्ध बड़ा कड़ा था। अतएव इस प्रेम की भूख का विकास न हो सका। उसकी काम-शक्ति पुरोगामी न बन कर प्रतिगामी बन गयी। वह अपनी काम-शक्ति को हस्तमैथुन में खर्च करने लगा। कुछ दिन में इसने जटिल आदत का रूप धारण कर लिया। वह जितना ही अधिक इसे रोकने का प्रयत्न करता वह और बढ़ती जाती। इधर पढ़ाई में भी अब चित्त एकाग्र न होता।

अब इस विद्यार्थी को दो प्रकार के संघर्षों में अपनी शक्ति खर्च करनी पड़ती। एक प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास करनें के लिये और दूसरे वासना को नियंत्रित करने में। इसके कारण उसकी इच्छा शक्ति बिल्कुल दुर्बल हो गई। वह किसी प्रकार बी० एस सी० प्रथम श्रेणी में पास कर सका। एम्० एस सी० कक्षा में दाखिल होते ही उसका आत्म विश्वास जाता रहा। अब वह किसी रोग का आवाहन करने लगा ताकि वह अपनी होने वाली असफलता की शर्म का निराकरण कर सके। उसके मन में भूत प्रेत की कल्पनायें आने लगीं।

एक दिन जब वह अपने कमरे में बैठा था उसने अपने पिता को चिल्लाकर बुलाया और कहा कि एक बुड्ढा उसके कमरे में चला आ रहा है। पिता ने कहा कि कोई भी बुड्ढा यहाँ नहीं है। परन्तु उसे तो कमरे में प्रवेश करता हुआ बुड्ढा दिखाई देता ही था। यह बुड्ढा उसके पिता का चाचा था, जो कि दस वर्ष पूर्व मर चुका था। एक दो बार यह बुड्ढा कमरे तक आकर अन्तर्ध्यान हो गया। बाद को यह उसके शरीर में ही आने लगा। जब कभी यह बुड्ढा उसके शरीर में प्रवेश कर जाता, तो युवक इसी प्रकार बात चीत करता था जैसे कि उसका दादा ही बात कररहा हो। एक बार रात को एक बजे इस युवक के सिर पर एक प्रेतात्मा आ गयी। उसने कहा कि मैं बहुत भूखा हूँ, उसने अनेक प्रकार की मिठाइयाँ माँगीं, जो सभी लायी गयीं। उसने एक सेर के लगभग रसगुल्ला-चमचम आदि खाये। इसके बाद यह प्रेतात्मा उसके शरीर से लोप हो गयी। जब युवक अपने होश में आया तब उसे मिठाई खाने का कोई ज्ञान ही न था, रात को वह भूखा ही सो गया।

इस युवक के सिर पर कभी-कभी दूसरी प्रेतात्मायें भी आती रहती थीं। ये कभी गृहस्थ और कभी संन्यासी होते थे; कभी हिन्दू कभी मुसलमान और कभी पुरुष कभी स्त्री। वे अपने दुःख रोना घर के लोगों के सामने करती अथवा उन्हें तंग करती थीं। इनके बस में हो कर यह युवक कभी घर की चीजें तोड़-फोड़ देता अथवा कभी घर से भाग कर दूर चला जाता था। यह युवक स्वामी विवेकानन्द का भक्त पहले से ही था। कभी-कभी उसे स्वामी विवेकानन्द प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते थे और कभी उसके शरीर में ही समा जाते थे। फिर वह इसप्रकार बात-चीत करता मानो विवेकानन्द स्वयम् बात-चीत कर रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द के प्रसिद्ध चित्र में वे एक विशेष मुद्रा में दिखाये गये हैं। यह व्यक्ति भी इसी मुद्रा को धारण कर लेता था। इस तरह इसके व्यक्तित्व में विभिन्न प्रकार के स्वत्व समय-समय पर उपस्थित होते थे। किसी समय वह भूखे व्यक्ति सा बन जाता था। किसी समय दुःखी महिला तथा किसी समय एक आदर्श व्यक्ति बन जाता था। उसके घर के लोग समझते थे कि उसके शरीर में बहुत सी आत्मायें घुस गयी हैं।

यह व्यक्ति जब मनोविज्ञान शाला में लाया गया तब वह इसी विभाजित मनोदशा में था। यहाँ आने पर उसके विभिन्न स्वत्वों ने आपस में सामन्जस्य स्थापित कर लिया। वह बहुत दिन तक यहाँ मानसिक साम्य की अवस्था में रहा। उसके घर वापस जाने पर मानसिक संघर्ष पुनः प्रारंभ हो गया; परन्तु उसकी मनोदशा अब उतनी बुरी नहीं है, जितनी पहले थी। वह अपनी पढ़ाई लिखाई का काम तो ठीक से नहीं कर सकता, परन्तु वह भूतों-द्वारा त्रस्त भी नहीं होता।

भूतबाधा और हिस्टीरिया

प्रेतबाधा को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में हिस्टीरिया कहते हैं। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक होता है। संसार के सभी देशों में यह रोग पाया जाता है और झाड़-फूँक करके इसकी चिकित्सा करनेवाले लोग भी प्रत्येक देश में पाये जाते हैं। हमारे देश में ऐसे लोगों को ओझा कहा जाता है। जब भूत-बाधा से पीड़ित कोई व्यक्ति ओझा के पास लाया जाता है, तो वह स्वयम् किसी डीह की आराधना करता है। जब यह डीह उसके शरीर में चला आता है तब वह उस भूत को भी बुलाता है, जो रोगी के शरीर में समाया रहता है। इसके आवाहन करने पर रोगी व्यक्ति झूमने लगता

है अथवा कुछ बकवाद करने लगता है। फिर डीह उससे रोगी को छोड़ने के लिये आग्रह करता है। इसमें कुछ मनौती मानी जाती है। कई बार इस तरह झूमने से और मनौती मनाने से भूत शान्त हो जाता है। यहाँ पर भी रोगी का भूत एक विशेष प्रकारक व्यक्तित्व होता है, जो उसके सामान्य व्यक्तित्व से भिन्न होता है। ओझा का डीह भी इसी प्रकार एक विशेष व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व में यह शक्ति होती है कि रोगी के असाधारण व्यक्तित्व को बुला ले। देखा गया है कि यदि भूत के वश में होकर एक स्त्री झूमने लगती है तो उसके आस-पास बैठी हुई अन्य दश-पाँच स्त्रिया भी झूमने लगती हैं अर्थात् भूत लगने की यह बीमारी स्वयम् संक्रामक होती है। देहातों में यह विश्वास प्रत्येक स्थान पर फैला हुआ है कि एक व्यक्ति अपने भूतों को दूसरों के घर भेज देता है। इस विश्वास के पीछे वैज्ञानिक रहस्य इतना ही है कि मानसिक विभाजन की स्थिति संक्रामक होती है।

भुतैले रोग साधारण भौतिक चिकित्सा से अच्छे नहीं होते। इन रोगों को ऐसे व्यक्ति भी नहीं हटा पाते, जो साधारण लौकिक दृष्टि से सुसंगठित हैं। इन रोगों को समाप्त करने के लिये एक विशेष प्रकार के व्यक्तित्व की आवश्यकता पड़ती है। उच्चकोटि के योगी, साधू, सन्यासी, फकीर, औलिया, भिक्षु आदि को इस प्रकार का व्यक्तित्व रहता है। अतएव इनके दर्शन और आराधना से भी अनेक प्रकार के भुतैले रोग शान्त हो जाते हैं।

भूतबाधायें और मानसिक विभाजन

वैज्ञानिक दृष्टि से भुतैले रोगों पर विचार करने से यही पता चलता है कि ये रोग मानसिक विभाजन की मनोस्थिति

के परिणाम है। ऐसे व्यक्तियों के मन में मानसिक संघर्ष चलते रहता है। उनकी प्रेम की भूख अतृप्त रहती है। वे अपने आपको किसी-न-किसी निन्द्य कृत्य के लिए कोसते रहते हैं। जबतक यह कोसना चेतन मन में होता है, मानसिक रोग की उपस्थिति नहीं होती; परन्तु जब इस प्रकार की आत्म-भर्त्सना चेतन मन से अचेतन मन में चली जाती है तब वह अनेक प्रकार के भ्रम, संशय और भय के रूप में परिणत हो कर मनुष्य की चेतना के समक्ष आती है।

आज से कुछ दिन पूर्व आन्ध्र प्रांत का एक विद्यार्थी हमारी मनोविज्ञानशाला में आया। इस विद्यार्थी की उम्र तेइस वर्ष की थी और विश्वविद्यालय की सर्वोच्च कक्षा में पढ़ रहा था। यह बड़ा प्रतिभावान, शिष्टाचारी, और रूपरंग में सुन्दर था। इसके आचार व्यवहार की प्रशंसा इसके सभी साथी करते थे; यह स्वतंत्र विचार का व्यक्ति था, मनोविज्ञानशाला में आने का कारण उसकी एक ऐसी मानसिक व्याधि थी जो उसकी पढ़ाई-लिखाई में बाधा डाल रही थी। इस व्यक्ति को सदा भूत का भय रहता था। इस भय के कारण वह रात होने पर अपने कमरे से बाहर नहीं जा सकता था, वह बहुत पढ़नेवाला विद्यार्थी था। वह सवेरे ३॥ बजे ही उठ जाता था, परन्तु भूत के डर के मारे पाखाने नहीं जा पाता था।

जिस प्रकार उसे भूत के भय भयभीत करते थे उसी प्रकार उसे दूसरे भय भी भयभीत करते थे। उसके मन में दूसरों द्वारा आलोचना किये जाने का सदैव भय बना रहता था। कभी-कभी उसे ठीक कार्य करने पर भी भय रहता था कि कहीं उसने त्रुटि अवश्य कर दी है। इसके लिये वह अपशकुन से बड़ा डरा करता था, किसी प्रकार के अपशकुन हो जाने पर उसे डर रहता था कि उसकी मृत्यु हो जायगी।

उक्त विद्यार्थी के रोग के उपचारार्थ उससे सहानुभूति पूर्वक बातचीत की गई और उसके स्वप्नों का अध्ययन किया गया। इस बातचीत के मध्य में यह ज्ञात हुआ कि रोगी प्रेम का भूखा है। बातचीत से यह भी ज्ञात हुआ कि उसे अपनी जननेन्द्रिय छोटे होने का और नपुंसकता का संदेह है। उसे एक बार यह भी संदेह हुआ था कि उसके एक संबंधी ने उसकी स्त्री के साथ व्यभिचार किया। इस संदेह के कारण वह मन ही मन कुछ दिन तक कुढ़ता रहा।

उसकी जीवनी के अध्ययन से पता चला कि रोगी अपनी किशोर अवस्था में अपने उस संबंधी से बहुत ही प्यार करता था जिसके प्रति उसका स्त्री के साथ व्यभिचार करने का संदेह था। इन की घनिष्टता इतनी अधिक बढ़ गई कि वे एक साथ रहते, खाते और सोते भी थे। ऐसी अवस्था में उनके बीच काम संबंध भी हुआ। इसके पश्चात् कुछ दिन बाद रोगी को अपनी कृति के प्रति भारी आत्मग्लानि हुई। उसके मन में अपने प्रति आत्महीनता की भावना और पाप की भावना आ गई। अपने इस ग्लानि युक्त अनुभव को वह भूल गया और इसके कुछ वर्ष पश्चात् रोगी को उपर्युक्त रोग हो गया।

रोगी से सभी के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा गया। उस रोगी ने बताया कि वह सभी के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कर सकता है परन्तु उक्त संबंधी के साथ मैत्री भावना का अभ्यास नहीं कर सकता। मैत्री भावना का अभ्यास करते समय ही रोगी के मन में उक्त ग्लानियुक्त घटनाओं की स्मृति चेतना के समक्ष आती थी। इनके स्मृति पटल पर आने से उसे भारी कष्ट होता था। परन्तु उक्त संबंधी के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास बार-बार करते रहने से उसका भूत का भय जाता रहा।

उपर्युक्त व्यक्ति भूत वास्तव में है या नहीं—इसके विषय में जानने के लिये बड़ा उत्सुक था। उसे बताया गया कि जिन लोगों की इच्छा शक्ति दुर्बल होती है, उन्हीं को भूत त्रास देते हैं और असाधारण मनोवृत्ति के रोगी भूत के आने जाने का प्रयोग किया करते हैं; सम्पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति न तो भूतों की बात सोचते हैं न वे उनसे डरते हैं। वास्तव में मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेतात्मायें अपनी ही वे इच्छायें हैं जिनको हमने दुष्ट समझ कर कुचलने की चेष्टा की है। अपना ही मनोभाव बाहर किसी वास्तविक अथवा कल्पित पदार्थ अथवा घटना के ऊपर आरोपित हो जाता है और अपने मन को त्रास देने लगता है। यदि हम अपने आपके मित्र बन जायँ और अपने किसी भाव को शत्रु के रूप में देखने की चेष्टा न करें तो हमें बाहरी घटनाओं का, अथवा व्यक्तियों का और भूतों का डर न रहे। अपने ही भाव बाहरी घटनाओं पर आरोपित होकर हमें त्रास देते हैं। आत्म-मैत्री स्थापित करने के लिये हमें ऐसे लोगों से प्रेम करना पड़ताहै जिनमें हम ऐसी बुराइयों को अधिक पाते हैं जिनका दमन हम अपने आप में करते रहते हैं।

रोगी से यह भी बताया गया कि मनुष्य का कोई भी मनोभाव न भला है न बुरा। हमारा दृष्टिकोण ही उसे भला या बुरा बनाता है। मनुष्य का समलिंगी प्रेम जो व्यभिचार के रूप में प्रकाशित होता है, सदुपयोग के द्वारा उच्चतम कोटि की कला, संगीत, और धर्म के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव अपने किसी निम्नकोटि के भाव के कारण उसे अपने प्रति घृणा नहीं करनी चाहिये और न इसके कारण किसी दूसरे व्यक्ति से ही घृणा करनी चाहिये। अपने आप से घृणा करने से मनुष्य में चित्त का विभाजन उत्पन्न हो जाता है और फिर चित्त का

एक भाग दूसरे भाग का शत्रु बनकर उसके प्रति षड्यंत्र करते रहता है। जब दोनों में सामंजस्य हो जाता है तो मनुष्य की शक्ति अपार हो जाती है। ऐसा न होने पर मनुष्य के भयों की संख्या वेहद वढ़ जाती है। यदि उसे एक भय से मुक्त कर दिया जाय तो उसे दूसरा भय पकड़ लेता है।

उक्त विद्यार्थी ने इस प्रसंग में अपना एक विलक्षण अनुभव बताया। जब वह भूत के भय से मुक्त हो चुका था उसने एक बार कुष्ट रोग पर एक पुस्तक पढ़ी और मनुष्य में ये कीटाणु कैसे आ जाते हैं ये जाना। जिस समय उसने इस पुस्तक को समाप्त किया, उसे एकाएक भय उत्पन्न हुआ कि उसे कुष्ट रोग हो रहा है। वह अपनी अँगुलियों में एक विलक्षण प्रकार की झनझनाहट का अनुभव करने लगा। यह विद्यार्थी विश्वविद्यालय की होस्टल में रहता था। कुष्ट रोग की छूत आ जाने का कोई कारण था ही नहीं। परन्तु तिसपर भी उसे कुष्ट रोग हो जाने का अनुभव हुआ। बड़ी कठिनाई से वह इन भयानक विचारों से मुक्त हुआ। इसी प्रकार जब कभी एक त्रास देने वाला विचार उसे छोड़ता था, तो दूसरा तुरन्त उसे आ जाता था। इस विद्यार्थी ने एक मार्मिक बात अपने भय के विषय में कही। उसने कहा कि मैं भूत के अस्तित्व के विषय में सम्भवतः इसलिये प्रमाण खोजता रहता हूँ जिससे मेरा भूत का भय प्रामाणिक बन जाय, अर्थात् मनुष्य का प्रत्येक भय चाहे वह कितना ही अप्रासंगिक क्यों न हो प्रामाणिक बनने की चेष्टा करता है।

इस विद्यार्थी के अनुभव से यह निश्चित हुआ कि मनुष्य जिस व्यक्ति से प्रेम करता है, जब वही व्यक्ति किसी समय उसके आत्मप्रतिष्ठा को अथवा स्वाभिमान को ठेस पहुँचाता है, तब उसका प्रेम घृणा में परिणत हो जाता है। जबतक मनुष्य किसी

व्यक्ति से घृणा करते रहता है तब तक उसे केवल उस व्यक्ति का भय ही त्रास देता है। परन्तु जब वह इस घृणा की स्मृति को भी भुला देता है तो उसे अकारण भय सताने लगते हैं। उसे साँप का भय, कीटाणुओं का भय, ऊँचे-ऊँचे मकानों का भय, पहाड़ों का भय, अथवा भूत का भय सताने लगता है। जब मनुष्य से अपने भय के पदार्थ के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास कराया जाता है तो पहले तो प्रतीक रूप से होनेवाला भय वास्तविक भय में परिणत होता है, फिर यह भय उस व्यक्ति अथवा पदार्थ के प्रति घृणा के रूप में मनमें आता है। जब मनुष्य सतत मैत्री-भावना के अभ्यास से वह इस घृणा से भी मुक्त हो जाता है तब उसके भीतरी और बाहरी मन में एकता स्थापित हो जाती है। फिर उसके सभी प्रकार के अकारण अथवा वास्तविक भय नष्ट हो जाते हैं और उसके मन में अपार उत्साह और शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

उक्त विद्यार्थी में आत्म-समन्वय स्थापित होनेके परिणाम-स्वरूप उसमें असाधारण पुरुषार्थ का उदय हुआ। उसने ध्यान लगाकर एम० ए० और एल० एल० बी० दोनों कक्षाओं की पुस्तकें पढ़ीं और अपनी परीक्षा में भली प्रकार उत्तीर्ण हो गया। वास्तव में मनुष्य का दलित भाव ही विकृत होकर भूत का भय बन जाता है। यही अनेक प्रकार के दूसरे मानसिक रोग उत्पन्न करता है, और चित्त की एकाग्रता को भी नष्ट करता है।

जिस प्रकार का उक्त विद्यार्थी का अनुभव था उसी प्रकार का एक विद्यापीठ के विद्यार्थी का भी अनुभव था। इस विद्यार्थी की सामान्य विचारधारा तर्कयुक्त है, वह जड़वादी और साम्यवादी विचारधारा का है। परन्तु इसे भी भूत के भय इतने त्रास देते थे कि वह ८ बजे शाम से घर के बाहर नहीं निकल सकता था।

इसके कारण उसे अपनी पार्टी के कार्य में कठिनाई पड़ती थी। वह अपनी दुर्बलता को किसी से भी हँसी के डर के मारे नहीं कह सकता था। कभी-कभी भूत का भय उसे इतना त्रास देता था कि वह रात को कमरे के बाहर पेशाव करने नहीं जा सकता था। उसे अपनी चारपाई कमरे के दो विद्यार्थियों के बीच में डालनी पड़ती थी। आधी रात को अचानक नींद खुल जाने पर घवड़ा कर उठ जाता था। उसके स्वप्न बड़े भयानक होते थे।

इस विद्यार्थी से भी मैत्री भावनाका अभ्यास कराया गया। इसके परिणामस्वरूप अपने बहनोई के प्रति उसके मन में अमैत्री के भाव जाग्रित हो गये। इस बहनोई ने ही बचपन में इस विद्यार्थी का लालन-पालन किया था। विद्यार्थी का पिता शैशवकाल में ही मर गया था। शिशु की माता ने अपना सभी धन और रुपया इस दामाद को दे दिया था। पीछे बहनोई ने साले के प्रति वेईमानी की और उसने उसका सब रुपया अपने आप ले लिया। इस घटना के कारण उसके मनमें अपने ही पुराने स्नेही के प्रति कठोर शत्रु-भाव उत्पन्न हो गये थे और यह शत्रुभावना भूत के भय की भावना में प्रकट हुआ।

ज़ब शत्रुभावना का दमन होता है अर्थात् जब यह स्मृतिपटल से चली जाती है तभी भूत का भय मनुष्य को त्रास देता है। अतएव रोग के उपचार के समय पहले पहल शत्रु भावनाओं को चेतना की सतह पर लाना पड़ता है। इसके लिये रोगी से आनापानसति द्वारा मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया ज़ाता है। फिर इस प्राथमिक शत्रुभावना को मित्रभावना में परिवर्तित क़िया जाता है। कभी कभी रोगी अपनी मूल शत्रु-भावना को नहीं छोड़ता। ऐसी स्थिति में उसका अकारण भय

का भाव तो चला जाता है परन्तु वास्तविक भय के कारण अर्थात् वास्तविक शत्रु के भय से वह सदा त्रसित रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने स्वप्नों में अपने शत्रु से अनेक प्रकार के युद्ध करता है। ये स्वप्न कभी-कभी वास्तविक शत्रु को और कभी उसके प्रतीकों को सामने लाते हैं। उक्त विद्यार्थी की मानसिक स्थिति इसी प्रकार की थी। वह अपने सम्बन्धी को क्षमा नहीं कर पाया था। अतएव उसे कुछ समय तक मानसिक क्लेश रहा। परन्तु इस प्रकार का क्लेश रहना मानसिक आरोग्य प्राप्त करने की एक सीढ़ी है।

भूतबाधाओं का रूपान्तरण

मनुष्य को भूत बाधायें दो प्रकार की होती हैं—एक प्रकार की बाधाओं में भूत रोगी के सिर आता है और वह बकझक करता है। ऐसी स्थिति में रोगी की सामान्य चेतना अलग हो जाती है और एक विशेष प्रकार की चेतना उसका स्थान लेलेती है दूसरे प्रकार की बाधाओं में भूत रोगी के शरीर में समाया रहता है। वह उसे सदा बेचैन बनाये रखता है। कभी कभी वह बकझक भी करता है, परन्तु अधिकतर वह मनुष्य को दुःखी बनाये रखने से ही सन्तुष्ट रहता है। कभी कभी यह शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। रोगी के विशेष स्थान पर पीड़ा होने लगती है। यह पीड़ा अपना स्थान बदलती रहती है, अथवा एक ही स्थान पर विभिन्न प्रकार से होती है। किसी प्रकार की शारीरिक खोज करने पर इसके कारण का कोई पता नहीं चलता।

भूत बाधा का रोगी कभी कभी अचानक असह्य वेदना का अनुभव करता है। उसके हाथ पैर ठंडे हो जाते हैं। कभी कभी उसके दांत बंध जाते हैं और काले पड़जाते हैं। इस प्रकार के

रोगों के लिये ओझा लोग बुलाये जाते हैं फिर रोग अच्छा भी हो जाता है।

इस प्रसंग में हमारे उपचार में आये एक नव युवक के रोग का अनुभव उल्लेखनीय है। रोगी २२ वर्ष का एक एम० ए० पास नवयुवक है। उसने सभी परीक्षायें द्वितीय श्रेणी में पास की थीं, पर जब से उसका विवाह हुआ तब से उसके मन में अकारण उलझने उत्पन्न हो गईं। फिर एम० ए० प्रीवियस उसने कठोर परिश्रम करने के बाद भी तृतीय श्रेणी में पास की। इस प्रकार पूरी एम० ए० भी उसने तृतीय श्रेणी में ही पास की। परीक्षा फल के निकलने पर उसकी मनोदशा बहुत ही गिर गई थी। उसी समय उसे रात के समय ऐसा मालूम हुआ कि उसके दाहने हाथ में लकवा हो गया है। यह रोग विलक्षण प्रकार का ही था।

इस युवक को बचपन से ही अनेक प्रकार के सन्देह, अकारण भय आदि सताते रहते थे। जब उसने परीक्षा में अपनी आशा के अनुसार सफलता प्राप्त न की तो उसकी मनोस्थिति बहुत ही बिगड़ गई। इसी समय उसे लकवा हो जाने का भ्रम हो गया। यह एक प्रकार का रूपान्तरित हिस्टीरिया अथवा प्रेत बाधा ही थी। युवक का इस विषय में अनुभव उल्लेखनीय है। युवक लिखता है :—

जब मैं छोटा था, प्रायमरी स्कूल में पढ़ता था तब मेरी आँख आई थी और उसमें कुछ सफेद दाग भी पड़ गया था। दाग़ तो अच्छे हो गए लेकिन आँख दबा कर ताकने की आदत हो गई। अब मैं बारबार उस आँख को चौड़ा करता था और लोग चिढ़ाते भी थे। मुझे तभी सन्देह हुआ कि ये आँखें

छोटी-छोटी हैं फूट न जायें। मैं आगे चलकर अन्धा न हो जाऊँ। यह पहला सन्देह हुआ।

कुछ दिन बाद एक पागल कई लड़कों को परेशान कर दौड़ा रहा था। हमलोग भाग गए और रास्ते में अकेले तभी से आना मुश्किल हो गया। कोई भी आदमी रास्ते में दिखाई पड़ता तो मैं सोचता कि यह पागल न हो। इसी बीच हमारे गाँव में एक आदमी पागल हो गया। लोग कहने लगे कि इसे जिन्न पकड़े हैं और ये जिन्न कब्र पर पेशाब करने से पकड़ लेते हैं। मैंने भी याद किया कि भूल से कहीं मैंने पेशाब तो नहीं कर दिया और सन्देह हुआ कि मैं भी पागल न हो जाऊँ। इसके बाद मैंने पचासों कब्र वगैरह के स्वप्न देखे, और हर समय यही सोचा करता था कि मुझे जिन्न न पकड़ लें और तबीयत में घबड़ाहट बनी रहती थी।

इसके बाद परीक्षाओं का सन्देह बना रहता था। जब कभी परीक्षा देने जाता तो डर लगता था। परन्तु जब परीक्षा देकर आता तो सन्देह रहता कि कहीं परीक्षक कापी गलत न देख दे।

जब मैं कालेज में आया तो एक लड़के ने एक दिन मुझसे कहा कि कल मैं कालेज इसलिए नहीं आया कि मेरा ज़ुकाम बिगड़ गया था और सही दवा न होती तो टी० बी० तक हो सकती थी। मैंने भी अखबार में पढ़ा कि सरदी होने पर "कासाविन" का प्रयोग करें अन्यथा भयंकर से भयंकर रोग हो सकते हैं। इसके पहले मुझे सैकड़ों बार सर्दी हुई थी। लेकिन मैंने इसका ध्यान नहीं दिया था। अब इस बार सर्दी हुई। पहले तो मैंने ध्यान नहीं दिया। फिर ऐसा लगा कि सरदी इस बार बिगड़ गई है। इसी समय मेरे दो साथी रोते

हुए पहले ही दिन स्कूल खुलते मिले और उन्होंने कहा कि उनके चाचा तपेदिक से मर गए। अब हमें सरदी का भय तपेदिक के रूप में लगा।

इसी जमाने में पहली बार स्त्री-मिलन का अवसर मिला। इस साल गौना हुआ था। मुझे पहले से ही सन्देह था कि मैं क्या स्त्री के साथ सहवास करने योग्य हूँ? इस बार सफल संसर्ग हुआ अथवा नहीं यह सन्देह युक्त ही रह गया। इसी बीच एक साथी ने हमसे कहा कि तुम्हारी स्त्री पगली जैसी है। रात को सोते समय हमने उससे कई बातें पूछीं, जिसमें पगली होने का कोई चिह्न नहीं था। किन्तु हमारा यह सन्देह दूर नहीं हुआ। बीच में जो जुकाम हुआ था, वह हमें अधिकाधिक सन्देहग्रस्त करते गया और हमारा स्वास्थ्य भी गिरता गया।

फिर एक वैद्य ने हमारे सन्देह को कुछ और मजबूत बना दिया। हम इस पचड़े में चार-पाँच महीने तक पड़े रहे और दवा कराने पर अच्छे हुए। किन्तु हमें हृदय में धड़कन मालूम होने लगी और सन्देह रहता ही था कि हमें टी० बी० न हो गई हो। वजन बढ़ता गया किन्तु सन्देह में कमी नहीं हुई। जब मैं कक्षा ९ में पढ़ता था, तो टाट पर बैठना पड़ता था। उन दिनों टाट पर बैठने से हमारे पाँव के तलवे पर दाग जैसे हो गए थे। हमें सन्देह हो गया कि हमें कोढ़ न हो जाय। लेकिन ये सब सन्देह बहुत जल्दी ही नष्ट होते गए। जब मैं बी० ए० कक्षा में था, तब विश्वविद्यालय से घर जा रहा था। रास्ते में बातचीत में एक आदमी ने दूसरे से कहा कि अमुक आदमी हमारे यहाँ दवा लेने आया कि उसे नपुंसकता हो गई है। बात हमारे दिमाग में भी आ गई कि कहीं मैं भी नपुंसक न हो जाऊँ। जब उसी रात को स्त्री के पास गया, तब

पहले सचमुच मुझे संसर्ग में असफलता जैसी मालूम हुई। किन्तु साथ ही कभी सफलता का भी अनुभव होता था। फिर भी कुछ सन्देह बना ही रहा।

मुझे दो साल बाद शरीर में एक दाग देखकर कोढ़ होने का सन्देह उत्पन्न हुआ। मैंने एक पंडे से पूछा था। उसने कहा कि आपके दो ग्रह इतने खतरनाक हैं कि जीवन में आपको कठिन-से-कठिन कार्य का सामना करना पड़ेगा। हमारी छोटी भाभी ने कहा कि उनके गाँव के पास एक लड़का था, जिसकी स्त्री बड़ी सुन्दरी थी; किन्तु उसे कोई बच्चा पैदा नहीं हो सका, क्योंकि उस लड़के को लकवा मार दिया था। हमें भी सन्देह हुआ कि हमें भी हो-न-हो लकवा मार ही दे।

एक रात को मैं अपने घर पर ही सोया था। थोड़ी सी नींद खुली तो हमारा बाया पैर हिलता हुआ मालूम पड़ा। हमें ऐसे लगा कि कोई यहाँ है। इसके बाद लगा कि हमारा पैर कट गया है। इसके बाद हमारा बायां हाथ जो दबा था, उसको मैंने टोया तो उसमें कुछ सनसनाहट सी मालूम हुई। इसके बाद मैं उठकर चारपाई से चला, लेकिन डर के मारे पैर ठीक नहीं पड़ते थे। तब हमें लगा किसी हवा से ही तो लकवा लगता है और हमें भी वह हवा लग गई है। फिर मैं अपना दाहिना हाथ पकड़ कर (बांया भूल गया) दौड़ा दौड़ाघर गया। मेरा दांया हाथ उंगली जैसा पतला लगता था। मैं चिल्लाया कि मुझे लकवा हो गया है। घर के लोग दौड़े आये और वे घबड़ा गए। इसके बाद ओझा बुलाया गया। इसी बीच हमें लगता था कि हमारी श्वांस रुक गई और अब मैं मर जाऊँगा। किन्तु ओझा के आने से सान्त्वना मिली। उसने कहा कि यह भगवती का प्रकोप था और बारह बजे रात तक, अर्थात् दो घंटे बाद

अच्छा हो जावेगा। ठीक ऐसा ही हुआ। रात के बारह बजे मैं पूरा अच्छा हो गया।

बीच में मुझे ठीक नौकरी मिल गई। किन्तु एक बार जब मैं बनारस सिनेमा देखकर सिनेमा हाल से बाहर निकल रहा था कि फिर शरीर झूलती सी मालूम हुई और मैं किसी तरह से सो गया। वही सन्देह मुझे हर समय रहने लगा। मैं मनोविज्ञान शाला इसी सन्देह को लेकर आया।

मनोविज्ञान शाला में आते ही मेरे मन में नई आशा का संचार हो गया। संचालक महोदय मुझसे बड़ी सहानुभूति पूर्वक मिले। उन्होंने मेरे रोग का सभी वृतांत सुना। फिर बचपन की घटनायें लिखने को कहा। वे मेरे स्वप्न भी पूछे; इसके बाद उन्होंने मुझसे आनापानसति का अभ्यास कराया। उन्होंने मुझसे सभी लोगों के प्रति—विशेषकर अपने छात्रों से—प्रेम व्यवहार करने को कहा। मैं अपनी स्त्री को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था। उससे मैं कभी-कभी कहदेता था कि यदि तुममें और माँ में कोई झगड़ा हुआ, तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगा। मैंने उससे इस प्रकार की बातों का कहना बंद कर दिया। मुझे ज्ञात हुआ कि मेरी पत्नी और माँ का आपसी मनोमालिन्य मेरे वर्तमान रोग का एक प्रधान कारण था। मुझे बताया गया कि मेरा रोग मेरे हित के लिये आया है। मैंने इसी विचार का अभ्यास किया। मैं पहले अपनी स्त्री को अपने पास नहीं रखता था। बाद को मैं उसे अपने पास रखने लगा। उसके साथ स्नेह बढ़ने पर मेरे जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन हुआ। मैं शरीर से बहुत दुबला था। उक्त बातों के करने से दो ही महीनों में मेरा वजन बीस पाऊंड बढ़ गया। धीरे धीरे मेरा स्वास्थ्य सुधरता ही गया। मैं अब अपने काम को बड़े मनोयोग के साथ कर रहा हूँ।'

उक्त रोगी को बहम हो गया था कि किसी भूत-पिशाच ने उसे पकड़ लिया है। गाँव के लोग भी यही कहते थे। अतएव वे अनेक प्रकार की पूजा-अर्चा उससे कराते और तावीज-मंत्र आदि हाथ में बांधते थे। वास्तव में इस रोगी के मन का विभाजन हो गया था। उसकी इच्छा-शक्ति आन्तरिक संघर्ष के कारण दुर्बल हो गई थी। इस संघर्ष की जड़ उसके बचपन के संस्कारों में थी। उसके पिता अक्सर घर से दूर नौकरी पर रहते थे। उसकी देख-रेख उसकी माता ही करती थी। माता के अत्यधिक स्नेह ने उसके मन को अवस्था के अनुसार विकसित होने से रोका; साथ-ही-साथ अनेक प्रकार के आन्तरिक संघर्ष के लिये बीज बो दिया। किशोरावस्था में समवयस्य बालकों के साथ कामक्रीड़ा होने पर आत्म-ग्लानि के भाव उसके मन में घर कर गए थे। यही उसके मन में अनेक प्रकार के अकारण भय उत्पन्न करते थे। यह उसके नैतिक स्वत्व का भोगासक्त स्वत्व के दण्ड के रूप में होता था। नपुसंकता का भय इसी लिये सताता था।

जब उक्त युवक की सभी बातों को सहानुभूति पूर्वक सुना गया, उसके भ्रमात्मक मान्यताओं का निराकरण किया गया तथा जब उससे शान्तभावना और मैत्रीभावना का अभ्यास कराया गया तो उसका रोग समाप्त हो गया। आज वह एक कालेज का सफल अध्यापक है।

प्रेम चिकित्सा द्वारा उपचारित रूपान्तरित भूतबाधाओं का एक सफल प्रयोग यहाँ उल्लेखनीय है। नीचे लिखा वृत्तान्त एक ऐसे नवयुवक का है जिसे अत्यन्त मानसिक वेदनायें सहनी पड़ी थी, जो अपने जीवन से निराश हो चुका था, परन्तु जो आज रोग पीड़ित अनेक नवयुवकों के लिये आशा-दीप बन गया

है। यह युवक एक ट्रेनिंग कालेज का छात्र है। इसने मनोविज्ञान का विशेष अध्ययन किया है। युवक लिखता है—

"आज से ५ वर्ष पूर्व जब मैं बी० ए० फाइनल का विद्यार्थी था उस समय मुझे निम्नलिखित रोग हुआ। घटना इस प्रकार है। परीक्षा के एक महीना पूर्व मेरी मेडिकल परीक्षा हुई। डाक्टर ने बतलाया कि मुझे रक्तचाप की अधिकता है। शुरु में मैंने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। मैं हंस-हंस कर अपने मित्रों से कहता था कि मुझे डाक्टर ने ब्लड-प्रेशर बतला दिया है।—मैं यह नहीं जानता था कि ब्लड-प्रेशर कौन सी बात है। एक दिन मैंने पास में ही रहने वाले एक डाक्टर के मुख से सुना कि अधिक ब्लड प्रेशर वालों का हार्टफेल कर जाता है। यह सुनकर मुझे बड़ी चिन्ता हुई और दिल पर एक कड़ा धक्का-सा लगा। मेरे मन में यह विचार बार-बार आने लगा कि कहीं मेरा भी हार्ट फेल न कर जाय।

जिस डाक्टर ने मेरी परीक्षा की थी उसके पास फिर मैं ब्लड-प्रेशर जाँच कराने के लिये गया। कई बार इस डाक्टर के पास जाने के बाद उसके यहाँ जाना छोड़ दिया और एक दूसरे अनुभवी डा० के पास जाकर रक्तचाप की जाँच कराई। इस डाक्टर ने मुझे विटामिन बी० कम्पलेक्स सी० की गोलियाँ खाने को कही। कुछ दिन तक मैंने इस गोली का सेवन किया, परन्तु मुझे कोई लाभ न हुआ। इसके बाद मैंने अपने को विद्यालय के डाक्टर को दिखाया। जिस समय वे मेरी परीक्षा कर रहे थे, उस समय मेरा दिल बैठता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। निदान करने के बाद उन्होंने बतलाया कि मुझे हृदय का रोग है और इसके मुझे लिये डा० सेठ से परामर्श लेना चाहिये। मैं अपने एक साथी के साथ उसी दिन शाम को डा० सेठ के पास

गया। डा० सेठ ने मुझे बतलाया कि मुझे कोई रोग नहीं है। परीक्षा पास आने पर विद्यार्थियों को इस तरह ब्लड-प्रेशर बढ़ जाता है और परीक्षा समाप्त होने पर पुनः वह अपने असली अवस्था में आ जाता है। परन्तु डा० सेठ के इस कथन पर मुझे विश्वास नहीं हुआ और मैं अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर रात-दिन अपने रोग के विषय में ही सोचने लगा। मेरे मन में बार-बार यह विचार आने लगा कि कहीं मेरा हार्टफेल न हो जाय। इसी चिन्ता में मैं मरा जाता था और रोता रहता था।

अधिक परेशान हो जाने पर मेरे कुछ साथी मुझे प्रसिद्ध वैद्य श्री सत्य नारायण शास्त्री के पास ले गये। उन्होंने भी बताया कि मुझे कोई रोग नहीं है और उन्होंने मेरे विश्वास के लिये कुछ दवाइयाँ खाने को दी। मैंने इनकी दवा ८-१० रोज तक खाई, परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ और मैंने उनकी दवा खानी छोड़ दी। मैं अपने कुछ साथियों से, जो आयुर्वैदिक कालिज के छात्र थे, रक्तचाप के लक्षण के विषय में पूछा करता था और वे सभी लक्षण मैंने अपने में देखे, जो ब्लडप्रेशर में पाये जाते हैं। इस तरह सिरदर्द, हृदय की धड़कन और नींद का न आना आदि सभी प्रकार के रोग मुझमें तैयार हो गये। इन रोगों से घबड़ाकर मैं परीक्षा छोड़ कर घर चला गया और वहाँ स्थानीय वैद्यों से इलाज कराने लगा, परन्तु मुझे कोई लाभ न हुआ। एक दिन अचानक शाम को मैं बिल्कुल मुर्छित हो गया। मेरे हाथ-पैर ठंढे हो गये। मेरी हृदय की धड़कन बढ़ गयी। शरीर में इतनी तेज धड़कन थी कि ७-८ आदमियों के दबाये रखने पर भी धड़कन शान्त नहीं हुई। घर के सभी लोग रोने-पीटने लगे। मालूम पड़ता था कि एक-दो घंटे में मेरी मृत्यु हो जायगी। करीब ४-५ घंटे तक इस प्रकार का दौरा मुझे होता रहा और मेरे ठंढे हाथ-पैर को गरम करने के

लिये उनमें गरम राखी के धूरे की मालिश होती रही। अब सभी लोगों को यह विश्वास हो गया कि मुझे कोई भूत लग गया है और वही मुझे यह दंड दे रहा है। इसके लिये गाँव के ओझाओं को बुलाया गया। अब मेरी झाड़-फूँक होने लगी। मुझे भी इस भूत पर कुछ-कुछ विश्वास होता गया परन्तु इस दौरा के बाद मुझमें चलने-फिरने की शक्ति नहीं रह गयी और लगता था कि चलते ही मेरा हार्टफेल हो जायगा। प्रातः काल होने पर मुझे स्थानीय एक बड़े हास्पीटल में ले जाया गया। वहाँ एक प्रसिद्ध अमेरिकन चिकित्सक—डाक्टर इब्राट रहते हैं। उन्होंने बतलाया कि मुझे कोई रोग नहीं है, केवल परीक्षा के कारण मानसिक विभाजन हो गया है। उन्होंने कुछ खाने की दवा भी दी। उस दिन रात को मुझे घर आने पर अच्छी नींद आई।

एक माह तक उक्त डाक्टर के यहाँ चिकित्सा कराने पर मेरे स्वास्थ्य में काफी परिवर्तन हुआ परन्तु एक दिन अचानक मेरा विश्वास उस डाक्टर पर से हट गया। मैंने उसके यहाँ दवा कराना छोड़ दिया और मुझे भ्रम होने लगा कि अब मैं पागल हो जाऊँगा। इस प्रकार के विचार के कारण मेरी एक ऐसी अवस्था आई कि मैं सात दिन तक बिल्कुल नहीं सोसका और मेरी दशा बिल्कुल विक्षिप्त जैसी हो गयी। अनेक प्रकार के ओझाओं को बुलाकर मुझे दिखाया गया, मनौतियाँ मानी गयी, ज्योतिषियों से राय ली गयी। सब कुछ हुआ परन्तु मेरे रोग का कुछ पता किसी को न चल सका। ऐसी अवस्था में घर के लोग भूत-प्रेत को छोड़ कर और समझेंगे ही क्या ?

मैंने बी० ए० में मनोविज्ञान भी एक विषय ले रखा था और प्रो० लालजीराम शुक्ल के विषय में भी सुन रखा था कि वे मनोविज्ञान के बहुत बड़े विद्वान् हैं। पहले ही मेरे कुछ

साथियों ने मुझे शुक्लजी से अपनी चिकित्सा कराने की सलाह दी थी, परन्तु मैं समझता था कि मुझे शारीरिक रोग है, रक्तचाप की चिकित्सा शुक्लजी क्या करेंगे। लेकिन जब मैं चारों तरफ से निराश हो गया और जब मैंने जीवित रहने का कोई मार्ग न देखा, तो शुक्लजी के पास आने का निर्णय किया। सोचा कि हो-न-हो वहीं से मैं ठीक हो जाऊँ। अतएव एक दिन मैं अपने एक सम्बन्धी के साथ शुक्लजी के पास आया। मैं अकेले आ नहीं सकता था इसलिये इस सम्बन्धी के साथ रहना नितान्त आवश्यक था। शुक्लजी से मिलते ही मुझमें अपूर्व विश्वास और साहस का उदय हुआ और मुझे अब पूर्ण विश्वास हो गया कि मैं बिल्कुल स्वस्थ हो जाऊँगा। मेरा करीब-करीब आधा रोग उनके साक्षात्कार मात्र से ही जाता रहा। जिस समय मैं उनसे मिला उस समय मेरे सिर में भयंकर पीड़ा हो रही थी और लगता था कि सिर कटकर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, परन्तु ज्योंही उन्होंने अपने हाथों को मेरे सिर पर फेरा, मेरा सारा दर्द काफूर हो गया। थोड़ी देरतक बात-चीत होने के बाद उन्होंने मुझे आनापानसति का अभ्यास कराया। इस अभ्यास से मेरे महीनों के जर्जर शरीर और मन में काफी बल आ गया। शाम को मैं अपने सम्बन्धी के साथ घर लौट गया। शुक्लजी ने ८ दिन के बाद मुझे पुनः आने का निर्देश दिया। अतएव मैं ८-८ दिन के बाद इनके यहाँ आने लगा और उत्तरोत्तर मेरे मन और शरीर में बल आता गया। कुछ ही दिनों के बाद मेरे मन में इतना बल आ गया कि मैं अपने बी० ए० की परीक्षा की तैयारी में लग गया। धीरे-धीरे मैंने परिश्रम करके अपनी बी० ए० की परीक्षा सेकेण्ड डिवीजन से पास की फिर एम० ए० की परीक्षा भी सेकेण्ड डिवीजन से पास की। अब मैं काफी

स्वस्थ हूँ और अब मुझे कोई रोग नहीं है। मैं निम्नलिखित रोगों से परेशान था।

मेरे रोग कई प्रकार के थे। मुझे कभी शरीर के एक अंग में और कभी दूसरे अंग में पीड़ा होने लगती थी। जब एक जगह की पीड़ा शान्त होती थी तो दूसरे जगह पीड़ा शुरू हो जाती थी और जब सभी प्रकार की पीड़ाएँ समाप्त हो जाती थीं, तो मन में भारी घवड़ाहट उत्पन्न हो जाती थी। मुझे ऐसा लगता था, मानो किसी दैत्य ने मुझे पकड़ लिया है और वह मुझे गला घोंटकर मार डालना चाहता है।

जब मुझे सिर की पीड़ा होती थी, तो ऐसा लगता था मानो सिर फट जायगा। इसी प्रकार की पीड़ा लेकर मैं शुक्लजी के पास आया था। परन्तु आश्चर्य की वात यह है कि उनके छूने मात्र से ही यह पीड़ा जाती रही। पीछे जब कभी सिर की पीड़ा होती, तो मैं विस्तर पर लेट जाता और उनका ध्यान करता, तो मेरी पीड़ा चली जाती थी।

जिस प्रकार सिर की पीड़ा विलक्षण थी, वैसे ही हृदय की धड़कन भी विलक्षण थी। कभी-कभी हृदय इतना कम्पित होता कि मालूम होता था कि प्राण निकल जाएँगे। यह सब अकारण होता था। फिर कभी एकाएक यह धड़कन शान्त भी हो जाती थी। जब तक आनापानसति का अभ्यास नियमित रूप से नहीं किया गया, यह धड़कन बनी ही रही। हृदय की धड़कन के साथ-साथ सारे शरीर में अकड़न, आखों में जलन और गाठों में दर्द भी होता था। जब हृदय की धड़कन कम होती, तब ये सब रोग उभड़ आते। इनके कारण मैं घर छोड़कर बाहर घूमने भी नहीं जाता था। मुझे डर लगा रहता था कि कहीं अचानक ही मैं हृदय की गति रुक जाने के कारण न मर जाऊँ।

जब मुझे कोई शारीरिक व्याधि नहीं रहती थी, तो बहुत ही दुखद विचार त्रास देने लगते थे। मुझे बार बार विचार आता था कि मैंने जो भूत काल में अनेक काम-कुकृत्य किये हैं, उससे मेरी जननेन्द्रिय टेढ़ी हो गई है। मैंने कोकशास्त्र में पढ़ा था कि जो लोग हाथ से वीर्य स्खलन करते हैं, उनकी जननेन्द्रिय विकृत हो जाती है और वे नपुंसक भी हो जाते हैं। किशोरावस्था के मेरे भी अनुभव अच्छे नहीं थे। अतएव मुझे भय हो गया था कि मेरी जननेन्द्रिय विकृत हो गई है और मैं नपुंसक हो चुका हूँ। यह विचार मुझे अत्यन्त त्रास देता था। मुझे यह भी विचार उठता था कि मुझे प्रमेह हो गया है और अब मैं स्वस्थ्य कभी नहीं हो सकता कभी कभी मुझे भय हो जाता था कि मैं पागल हो जाऊँगा। जब मैं किसी पागल को रास्ते में जाते देखता या पागल की कोई गाथा सुनता, तो घबड़ा जाता था। मुझे लगता था कि मैं भी पागल हो रहा हूँ। मैं बार बार पागलों को अपने स्वप्न में भी देखता था। कभी कभी स्वप्न में देखता कि पागल आपस में लड़ रहे हैं अथवा मुझे ही मारने की कोशिश कर रहे हैं। मैं उनसे भागता हूँ पर जान नहीं छूट रही है।

मैं सदा दूसरों से अपनी नजर बचाने की चेष्टा करता था। मैं खुलकर न तो किसी युवती से या न तो किसी युवक से ही बात चीत कर सकता था। प्रत्येक रूपवान व्यक्ति से मुझे आकर्षण न होकर भय लगता था। जब कभी मैं अपने घर के सम्बन्धी स्त्रियों को देखता तो उनके गुप्तांगो की कल्पना ही मेरे मन में आती। मुझे सदा डर हो जाता कि कहीं उनपर बलात्कार न कर दूँ।

जब कभी मैं किसी भगवान के अवतार की फोटो देखता तो

मेरे मन में उनके गुप्तांगो पर ही ध्यान जाता। कभी कभी उनके प्रति मेरे मन में गाली आती। मैं किसी भी देवता को पूरी श्रद्धा से ध्यान नहीं कर पाता था। उनके प्रति गन्दी गन्दी भावना तुरत उत्पन्न हो जाती थीं।

किसी भी गन्दी चीजो को देखते ही मुझे डर हो जाता था कि कहीं मैं उसे हाथ में न लेलूँ। मैला बाहर पड़ा हुआ देख कर डर लगता था कि कहीं मैं इसे उठाकर मुँह में न रख लूँ। इस प्रकार के विचारों से मैं सदा त्रस्त रहा करता था। मैं सोचता था कि ऐसी कौन सी आत्मा मेरे अन्दर घुस गई है जो मुझे बरबस गन्दगी की ओर ढकेलती रहती है।

शुक्लजी के बताये अभ्यास को मैंने नित्य-नियम से किया।

उनके आदेशों का मैंने भली भाँति पालन किया और उससे मुझे बहुत लाभ हुआ। मैं प्रतिदिन अपने स्वप्नों को लिखता और उन्हें शुक्ल जी को सुनाता। इस प्रकार स्वप्न में मेरी आन्तरिक वासनाएँ व्यक्त होती गई। मुझे स्वप्नों का अर्थ बताया जांता था। उसका ज्ञान मुझे कराया गया। इस प्रकार मुझे अपने प्रति दिनके स्वप्नों के द्वारा मेरी अज्ञात वासनाओं का ज्ञान मुझे हुआ। मनोविश्लेषण करने पर पता चला कि मेरी कामासक्ति निकट सम्बन्धियों के प्रति है जिसे मैं भुलाये रखना चाहता हूँ। ये ही दबी वासनाएँ मेरे रोग कारण थीं। मैंने इन वासनाओं को जानने के लिये काफी प्रयास किया और इसी हेतु मैने एम० ए० में मनोविज्ञान पढ़ा। इस तरह मैं अपनी छिपी वासनाओं को समझने में काफी सफल हुआ।

काशी मनोविज्ञानशाला में आने वाले कुछ साथियों-द्वारा भी मुझे काफी लाभ हुआ, जिनका मैं आजीवन आभारी

रहूँगा। इन साथियों के साथ मैने आत्मीयता का अनुभव किया। ए साथी मेरे प्रति सहानुभूति एवं सहृदयता का व्यवहार रखते थे। इनलोगों के व्यवहार से मेरे हृदय में काफी परिवर्तन हुआ और मेरे मन में समाज के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। एक साथी ने तो मेरे प्रति अत्यन्त ही सहानुभूति दिखलाई। इस प्रकार के मैत्री पूर्ण व्यवहार ने मेरे सारे व्यक्तित्व को ही परिवर्तित कर दिया। अब मैं अपने रोग से बहुत कुछ मुक्त हो चुका हूँ। मेरा मन अब पढ़ाई में खूब लगता है। अब मैं प्रतिदिन मैत्री भावना और आनापानसति का अभ्यास करता हूँ। जब कभी कोई कठिनाई सामने आती है अथवा संदेह मन में उत्पन्न हो जाता है, तो हृदय की धड़कन हो जाती है। यह आनापानसति के अभ्यास से शान्त भी हो जाती है। पहले मैं लेटकर के ही आनापानसति का अभ्यास करता था, अब बैठकर भी करता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं साक्षी भाव और शान्त भावना का भी अभ्यास करता हूँ। अब मैं प्रतिदिन कई घंटे काम करके भी नहीं थकता। मेरा भुतैला रोग अब स्वप्नवत् हो गया है।"

उपर्युक्त व्यक्तव्य एक ऐसे नवयुवक का है जिसकी नैतिक शिक्षा बड़े आदर्शमय वातावरण में हुई है। इसके जीवन के आदर्श पहले से ही ऊँचे बनाये जा चुके थे। किशोरावस्था के आगमन पर इसे दूसरे नव युवकों के समान ही अनेक प्रकार के व्यभिचार के अनुभव हुये। यह इन सब कृत्यों के लिये अपने आप को कोसता रहता था। वह अपने जीवन को ऊँचा उठाने की सदा चेष्टा किया करता था। फिर भी प्रवल आवेग में पड़कर कोई न कोई गन्दा काम कर बैठता था। २० वर्ष की अवस्था में मानसिक संघर्ष अत्यन्त बढ़ गया और

उसने व्यक्तित्व-विभाजन का रूप ले लिया। जब मनुष्य के सामने बाहरी जटिल समस्या आती है और जब इसमें उसकी शक्ति अत्यधिक खर्च हो जाती है तो वह भीतर ही आपस में संघर्ष करने वाली शक्तियों पर अपना नियन्त्रण खो देता है। ए शक्तियाँ फिर चेतना की सतह पर आकर अपना नंगानाच प्रदर्शित करती है। जब ये अन्तर्हित हो जाती हैं तो शारीरिक रोग के रूप में व्यक्त होती है। ए रोग वे सिर पैर के होते है। इनका उपचार डाक्टरी ढंग से नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक ढंग से ही हो सकता है। ये रोग तब तक नहीं जाते जब तक व्यक्ति का मानसिक एकीकरण नहीं हो जाता। इसके लिये रोगी के जीवन की सभी भावात्मक घटनाएँ सुननी पड़ती हैं। उसके स्वप्न प्रतिदिन लिखाये जाते हैं और उनके अर्थ बतलाए जाते हैं। उससे मैत्री भावना का अभ्यास कराया जाता है और आनापान सति, शान्ति भाव और साक्षी भाव का अभ्यास कराया जाता है। रोगी के अचेतन मन से जो शक्ति ग्रन्थियों से मुक्त होकर बाहर आती है उसका उन्नयन रचनात्मक कार्यों में किया जाता है। यह युवक हमारे पास चार साल रहा। इसने मनोयोग से मनोविज्ञानशाला की सेवा की। असाधारण मनोविज्ञान का भली प्रकार से अध्यन किया। सारा समय अपना अध्ययन करते हुये उसने कई विद्यार्थियों को पढ़ाया। मनोविज्ञानशाला में आने वाले अनेक युवकों को प्रोत्साहित किया। और अब उसने अपने जीवन का लक्ष्य अध्यापन कार्य ही बना लिया है जिसके लिये वह एक प्रशिक्षण विद्यालय में ट्रेनिंग पा रहा है। जिस नियमितता और श्रद्धा के साथ इस युवक ने मनोविज्ञान शाला के सभी सिद्धान्तों को अपने जीवन में व्यवहारित किया है, इस प्रकार विरले ही दूसरे व्यक्ति ने

उन्हें व्यवहारित किया है। जिन व्यक्तियों के प्रति उसका स्नेह हुआ था उन्हें उसी प्रकार के रोग हुए थे जैसे इस रोगी को हुये थे। एक को जटिल प्रमेह का रोग था। दूसरे को हृदय की धड़कन और तीसरे को मूर्छा का रोग था। सभी उच्च नैतिक आदर्श के व्यक्ति हैं और सभी का मन अपने समीप के सम्बन्धियों में फँस गया था।

इस समय भूतबाधा से पीड़ित एक पैंतीस वर्षीय मानसिक रोगी काशी मनोविज्ञान शाला की चिकित्सा में है और उससे वह लाभान्वित हो रहा है। उक्तरोगी की मानसिक-विघटन का प्रारम्भ तथा उसकी वर्तमान गतिविधि का पूर्ण परिचय उसी के शब्दों में इस प्रकार हैं। वह लिखता है—

आज से आठ वर्ष पहले एक बार गाँजा पी लेने के कारण मुझे हृदय की धड़कन, घबराहट, सिरदर्द, तालू का सूख जाना तथा श्वास का एकाएक बन्द हो जाना आदि भ्रम एक साथ आये। करीब २ घंटे तक मुझे काफी बेचैनी रही परन्तु इसके बाद यह शान्त हो गयी। मैंने इसपर कुछ भी ध्यान न दिया—कारण मैं समझता था कि गाँजा के कारण शायद यह बेचैनी अचानक आ गई हो। परन्तु कुछ दिनों के बाद मुझे इस प्रकार का दौरा एकबार फिर आया और वह लगातार अपना उग्ररूप धारण करता ही गया। अब मुझे इसमें कुछ संदेह हुआ। शंकायें उठीं; आखिर यह है क्या?

मेरी तकलीफें दिन-प्रति-दिन बढ़ती गयीं। मैं इस रोग के विषय में समझने की जितनी चेष्टा करता उतनी हीं उलझनें मेरे सामने बढ़ती जातीं। आखिर मुझे वैद्यों की शरण लेनी पड़ी। स्थानीय वैद्यों से कुछ दिनों तक मैं अपनी चिकित्सा कराता रहा, परन्तु मुझे कोई स्थायी लाभ को कौन कहे अस्थायी

लाभ भी नहीं हुआ। अन्त में मुझे बनारस आकर अपने रोग का इलाज किसी योग्य वैद्य से कराना पड़ा। बनारस में मैंने बहुत से अनुभवी डाक्टरों को दिखाया और मैं उनकी चिकित्सा में कुछ दिनों तक रहा परन्तु यहाँ भी मुझे निराश ही होना पड़ा। बनारस के विख्यात वैद्यों में श्री बलदेव जी वैद्य और श्री सत्य-नारायण शास्त्री से लेकर मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध हास्पीटल के प्रधान अमेरिकन सर्जन डा० इव्राट तक से मैंने अपनी चिकित्सा कराई, फिर भी मुझे कोई लाभ न हुआ। अन्त में मुझे जीवन से अति निराश और विशेष हतोत्साद समझ कर मेरे एक रिश्तेदार ने मुझे प्राकृतिक चिकित्सालय, अजगरा जाकर इलाज कराने की सलाह दी। मैं उनकी बात मानकर वहाँ भी गया। लेकिन हाथ लगी निराशा ही।

मेरे परिवार में मेरी पत्नी तथा एक दश वर्षीय बच्चा है। घर में कृषि-कार्य होता है। अतः खेती के काम को भी समय-समय पर देखते रहना मेरे लिये अनिवार्य है। मैं यद्यपि घर पर अधिक नहीं ठहर सकता तथापि कभी-कभी तो जाना ही पड़ता। गाँव के मेरे संगी-साथियों ने मुझे इस तरह परेशान देखकर किसी ओझा को दिखाने का जिक्र किया। गाँव के बड़े-बूढ़ों का विश्वास भूत प्रेत पर चलता आ रहा है अतः उनमें से बहुत से मेरे शुभचिन्तकों एवं स्नेहियों ने भी मुझे इस विषय में प्रोत्साहित किया कि मैं ओझा के पास अवश्य जाऊँ। अब मेरी चिकित्सा ने एक दूसरा ही रूप पकड़ा। बहुत से ओझा मेरे पास आये और उन्होंने बहुत सी मनौतियां मनवायीं, जिन्हें मैंने पूरी कीं फिर भी मेरे रोग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आखिर मैं घबड़ा कर घर से, गृहस्थी से, परिवार से भाग खड़ा हुआ। मैं अपने भुतैले जीवन से ऊब गया। मुझे अपने चारों तरफ

निराशा ही निराशा दिखाई देने लगी। मेरा मन एकदम उचट गया और अब मैं बनारस में आकर एक स्थान पर रहने लगा।

यहाँ मेरे जीवन के सारे नियम अव्यवस्थित थे। मैं निर्लक्ष्य सड़क पर चक्कर लगाया करता था। इसी बीच मेरा एक ऐसे सज्जन से परिचय अनायास हो गया जिन्होंने मुझे श्री पं० लालजी राम शुक्ल तथा उनकी संस्था काशी मनोविज्ञानशाला के विषय में बताया। मुझे शुक्लजी के विषय में सुनकर काफी संतोष हुआ और दूसरे ही दिन मैं इनसे मिलने के लिये यहाँ आया। यहाँ पहुँच कर मैंने शुक्लजी का दर्शन किया। उनका प्रथम व्यवहार बड़ा ही आकर्षक था। उन्होंने बड़ी ही सहानुभूति एवं प्रेम का व्यवहार मेरे साथ किया। मुझे पढ़ने के लिये कुछ मनोविज्ञान पत्रिकायें तथा पुस्तकें दीं और एक सप्ताह के बाद आने का आदेश देकर उन्होंने मुझे विदा कर दिया। जब मैं दूसरे सप्ताह इनके पास आया, तो उन्होंने मुझे चौकी पर लिटा कर आनापानसति का अभ्यास उन्होंने कराया। मुझे अपने श्वास-प्रश्वास पर ध्यान देकर चित लेट जाने का आदेश दिया और स्वयम् बीच-बीच में वे मेरे सिर से पैर तक हाथ फेरते गये। उनकी हाथ फेरने की प्रक्रिया से मुझे काफी सन्तोष हुआ; मेरे टूटे हुए दिल को काफी सहारा मिला। मुझे लगा मानो मेरा सम्पूर्ण रोग उनके हस्त-स्पर्श से ही समाप्त हो गया। मैं शान्त लेटा हुआ शान्ति की अनुभूति कर रहा था।

अभ्यास के बाद जब मैं उठा मुझे अपनी शरीर, जो नशे में झूमती-सी रहती थी, काफी हल्की लगी। उसी समय से मुझे सन्तोष हो गया कि मैं पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा। अब उन्होंने मुझको अपने विगत जीवन की ऐसी सभी घटनाओं को लिख लाने का आदेश दिया, जिसे मैं याद कर सकता था।

मुझसे स्वप्न लिखने को भी कहा गया। मुझे आनापान सति तथा मैत्री भावना का अभ्यास प्रतिदिन करने को कहा गया। आज भी मैं इन अभ्यासों को करता हूँ। अपने स्वप्नों को तथा अपनी जीवन घटनाओं को लिखकर शुक्ल जी को सुनाता हूँ। मेरे स्वप्न काफी विलक्षण होते हैं। पहले तो मुझे स्वप्न आते ही नहीं थे—फिर अनेक प्रकार के भयानक स्वप्न आने लगे। मैं कभी लड़ाई-झगड़े का स्वप्न देखता, कभी पानी में डूबने का स्वप्न देखता और कभी जानवरों-द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखता था। अब इन स्वप्नों में पर्याप्त सुधार हो गया है। पहले मुझे कई दिनों तक नींद भी नहीं आती थी अब नींद आने लगी है। पहले मुझे कभी-कभी सिर में असह्य पीड़ा हो जाती थी, अब जब कभी पीड़ा होती है, तो मैं शुक्ल जी से बात-चीत करता हूँ अथवा आनापान सति का अभ्यास करता हूँ, तो मेरी पीड़ा शान्त हो जाती है। मुझे पहले भय लगा रहता था कि कहीं मैं पागल न हो जाऊँ और मुझे विचार आता था कि मैं अपने रोग से कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। अब इस प्रकार के भय समाप्त हो गये हैं।

मैंने अपना जीवन मनोविज्ञानशाला के लिए समर्पित कर दिया है। शाला में आने वाले रोगियों की सेवा करना मैंने अपना प्रथम कर्तव्य बना लिया है। मैं अपने घर, जो यहाँ से सत्रह मील की दूरी पर है, शुक्ल जी के आग्रह करने पर ही जाता हूँ। पहले मैं घर के काम को बहुत ही उलझन के रूप में देखता था, परन्तु अब मैं अपनी खेती का प्रबन्ध अपनी पत्नी, लड़का और नौकरों की सहायता से भली प्रकार से कर लेता हूँ। मेरे स्वास्थ्य में दिन-प्रतिदिन सुधार हुआ है और मुझे आशा है कि मैं शाला में रहकर पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा।

प्रकरण १०

काम-कुटेव और स्वप्नदोष का उपचार

काम-कुटेव और स्वप्नदोष एक दूसरे के सहगामी हैं। जब एक की कमी होती है तो दूसरा बढ़ जाता है। दोनों प्रकार के रोग अत्यधिक आदर्शवादी लोगों को ही होते हैं। इनकी जड़ मनुष्य के चेतन मन में नहीं रहती अपितु उसके अचेत मन में रहती है, अतएव चेतन मन अथवा इच्छा-शक्ति के प्रयास से ये रुकते नहीं, वरन और भी जटिल रूप धारण कर लेते हैं। काम कुटेव रुक जाने पर स्वप्नदोष बन जाता है और कभी-कभी यह प्रमेह का रूप भी धारण कर लेता है। इस प्रकार के रोग का उपचार वैद्य डाक्टरों से छिपे-छिपे नवयुवक कराते हैं। परन्तु इससे रोग प्रायः कम न होकर बढ़ ही जाता है। इस प्रकार के रोगों के पीछे पाप-भावना ग्रन्थि के रूप में पड़ी रहती है। जब तक इसका रेचन नहीं होता और जब तक रोगी जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं अपनाता तब तक यह रोग नहीं जाता।

काम-कुटेव और मानसिक संघर्ष

प्रत्येक व्यक्ति को किशोरावस्था के प्राप्त होने पर कामवासना का अनुभव होने लगता है। इससे प्रेरित होकर बहुत से बालक आत्म-रति करने लगते हैं अथवा उनमें समलिंगी काम-क्रीड़ा की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यह कामवासना का स्वाभाविक विकास है। इस प्रकार की चेष्टायें नैतिकता के प्रतिकूल होती हैं।

अतएव इन चेष्टाओं के लिये कुछ बालक अपने आपकी भर्त्सना करते हैं। जिस मनुष्य के नैतिक संस्कार जितने प्रबल होते हैं, उसकी आत्म-ग्लानि की भावना उतनी ही प्रबल होती है। हस्तमैथुन करनेवाले कुछ बालक इस कुटेव के कुपरिणामों के विषय में भयंकर बातें, "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" जैसी पुस्तकों में पढ़ लेते हैं। कुछ वैद्य लोग भी अपनी दवाइयों को बेचने के लिये काम कुटेव के बड़े-बड़े भयंकर कुपरिणाम चित्रित करते हैं। मन की दुर्बल अवस्था में किशोर बालकों के मन के अन्तर्पटल में ये भयानक बातें बैठ जाती हैं। फिर किशोर बालक हस्तमैथुन करते हुए उसके कुपरिणाम पर भी विचार करता है। कुपरिणामों को जानने से बालक की इच्छाशक्ति बलवान् नहीं होती, अपितु और दुर्बल हो जाती है। इसके कारण वह अपने आप में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों की कल्पना करने लगता है, फिर वास्तव में उसे वे रोग हो भी जाते हैं। इससे कितने बालकों और नवयुवकों को कुपच, कोष्टबद्धता, पेट की पीड़ा, हृदय के रोग, थकावट आदि शारीरिक रोग और अकारण भय, चिन्ता, स्मृति-ह्रास, चित्त की एकाग्रता की कमी, अनिश्चय मनोवृत्ति आदि मानसिक रोग हो जाते हैं। ये सभी प्रकार के रोग स्वाश्रितमैथुन के सीधे परिणाम नहीं होते; ये उस क्रिया के बाद आत्म-ग्लानि के अवसर पर आनेवाले अनेक प्रकार के भयावने विचारों के परिणाम होते हैं। ये विचार युवक के आत्म-निर्देश बन जाते हैं। फिर मनुष्य के जैसे भले या बुरे आत्म-निर्देश होते हैं, उसका शरीर और मन भी वैसा ही बनता है। इस प्रकार काम-कुटेव से नवयुवक की जो हानि हो सकती है, उससे अधिक हानि उन पुस्तकों से होती है, जो इस क्रिया के कुपरिणामों को सजीवता के साथ चित्रित करके इससे नवयुवकों अथवा किशोर बालकों को रोकने की चेष्टा करते हैं।

काम-कुटेव का मनोवैज्ञानिक कारण जब तक न जाना जाय, उसका उचित उपचार होना संभव नहीं। किशोर बालकों के अभिभावक जब किसी बालक को स्वास्थ्य में गिरता देखते हैं तो वे समझ जाते हैं कि उसे वीर्य-स्खलन की बुरी आदत लग गई है। वे फिर ऐसी आदत के दुष्परिणाम को उसे बताते, इस पर कोई पुस्तकें पढ़ने को देते अथवा बालक की भर्त्सना करते हैं। परन्तु इस प्रकार यह आदत कम न होकर और भी जटिल हो जाती है। बालक उसकी भयंकरता को जब ठीक से जान लेता है तो वह उसे बहुत ही अधिक रोकने का प्रयत्न करता है; परन्तु ये प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं।

जब हम काम-कुटेव के भीतरी कारण का पता लगाने की चेष्टा करते हैं तो हम उसे बालक के भीतरी असंतोष में पाते हैं। ऐसे तो सभी बालकों को किशोर अवस्था के आने पर काम-व्यापार सम्बन्धी सहज उत्तेजना होती है और इस उत्तेजना के निकास का एक मार्ग हाथ से ही वीर्य-स्खलन होता है, परन्तु कुछ समय के प्रयोग के बाद यह प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। परन्तु जिन बालकों के मनसूबे बड़े ऊँचे होते हैं और अपने मनसूबों के अनुसार जिन्हें आत्मप्रकाशन की सुविधायें नहीं मिलती उनमें यह आदत जटिल बन जाती है। काम-कुटेव की आदत विशेष कर उन बालकों में जटिल रूप धारण करती है जिन्हें पहले तो प्यार के वातावरण में रखा गया हो और बाद में जिनके साथ बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया हो। जब व्यक्ति अपने जीवन में असफलता की अनुभूति करता है तो यह आदत प्रबल हो जाती है। किशोर बालकों को यह असफलता अपने अभिभावकों से प्रेम और प्रोत्साहन न मिलने की ही असफलता है।

प्रत्येक बालक अपने पिता जैसा ही बनना चाहता है। पिता भी बालक को अपने जैसा धनी, विद्वान, कार्य-कुशल समाज में सम्मानित बनाना चाहता है। यदि बालक अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में अपने आपको बढ़ते पाता है तो वह स्वयं का आदर उसी प्रकार करता है जिस प्रकार उसका पिता उसका आदर करता है। परन्तु जब वह अपने आपको इस लक्ष्य की प्राप्ति में आगे बढ़ते नहीं देखता तो वह आत्म-भर्त्सना करने लगता है। यह आत्म-भर्त्सना उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार की आत्म-भर्त्सना उसका पिता उसकी करता है। इस आत्म-भर्त्सनां का परिणाम ही काम-कुटेव का लग जाना और जटिल हो जाना है। मनुष्य में आत्म-सम्मान से संयम की शक्ति आती है और आत्म-भर्त्सना से वह विनष्ट हो जाती है। जो मनुष्य आत्म-विश्वास खो देता है उसकी मानसिक शक्तियाँ पुरोगामी न बनकर प्रतिगामी बन जाती हैं। इसी के परिणामस्वरूप मनुष्य निन्द्य प्रकार के सुख में लग जाता है। इन सुखों को अनुचित समझ कर भी वह उनसे मुक्त नहीं हो पाता। आत्म-विश्वास की उत्पत्ति मनुष्य की व्यक्तिगत वस्तु नहीं, वरन् सामाजिक वस्तु है। जब बालक की छोटी-छोटी बातों का मूल्यांकन करके उसके अभिभावक उसे रचनात्मक कामों में प्रोत्साहित करते हैं, तो बालक का आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है और जब उसके कामों को उपेक्षा की दृष्टि से अभिभावक देखते हैं अथवा इनके लिये उसकी आलोचना करते हैं, तो बालक का आत्म-विश्वास विकसित ही नहीं होता। ऐसी अवस्था में बालक में अनेक प्रकार की चरित्र की बुराइयाँ अपने आप आ जाती हैं। जब किसी व्यक्ति को उच्च कोटिका सुख नहीं मिलता तब वह निम्नकोटि के सुख में पड़ जाता है।

मनुष्य के सुख दो प्रकार के होते हैं—एक ग्रहणात्मक और दूसरे प्रकाशात्मक अथवा रचनात्मक। सभी विषय-सुख अथवा संवेदना-जन्य सुख (स्पर्श सुख) ग्रहणात्मक होते हैं और क्रिया करने के सुख रचनात्मक होते हैं। मानसिक विकास की प्रगति स्पर्श-सुख—ग्रहणात्मक सुख से रचनात्मक सुख अथवा क्रिया-सुख की ओर होती है। सामाजिक प्रोत्साहन से मनुष्य स्पर्श-सुख को छोड़ कर रचनात्मक-सुख की प्राप्ति में लग जाता है। इससे वह अपना और समाज का कल्याण करता है। स्पर्श-सुख की चाह बढ़ने पर मनुष्य को शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं। वह दूसरों की सम्पत्ति हरण करना चाहता है। वह उनके सुख की परवाह नहीं करता। इस प्रकार वह अपराधी भी बन जाता है। इसके प्रतिकूल परिणाम रचनात्मक सुख की खोज के होते हैं। रचनात्मक सुख-प्राप्ति की चेष्टा से मनुष्य अपने आपको और दूसरों को ऊँचा उठाता है। जिस मनुष्य को क्रिया के करने में ही आनंद की अनुभूति होने लगे, उससे अधिक भाग्यवान कौन है? वह सभी प्रकार के परावलम्बन से मुक्त हो जाता है। समाज के निम्न श्रेणी के लोग उसके काम के फल से लाभ उठाते हैं और उच्च श्रेणी के लोग उसका अनुकरण करके लाभ उठाते हैं। अतएव व्यक्ति और समाज के लिये यही हितकर है कि मनुष्य रचनात्मक काम में लगा रहे। जब मनुष्य ऐसे कामों में नहीं लगता तो उसकी मानसिक शक्ति स्पर्श-सुख की ओर प्रवाहित होने लगती है। इसी का परिणाम अनेक प्रकार के काम-कृत्यों में पड़जाना है। यदि बालक को सदा रचनात्मक काम में लगाये रखा जाय तो उसे किसी प्रकार की काम-कुटेव न लगे।

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि रचनात्मक काम वह काम है जो व्यक्ति स्वयं की प्रेरणा से करता है। ऐसे काम में

मनुष्य को स्वतंत्रता की अनुभूति होती है। उससे उसकी इच्छा-शक्ति बलवान होती है और उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है। बाहर से लादा गया काम रचनात्मक काम नहीं है। वह न तो मनुष्य की इच्छा-शक्ति और न उसके आत्म-विश्वास को बढ़ाता है। ऐसे कामों का प्रेरक कोई सद्भाव न होकर बाहरी दण्ड का भय ही रहता है। डर के वातावरण में रहने वाले व्यक्तियों में वह मानसिक शक्ति होती ही नहीं, जो उन्हें काम-कुटेवों में पड़ने से रोक सके।

मनुष्य जैसे वातावरण में रहता है उसी प्रकार की उसकी नैतिक बुद्धि अथवा मूल्यांकन करने की बुद्धि भी बन जाती है। यदि उसके माता-पिता, गुरुजन आदि ने उसके कामों का उदारता के साथ मूल्यांकन नहीं किया, तो वह स्वयं भी अपने कामों का मूल्यांकन उदारता से नहीं करता। वह सदा अपने आपको कोसते ही रहता है। ऐसे ही व्यक्ति में जटिल काम-कुटेव लग जाती है। देखा गया है जिस बालक में अत्यधिक आदर्श-वादिता होती है उसी में काम-कुटेव भी जटिल रहती है और बालक जितना ही इस आदत को घृणित समझता है वह उसे उतनी ही प्रबलता से पकड़े रहती है।

काम-कुटेव का एक सामान्य कारण पिता, चाचा अथवा बड़े भाई का प्यार न मिलना है। जब बालक को घर का प्यार नहीं मिलता तो वह इसी प्यार को घर से बाहर खोजता है। वह फिर अपने किसी ऐसे मित्र को अत्यधिक प्यार करने लगता है जो उसे किसी प्रकार साथ खिलाता अथवा अपने कामों में प्रोत्साहित करता है। यह प्रेम शक्ति की पुरोगामिता है।

परन्तु इस प्रकार के प्रेम का एक परिणाम समलिंगी काम-कृत्य भी होता है। कुछ समय बाद जब बालक का स्वाभिमान जाग्रत होता है अथवा उसकी नैतिक बुद्धि उसे त्रास देती है तो वह इसे छोड़ देता है। इस प्रकार के काम-कृत्य को वह पाप की दृष्टि से देखने लगता है। अब यदि बालक का वातावरण उसके अनुकूल रहा तो उसकी संचित काम-शक्ति किसी रचनात्मक कार्य में प्रकाशित होती है, अन्यथा वह पुरोगामी न बनकर काम-कुटेव (आत्म-रति) में प्रगट होती है। इस प्रकार की काम-कुटेव अनेक यत्न करने पर भी नहीं जाती। जब तक इस कुटेव के पीछे दबी समलिंगी-प्रेम-सम्बन्धी पाप-भावना की ग्रन्थि का रेचन नहीं होता, तब तक यह नहीं छूटती। इस ग्रन्थि को समाप्त करने के लिये बालक को स्नेह के वातावरण में रखना आवश्यक होता है। बालक के अचेतन मन में बड़ों के प्रेम की भूख रहती है। यदि बालक की इस भूख की तृप्ति इस प्रकार हो जाय, जिससे उसे आत्म-भर्त्सना का अनुभव न हो, तो बालक में सहज में आत्म-विश्वास आजाय और वह उस संयम को प्राप्त कर सके जिसके अभाव में उसे अनेक मानसिक क्लेश होते हैं। प्रेम-चिकित्सा के प्रयोग से लाभान्वित एक नव युवक का अनुभव यहां उल्लेखनीय है। यह युवक अपनी बुद्धि में विश्वास खो चुका था। उसे अनेक प्रकार के कुविचार त्रस्त करने लगे थे। उसके हौंसले बड़े ऊँचे थे और जब उसने अपने आपको पतन की ओर जाते देखा, तो उसने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया। इस ओर उसने कुछ यत्न भी किया। इसी बीच उनकी भेंट हमसे हुई। प्रेम-चिकित्सा के प्रयोग से न केवल उसका खोया आत्म-विश्वास फिर से वापस आ गया, वरन वह अपनी उस बुरी आदत से भी मुक्त हो गया

जिसके कारण उसे अनेक प्रकार का मानसिक क्लेश हुआ था। युवक लिखता है—

"जब मैं कालेज में पढ़ने के लिये आया तो मुझे होस्टल में एक अपरिचित साथी के साथ रहने का आदेश हुआ। मैं किसी को भी जानता न था, इस कारण इस आदेश को मैंने मान लिया। साथी अच्छा था, भला था। परन्तु उसके पास बहुत से उसके साथी आया करते थे, उनमें से एक बहुत ही सुन्दर था। मन ही मन मैं उस लड़के को बहुत प्यार करने लगा और उसके साथ दुष्कर्म की भी इच्छा रहने लगी। परन्तु मेरी कुछ ऐसी मनोवृत्ति रही है कि जिसे इस प्रकार का प्रेम करता हूँ और बहुत अधिक पसन्द करता हूँ, उससे इच्छा रहते हुए भी न बात ही करता हूँ और न उसकी ओर देखता ही हूँ।

मेरे कमरे के साथी के पास कोई-न-कोई साथी आता ही रहता था। उसका सुन्दर मित्र भी अक्सर आता ही रहता था और मुझसे भी बातें करने की कोशिश करता था। परन्तु मैं अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उससे बातें करते हुए झेंपता था और उसकी बातों का भी ठीक प्रकार से उत्तर नहीं दे पाता था। उसके सामने मेरी जबान लड़खड़ा जाया करती थी।

कभी-कभी वह सुन्दर लड़का मेरे कमरे में अपने सब साथियों के सामने भी बातें करता। मैं उसकी बातों का ठीक प्रकार से उत्तर नहीं दे पाता था, क्योंकि ऐसे लड़कों के सम्मुख मेरी झेंपने की मनोवृत्ति थी। आपस में मित्र लोग हँसी-मजाक तो करते ही हैं और एक दूसरे की बातों पर हँसते भी हैं। इसी प्रकार मेरे रूम-पार्टनर के साथी लोग कभी-कभी मेरी बात पर भी हँस दिया करते थे। मैं समझने लगा कि ये लोग मुझे बेवकूफ समझने लगे हैं क्योंकि मैं अच्छी प्रकार किसी

प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता हूँ। मेरी जबान लड़खड़ा जाती थी और मैं पीला पड़ जाता था।

मैं पहले अपने पार्टनर के सुन्दर मित्र के अतिरिक्त सभी साथियों से अच्छी प्रकार से बातें कर लिया करता था, परन्तु वे लोग जब उस सुन्दर लड़के के साथ रहा करते थे, तो मैं उनकी बातों का भी उत्तर ठीक प्रकार से देने में असमर्थ रहता था। कभी ये लोग मेरी बातों पर हंस दिया करते थे। मैं समझने लगा कि ये सब लोग मुझे वेवकूफ समझते हैं और इसलिये मैं उनमें से प्रत्येक से घृणा करने लगा। अब मैं उनसे व्यक्तिगत बातें करना भी पसन्द न करता था। यदि वे मुझसे कभी-कभी अकेले बातें भी करते, तो मैं यह समझकर कि यह मुझे वेवकूफ समझते हैं, बहुत सोच समझकर ठीक प्रकार से उत्तर देता था। परन्तु मैं चाहे जितना भी सोच समझकर उत्तर दूँ, बात करने के पश्चात् मुझे कोई न कोई ऐसी बात जरूर मिल जाया करती थी, जिसके कारण मैं समझा करता था कि मैंने यह उत्तर ठीक नहीं दिया और वह इस कारण मुझे और भी अधिक वेवकूफ समझने लगे होंगे।

अब आगे ऐसी अवस्था आई कि मैं जिस किसी से भी बातें करता था, बातों के पश्चात् मुझे ऐसा दोष मिल जाता, जिससे मैं समझता कि मैंने यह उत्तर ठीक नहीं दिया और इस कारण वह मुझे वेवकूफ समझने लगा होगा। इस कारण यह अवस्था आई कि मैं जिससे भी बातें करता, बातों के बाद मैं समझता कि वह मुझे वेवकूफ समझता है। मैं समझने लगा कि जितने भी आदमी मेरे सम्पर्क में रहते हैं, वे सब मुझे वेवकूफ समझते हैं; इसके अतिरिक्त मेरे पार्टनर के साथी तो वेवकूफ समझते ही हैं। इस समय तक यद्यपि मैं यह समझता था कि दूसरे

मुझे बेवकूफ समझते हैं, परन्तु हृदय से मैं अपने को बेवकूफ नहीं समझता था। अब मैं न तो किसी से बातें ही करना पसन्द करता था और न कमरे में ही रहना पसन्द करता था। मेरे पार्टनर के साथी अक्सर कमरे में आते रहते थे, इस कारण मैं हर समय बाहर घूमता रहता था।

हमारे होस्टल में सोने के लिये भारी-भारी तख्त मिले थे। रात को सोने के लिये बाहर तो निकाले नहीं जा सकते थे, इस कारण अन्दर ही सोना पड़ता था, जहाँ गर्मी के कारण शान्त नींद नहीं आती थी और इस कारण शरीर थका-थका सा रहता था। कालेज में बीच-बीचमें एक दो घण्टा ख़ाली रहा करता था, जिसमें धूप में चलकर मैं होस्टल आ जाया करता था। इन सब कारणों से मेरे कभी-कभी माथे में दर्द हो जाया करता था और पढ़ने में मन नहीं लगता था। मैं पढ़ने में जितना चतुर अपने दसवें दर्जे में था, उसका शतांश भी अपने ग्यारहवें और बारहवें दर्जे में नहीं रह गया था और तेरहवें चौदहवें में उससे भी कम महसूस करने लगा। मैं थका रहता था। मैं अशान्त नींद के कारण और समझने लगा मस्तिष्क कमजोर हो रहा है। मैंने किताबों में पढ़ रखा था कि जो खराब काम करते हैं, उनका मस्तिष्क और शरीर खराब हो जाता है। मैंने अपने जीवन में हस्तमैथुन बहुत अधिक किया था, इसलिये मैं समझने लगा कि मेरा मस्तिष्क बहुत खराब हो गया है और दूसरे लोग जो मुझे बेवकूफ समझते हैं, वह ठीक ही समझते हैं। इस समय से पहले मुझे अपने मस्तिष्क पर बहुत विश्वास था।

कुछ समय पश्चात् मुझे ऐसा लगा कि मेरे पेशाब में कोई लाल या पीली चीज जा रही है। मैंने उसे खून समझा।

मैंने अपने को नपुंसक और छोटी जननेन्द्रियवाला भी समझना शुरू कर दिया। वह मुझे कभी तो कम दिखाई देने लगती थी, कभी अधिक। अब मुझे बड़ी चिन्ता हुई। मैं समझने लगा कि खराब कामों के कारण ही यह मुझे हुआ है और मेरी ऐसे रोगों के विषय में कुछ ऐसी धारणा थी कि ये रोग असाध्य है और ठीक नहीं हो सकते।

इसके पश्चात् मेरे मस्तिष्क में यह बात भी बैठ गयी कि दिमाग जो खराब हो जाता है, वह कम ठीक होता है; चाहे कितनी दवाई करावें, वह अपनी पहले की दशा में नहीं आ सकता। मेरा मस्तिष्क पहले तो बहुत अच्छा था और मैं अपने जीवन को सदा उच्च बनाने के स्वप्न देखा करता था। अब तो मुझे बड़ा धक्का लगा और मैं समझने लगा कि मेरा दिमाग बेकार हो चुका है और शारीरिक रोग ऐसा लगा है कि जो ठीक नहीं हो सकता। इसी कारण मैं अब बड़ा भी नहीं हो सकता और जीना भी बेकार है। अब तो मैं इस पृथ्वी के लिये भार स्वरूप हूँ। अपने जीवन को बेकार समझ कर मैंने कई बार (तीन बार) आत्म-हत्या का भी प्रयत्न किया, परन्तु साहस न होने के कारण निश्चित स्थान से जाकर भी लौट आया। परन्तु फिर भी मेरे मन में एक द्वन्द्व उठता रहता था कि क्या किया जाय, क्या न किया जाय। पढ़ने-लिखने में तो बिल्कुल मन लगता ही न था।

ठीक इसी समय मुझे श्रीलालजी राम शुक्लजी की एक पुस्तक 'आधुनिक मनोविज्ञान' पढ़ने को मिली। उससे मुझे मालूम हुआ कि ऐसा भाग्यहीन मैं ही नहीं अपितु बहुत से नवयुवक इस अवस्था में होते हैं और लेखक महोदय ने उनका इलाज भी किया है और करते हैं। मुझे वह पुस्तक पढ़कर बड़ी शान्ति मिली। शीघ्र ही लेखक को एक पत्र लिखा, जिसका कि फ़ौरन ही उत्तर

आया जिसमें उन्होंने मुझे अपने घर आने के लिये आमन्त्रित किया था।

इसी बीच में मुझे एक ज्योतिषी मिले। मैंने उन्हें अपना हाथ दिखाया तो उन्होंने मुझे भूत की बातें सही बताकर कहा कि तुम भविष्य में बहुत बड़े आदमी होनेवाले हो। उनकी बातों से मुझे बहुत शांति मिली और हृदय से कुछ पुराने विचार निकल गये।

अब मैं लेखक महोदय से मिला। उन्होंने मुझे बहुत से पत्र और अपनी पुस्तकें दिखाईं और कहा कि यह सब मानसिक रोग हैं और सब दूर हो सकते हैं। लेखक महोदय की बातें बहुत प्रेमपूर्ण थीं, जिनका मुझ पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उनके पहले ही दिन के कहे हुए एक वाक्य का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। 'जब कि निर्जीव परमाणुओं का एक समूह पृथ्वी के इतने बड़े हिस्से को नष्ट कर सकता है, तो क्या कारण है कि मनुष्य का वह शरीर जो निर्जीव अणुओं के अतिरिक्त एक शक्ति—ज्ञानशक्ति—अधिक ही रखता है कोई बड़ा कार्य इस संसार में न कर सके।' मैंने सोचा कि भले ही मैं दूसरे मनुष्यों से कम हूँ परन्तु फिर भी उन निर्जीव अणुओं से जिनसे एटम बम बनता है, तो कम नहीं। मैं भी बहुत कुछ कर सकता हूँ, मुझे निराश नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त मेरे प्रति लेखक का व्यवहार बहुत सुन्दर रहा। उन्होंने मुझे सैकड़ों पत्र सुनाये, अपनी किताबें पढ़ने को दीं और बताया कि यह मानसिक रोग है और यह बिल्कुल ठीक हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा, 'बचपन में सभी गल्तियाँ करते हैं और उन्होंने भी की हैं और फिर भी मस्तिष्क किसी से कम

नहीं है।' उन्होंने कहा ये मामूली बातें हैं। थोड़े संयत रहने से दिमाग फिर पहले जैसा ही हो जाता है। यह बात मैंने एक दो डाक्टरों से पूछी। उन्होंने भी ऐसा ही बताया और कहा कि शरीर का रोग भी इससे ठीक हो सकता है। अब तो मेरे दिमाग के पुराने सारे विचार दूर हो गये और मैं सोचने लगा कि मैं अब भी इस संसार में बहुत कुछ कर सकता हूँ। निराशा दूर हुई और आशा का सितारा चमका। न मैंने किसी का इलाज कराया और न कुछ और ही किया। परन्तु सबको मानसिक रोग की कसौटी पर कसकर भूलने लगा और अपने को फिर पहले जैसे ही शरीर और मस्तिष्कवाला समझने लगा। आज मैं स्वस्थ हूँ। न पेशाब का रोग ही दिखलाई देता है और न मस्तिष्क की कमी। पढ़ाई में खूब तबियत लगती है। अब कोई मानसिक रोग खड़ा ही नहीं होता और यदि खड़ा भी होता है, तो मानसिक रोग समझ कर भूल जाता हूँ। इस कारण पूर्ण स्वस्थ हूँ। बीच में लेखक महोदय का व्यवहार मेरे प्रति बड़ा सुन्दर रहा। वह स्वयं आकर मुझसे मिलते रहे और बताया कि मैं भी ऐसा ही रह चुका हूँ। इसमें कोई संदेह नहीं कि तुम फिरसे खड़े हो सकते हो। उन्होंने मुझे कुछ योग इत्यादि करने के लिये कहा; परन्तु मैंने कुछ नहीं किया। अपने रोग को मानसिक रोग ही समझ कर भूल गया और अब पूर्ण स्वस्थ हूँ।"

काम-कुटेव को रोकने के सरल उपाय

काम-कुटेव को रोकने के लिये पहली बात आवश्यक यह है कि बालक अथवा नवयुवक को सदा रचनात्मक कार्य में लगाकर रक्खा जाय। काम-कुटेव जब जटिल आदत का रूप ले लेती है तब उसके भयावने चित्र को सामने न लाकर उसके प्रति उदासीनता का अभ्यास रोगी से कराया जाय। जो व्यक्ति जितना ही इसके

लिये पश्चात्ताप करता है, उसका यह रोग उतना ही बढ़ता है। पश्चात्ताप करने में भी मनुष्य की मानसिक क्रिया वही होती है, जो कामकृत्य करते समय होती है। कामकृत्य के लिये पश्चात्ताप करना विकृत रूप से कामकृत्य ही करना है। इससे कामकृत्य की आदत निर्बल न होकर प्रबल ही होती है।

काम-कुटेव की आदत एक प्रकार का रोग है। इस रोग का कारण प्रायः घर का प्रेम-हीन वातावरण रहता है। जिस बालक को पिता का पर्याप्त प्रेम और प्रोत्साहन नहीं मिलता उसे यह रोग लग जाता है। पिता अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के प्रेम अथवा प्रोत्साहन मिलने पर यह रोग छूट जाता है। जो व्यक्ति इन बातों के लिये बालक की कटु आलोचना करते हैं वे बालक का कल्याण न करके उसका विनाश ही करते हैं। प्रेम और प्रोत्साहन के अभाव के कारण बालकों को समलिंगी काम क्रीड़ाओं की आदत लगती है। यदि प्रारम्भ से बच्चों को बड़ों का उचित प्रेम मिले तो उनमें ये आदतें न लगें। जब बालक का रचनात्मक कार्य में मन लगता है, तब ये सभी आदतें अनायास छूट जाती हैं।

काम-कुटेव और स्वप्नदोष

वार-बार आत्मग्लानि करने पर कितने ही बालकों की कामकृत्य की आदत छूट जाती है, परन्तु इस आदत के छूटते ही उन्हें स्वप्नदोष का रोग लग जाता है। जैसे-जैसे रोगी को स्वप्नदोष होते हैं, वह आत्मग्लानि का अधिकाधिक अनुभव करता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति प्रतिदिन कमजोर होती जाती है और स्वप्नदोष अधिकाधिक होने लगते हैं। इनके बढ़ने से शारीरिक दुर्बलता बढ़ती है और कुपच का रोग हो

जाता है। यदि कोई बालक घर का प्यारा हुआ, तो घर के लोग उसके स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता करते हैं। वे उसके दुबले होने के बारे में बार-बार पूछते हैं। वे सोचते हैं कि लड़का किसी व्यभिचार की आदत में पड़ गया है। जैसे-जैसे वे बालक के स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता करते हैं अथवा आलोचना करते हैं वह और भी रोगी होता जाता है। उसे अब एक नया भय सवार हो जाता है। उसे विचार आने लगता है कि सम्भवतः उसे क्षय रोग हो जायगा। इस भय के कारण वह सूखने लगता है। अपने गिरते हुए स्वास्थ्य के विषय में जैसे-जैसे बालक अथवा युवक चिंता करता है, उसका स्वास्थ्य और गिरता जाता है। कभी-कभी ऐसे युवक को वास्तविक शारीरिक रोग नहीं रहता, वह शारीरिक रोग की कल्पना करता है और अपने ही आत्म-निर्देश के कारण यह वास्तविक रोग से पकड़ जाता है। स्वप्नदोष की वृद्धि किस प्रकार होती है इसका एक चित्र हाल के आये एक नवयुवक के निम्नलिखित पत्र से प्रत्यक्ष है—

"श्रीमान्‌जी,

मेरे जीवन की वर्तमान अवस्था विचारणीय है। मेरी उम्र १६ वर्ष की है, मैं ब्राह्मण कुल का विद्यार्थी हूँ। अभी विद्याध्ययन कर रहा हूँ। जब मैं १४-१५, वर्ष की अवस्था का था, अज्ञानवश कुसंगति में पड़ गया और संग में रहनेवाले लड़कों की देखा-देखी जीवन-दीप को बुझादेनेवाले भयंकर हस्तमैथुन के जाल में फँस गया। दिनोंदिन शारीरिक दशा कमजोर होती गई और कामदेव का पूरा आतंक शरीर पर जमता गया। इस शत्रु से परास्त होकर बार-बार ग्लानि होती थी, लेकिन वासना जागृत होने पर सब ज्ञान ताक में धरा रह जाता था, और वीर्य नाश कर देता था।

इसी प्रकार पाँच वर्ष विषय-वासना के अन्तर्गत वीते। कई अनुभवी साधुओं के पास गया और उन्हें सब वृत्तान्त सुनाये, इससे छुटकारा पाने के लिये अनेक प्रयोग सीखे, जैसे शुद्ध विचार, ईश्वर चिन्तन, सब में भ्रातृ-भाव रखना, शीर्षासन और प्राणायाम करना इत्यादि। मैं इन्हें कर रहा हूँ और छः माह से मैंने हस्तमैथुन छोड़ दिया, परन्तु जिस दिन से मैंने हस्तमैथुन छोड़ा है, उसी दिन से मुझे स्वप्नदोष होने लगा। यह विकार ८-१० दिन में एक बार हो जाता है। शरीर दिनोंदिन पतन की अवस्था पर जा रहा है। अभीतक कोई आशातीत फल नहीं हुआ। कब्जियत बहुत रहती है, इससे मन हरदम उदास और मलिन रहता है।"

उक्त पत्रसे स्पष्ट है कि स्वप्नदोष का कारण व्यक्ति की हस्त-मैथुन अथवा दूसरे प्रकार के व्यभिचार की आदत रहती है। काम क्रीड़ा के प्रति जब रोगी के मन में प्रबल पाप-भावना उत्पन्न हो जाती है और जब वह इस आदत को दबाने की चेष्टा करता है तो वह स्वप्नदोष में प्रकाशित हो जाती है, यदि ऐसे व्यक्ति के प्रयत्न करने पर स्वप्नदोष बन्द हो जायँ, तो उसे किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक रोग हो जाता है। उसे भूत का भय, क्षय रोग का भय, अथवा स्मृति ह्रास का भय हो जाता है। स्वप्नदोष रोकने के लिए अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन किया जाता है। इससे सामयिक लाभ भी होता है। कितने ही युवकों का औषधियों के सेवन से रोग और भी बढ़ जाता है। वे अपना आत्म-विश्वास खो देते हैं। उनकी मानसिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है। इस प्रसंग में हमारे उपचार में आए एक नेपाली नवयुवक का अनुभव उल्लेखनीय है। इस युवक ने अपने सभी मनोभावों को लिखकर हमें बताया। उसने शान्तभावना और मैत्रीभावना का अभ्यास विधिवत किया। इसके परिणाम-स्वरूप उसे पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ हुआ। युवक लिखता है—

"आज से कुछ दिन पूर्व मुझे ज्ञात हुआ कि मैं मानसिक एकाग्रता-रहित हो गया हूँ। मेरी स्मरण शक्ति भी जाती रही है। इसके अलावे मेरे हृदय की धड़कन दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। मुझमें आत्म-हीनता की भावना बहुत प्रबल थीं। जब मैं किसी व्यक्ति के सामने खड़ा होता था तो मेरा हृदय कुछ दहल जाता था। मैं यह अनुभव करने लगता था कि कहीं मैं गलती तो नहीं बोल रहा हूँ, अर्थात् मेरे जो विचार आ रहे हैं कहीं गलत तो नहीं हैं। इसके अलावे मैं किसी पुस्तक को एकाग्रतापूर्वक नहीं पढ़ सकता था। मैं अच्छी तरह अपने भाव व्यक्त नहीं कर सकता था। यद्यपि मैं यह जानता था कि मेरे भाव दूसरों से कहीं सुन्दर और महान् हैं, परन्तु जब मैं लिखता था तो वे भाव उच्च होनेपर भी मुझे अच्छे नहीं लगते थे। मैं तो सदा यह अनुभव करता था कि मैं सब से खराब लड़का हूँ। क्लास में उदासीन की भाँति बैठा रहता था। घर में अपने आपको कोसता था। इसका कारण यह था कि मैं मैट्रिक क्लास में नेपाल बोर्ड में फर्स्ट-क्लास फर्स्ट आया था और मैं यह सोचता था कि मैं यदि क्लास में कम नम्बर पाऊँगा तो मेरी सभी भर्त्सना करेंगे।

मुझे अपने ऊपर आत्मविश्वास नहीं था। चित्त सदा अशान्त रहता था। मुझे कभी यह भी ध्यान आता था कि मैं तो फर्स्टक्लास रहा हूँ तो फिर क्यों इस तरह निराश होता हूँ। मुझे तुरत अपने मन से जवाब मिलता था "अरे! तू तो सिर्फ १०० या १५० लड़कों में फर्स्ट आया है।" इसके पहले मैंने अपने साथियों से सुन लिया था कि नेपाल बोर्ड के छात्र जो फर्स्ट डिवीजन में पास करते हैं, वे पटना युनिवर्सिटी के सेकेंड डिवीजन से भी खराब होते हैं। अब मैं सदा अशान्त

और दुःखी रहने लगा। मैं मनयोग के लिये सदा घड़ी को आँख के सामने रख चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करता था। लेकिन ये भावनायें, जो अग्नि की भाँति जल रही थीं, कब रुकने-वाली थीं। वह उन बन्धनों को तोड़ देती थी। आत्मा भी अन्दर सदा कोसती रहती थी। इन सब बातों के पहले मुझे स्वप्नदोष वाली बीमारी थी। क्या करता? कुछ नहीं सूझता था। इसी प्रकार दिन कट रहे थे। मेरा मित्र केशर बहादुर था। वह भी मेरी तरह पीड़ित था। वह भी मेरी ही भाँति हो गया था। हम दोनों इस बीमारी को दूर करने में काफी प्रयत्नशील थे।

मुझे इस बीच स्वप्नदोष होने लगे थे। मैं चेष्टा करता था कि किसी प्रकार की कल्पनायें मन में न लाऊँ, परन्तु बुरी कल्पनायें मन में आ ही जाती थी। अधिक प्रयत्न करने पर बुरी कल्पनाओं का जाग्रतावस्था में आना बन्द हो गया परन्तु अब स्वप्न में अनेक प्रकार की काम-क्रीडायें चित्रित होने लगी। स्वप्नदोष को रोकने की जितनी ही चेष्टा की जाती यह और भी बढ़ता। कभी-कभी बिना स्वप्न चित्र के भी स्वप्नदोष हो जाता था। मुझे निश्चय हो गया कि मेरे मानसिक पतन का यही कारण है। परन्तु उपाचार का कोई मार्ग सुझाई नहीं देता था।

हम दोनों ने सिनेमा देखना और उपन्यास पढ़ना छोड़ दिया। जो खाना स्वप्नदोष को बढ़ा सकता था उसे भी छोड़ दिया। पूरे संयमी बने और हम उस बीमारी से कुछ अच्छे होते हुए मालूम देने लगे। हम दोनों के सोचने और बातचीत का विषय चाहे तो दार्शनिक रहता था या राजनैतिक। मेरा मित्र अखबार अच्छी तरह देखता था। अखबार में उसने मनोविज्ञान-

शाला का नाम देखा जो काशी में कुछ दिन पूर्व खुली थी। मेरे उस मित्र को हकलाने की बीमारी थी। वह तुरन्त इस मनो-विज्ञानशाला के संस्थापक से मिला। उसने अपने हृदय की सारी बातें आधी छिपाते हुए और आधी कहते हुए कह डाली। वह उस संस्था की ओर कुछ झुक गया। मुझे इसमें कुछ कौतूहल सा लगा और मैंने उससे सारी बातें पूछीं। मैं भी एक दिन उस मनोविज्ञानशाला के संचालक से मिला। संचालक की बातों ने हृदय में आनन्द उत्पन्न किया। हृदम में कुछ आशा आई।

मैंने भी संचालक के सामने अपने हृदय को पूरा खोल दिया और छिपाने योग्य सभी बातों को मैंने कह डाला। इससे मुझे भारी शान्ति मिली। मेरा मस्तिष्क का बोझ हल्का हो गया। मेरे जीवन में अनेक प्रकार के कामकुकृत्य के अनुभव हुए थे। मैं एक ओर बड़ा आदर्शवादी व्यक्ति बन गया था और दूसरी ओर कामकुटेव में भी पड़ गया था। जब मुझे यह कुटेव छूटी तो मुझे स्वप्नदोष होने लगे। इसी के बाद मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी सभी मानसिक शक्तियों को खो रहा हूँ और अब मेरा भविष्य अन्धकारमय है।

मैं सदा संचालक के कथनानुसार नियत समय पर आता था और उनकी एक-एक बातों को नोट कर लेता था। मैंने मनो-विज्ञानशाला में आकर शान्त भावना का अभ्यास सीखा। इस अभ्यास ने मेरे लिए रामबाण का काम किया। मैं नित्य सुबह में उठता था और करीब ५ बजे चुपचाप बैठ जाता था। मेरे मन में थोड़ी भी एकाग्रता नहीं हो पाती थी। अभ्यास करना शुरू किया। नित्य प्रतिदिन उठकर चुपचाप बैठ जाता और अपने आपको भूलने की चेष्टा करता। इसके लिए मैंने आँखें बन्दकर एक सूक्ष्म बिन्दु को देखना शुरू किया। मैं

अपने को ऐसा समझने लगता कि मेरा शरीर नहीं है अब मुझे संसार में कुछ नहीं करना है। मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं ब्रह्म हूँ और सारा जगत ही ब्रह्म है और सर्वत्र मैं ही वर्तमान हूँ। ऐसा करने से मेरा दूसरों से ईर्ष्या-भाव जाता रहा। मैं सर्वत्र प्रेम ही करने लगा। सारा संसार प्रेममय प्रतीत होने लगा। आजकल मैं रोज शान्तभावना का अभ्यास करता हूँ। रोज सुबह पाँच बजे बैठ जाता हूँ और अनुभव करने लगता हूँ कि मेरा शरीर नहीं है। इसके बाद श्वास आने-जाने पर अपना ध्यान केन्द्रित करता हूँ और उसके बाद तुरन्त एक सूक्ष्म विन्दु पर आ जाता हूँ। मैं अपने को यह समझता हूँ कि मैं अब इस विन्दु के पास हूँ। ऐसा करने पर मैं अपने आपको भूल जाता हूँ। हृदय में एक आनन्द का उल्लास मिलता है। मन प्रसन्न हो जाता है। विश्व आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। ऐसा करने पर मुझे प्रत्यक्ष फायदा हुआ। मेरा मनोयोग दिन प्रति-दिन बढ़ता गया। मेरी स्मरणशक्ति भी दिनोंदिन बढ़ती गई। हृदय की धड़कन दिनोंदिन कम होती गई। स्वास्थ्य भी अच्छा होने लगा। संसार मुझे आनन्दमय प्रतीत होने लगा। सभी मेरे मित्र ही दिखाई पड़ते हैं। अब आगे का बीता हुआ समय स्वप्न सा प्रीतत होता है। मेरी स्वप्नदोष की व्याधि अब मुझे वह मानसिक त्रास नहीं देती जो पहले देती थी। मेरा मन अब पढ़ाई में खूब लगता है और मेरा विश्वास है कि मैं अपनी परीक्षा प्रथम श्रेणी में अवश्य पास कर सकूँगा।"

उपर्युक्त युवक आज एक सफल इञ्जीनियर है। उसने अपने जीवन में जो प्रगति की वह सभी लोगों को संतोष देनेवाली है।

स्वप्नदोष का मानसोपचार

स्वप्नदोष प्रधानतया मानसिक रोग ही है और मानसिक उपचार ही इसकी सर्वोत्तम औषधि है। स्वप्नदोष से पीड़ित व्यक्ति के मन में अपने किसी पुराने काम-कृति के लिये प्रबल आत्म-ग्लानि रहती है। वह समझता है कि उसने कोई ऐसा पाप कर डाला है जो कोई भी नहीं कर सकता। जब तक इस प्रकार की पाप की मानसिक ग्रन्थि रोगी के मन में रहती है तब तक स्वप्नदोष नहीं रुकता। एक युवक के मन में अपनी भौजाई के प्रति प्रबल कामोत्तेजना हुई। इसका कठोरता से दमन किया गया और उसकी स्मृति भुला दी गई। फिर उसे स्वप्नदोष का रोग हो गया। इसी प्रकार एक दूसरे युवक को अपनी मामी और एक तीसरे युवक को अपनी चाची के प्रति कामोत्तेजना हुई और इनके दमन से उनको स्वप्नदोष की उत्पति हो गई। जो बात चेतन मन के द्वारा होने से रोक दी गई वही अचेतन मन से व्यक्ति स्वप्नावस्था में करने लगा। स्वप्न में जो दृश्य दिखाई देते हैं, वे वास्तविक दृश्यों के प्रतीकमात्र रहते हैं। जब इस रोग से पीड़ित युवक अपनी गुप्त बातों को किसी श्रद्धेय व्यक्ति के समक्ष प्रकट करता है, तो उसका रोग समाप्त हो जाता है और उसकी शक्ति रचनात्मक रूप ले लेती है। इसके लिये रोगी से सहानुभूतिपूर्वक बातचीत करना नितान्त आवश्यक है।

स्वप्नदोष को रोकने के लिये शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में होकर आत्मनिर्देश का अभ्यास करना लाभदायक होता है। इस प्रकार से जैसे अन्य मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं, स्वप्नदोष भी नष्ट हो जाता है। किसी प्रकार की कुटेव को हटाने के लिये (जैसे हस्तमैथुन, धूम्रपान, सुरापान) यह अभ्यास बड़ा ही लाभकारी है। इस प्रकार के

आत्मनिर्देश के अभ्यास से मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान हो जाती है; और वह अपने ऊपर आत्मनियंत्रण प्राप्त कर लेता है। स्वप्नदोष को एक स्वाभाविक घटना मानने से और उसकी भयंकरता का चित्रण न करने से वह कम हो जाता है। अन्यथा वह दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। संगीत, कला, कविता, और धार्मिक उपासनाओं से कामशक्ति का उदात्तीकरण होता है, इससे स्वप्नदोष भी कम हो जाता है। किसी प्रकार की शुभकामना और मैत्रीभावना के अभ्यास तथा नियमित जीवन स्वप्नदोष को छुड़ाते हैं।

काम-कुटेव और अचेतन मन की क्रियायें

काम-कुटेव की प्रेरणा मनुष्य के अचेतन मन से होती है। जब किशोरावस्था का आगमन होता है तो सहज में मनुष्य का मन विषय भोग की ओर जाता है। यदि किसी व्यक्ति को इसी समय विषय भोग की इच्छा तृप्त करने का प्राकृतिक मार्ग मिल जाता है तो ऐसे व्यक्ति को काम-कुटेव की आदत नहीं लगती और न स्वप्नदोष की बीमारी आती है। किशोरावस्था से मानसिक विकास कामकृत्य की अधिकता होने से रुक जाता है। मनुष्य की विभिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियों का विकास काम-शक्ति के नियंत्रण से ही होता है। जो व्यक्ति इस शक्ति को जितना संचित करता है वह अपने आपको ऊपर उठाने में उतना ही अधिक समर्थ होता है।

परन्तु काम-शक्ति पर नियंत्रण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। जब हम चेतन मन से काम-लिप्सा को हटा देते हैं तो वह अचेतन मन में चली जाती है। फिर वह जाग्रतावस्था में अनेक प्रकार की विषय भोग सम्बन्धी कल्पनाओं को जन्म देती है, स्वप्न चित्रों का सृजन करती है अथवा मनुष्य की

अर्धचेतन अथवा अचेतन अवस्था में काम कृत्य में लगा देती है। काम की प्रबल प्रेरणा मनुष्य के विवेक का हरण कर लेती है और जो काम मनुष्य का विवेक उसे नहीं करने देता, उसे वह स्वप्नावस्था में करा लेती है। अतएव प्रबल काम-प्रेरणा का नियंत्रण तब तक संभव नहीं जब तक मनुष्य अपने अचेतन मन पर अधिकार प्राप्त न करले।

अचेतन मन का नियंत्रण

अचेतन मन पर अधिकार केवल ऐच्छिक क्रिया से नहीं होता। इसके लिये मनुष्य को कुछ ऐसे अभ्यास करने पड़ते हैं जो अचेतन मन को प्रभावित कर सकें। अचेतन मन को प्रभावित करने का एक उपाय उसे जानना और उसमें उपस्थित ग्रन्थियों की शक्ति का रेचन करना है। अतएव अनेक मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण विधि के द्वारा ही किशोर बालकों की काम-वासना सम्बन्धी जटिल समस्याओं का हल करते हैं।

अचेतन मन का नियंत्रण प्राप्त करने का दूसरा उपाय शान्त भावना का अभ्यास है। इस अभ्यास को करते करते मनुष्य सो जाता है। इस प्रकार की निद्रावस्था आत्म नियंत्रण प्राप्ति में और काम-कुटेवों की समाप्ति में सहायक होती है। श्वास-प्रश्वास पर ध्यान देने से मनुष्य शान्त-चित्त सरलता से हो जाता है। इस प्रकार उसके मन में उपस्थित अनेक प्रकार के मानसिक खिंचाव सरलता से समाप्त हो जाते हैं। आधुनिक काल में स्नायुओं के खिंचाव और अनेक प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त करने के लिये संसार के सभी सभ्य देशों में शैथिलीकरण का अभ्यास कराया जाता है। हिरोल्ड फिन्क की 'रिलीज़ फ्राम मेन्टल टेन्शन', जेकबसन की 'यू मस्ट

रिलेक्स' तथा विलियम ब्राऊन की 'साइकोलाजी एण्ड साइको-थ्रेपी' नामक पुस्तकें बड़ी उपयोगी हैं। प्राचीन कालमें बताई गई योगाभ्यास की क्रियायें भी अचेतन मन के नियंत्रण में बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इग्लेंड्, अमेरिका, फ्रान्स और जर्मनी—सभी प्रगतिशील देशों में अब भारत की योगविद्या का श्रद्धापूर्वक अध्ययन हो रहा है और योग में बताये गये अभ्यासों का मानसिक चिकित्सा में सफल प्रयोग किया जा रहा है। काशी मनोविज्ञान शाला के हाल के ही व्याख्यान में पेरिस नगर के कुशल मानसिक चिकित्सक डा० जीन क्लाइन ने बताया कि वे किस प्रकार पातञ्जलि योग में बताई विभिन्न बातों का मानसिक चिकित्सा में सफल प्रयोग कर रहे हैं।

काम-वासना का नियंत्रण और जीवन दर्शन

डाक्टर विलियम ब्राऊन का कथन है कि काम-वासना के सफल नियंत्रण के लिये उचित जीवन-दर्शन का होना भी नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार मानसिक रोगों के स्थायी उपचार के लिये रोगी द्वारा उचित जीवन-दर्शन का अपनाना नितान्त आवश्यक है, उसी प्रकार कामवासना के नियंत्रण के लिये भी मनुष्य द्वारा उचित जीवन-दर्शन अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है। यदि कोई रोगी यह समझ ले कि उसका रोग उसके पुराने कृत्यों का अनिवार्य परिणाम है और जितने दिन उसे रहना है वह रहेगा ही तो वह अपने रोग से कैसे मुक्त होगा। जो चिकित्सक रोग की उत्पत्ति में नियतवाद का सिद्धान्त मानता है वह रोगी को सरलता से स्वास्थ्यलाभ नहीं करा पाता। इसके प्रतिकूल जो चिकित्सक विश्वास करता है कि रोग स्वास्थ्य लाभ करने की एक स्वाभाविक प्रणाली है; रोग के द्वारा मानसिक

विकार हटकर मनुष्य को आरोग्य लाभ होता है, वह रोग को अपना मित्र बना लेता है और इस प्रकार वह आरोग्य लाभ भी शीघ्रता से कर लेता है।

नियतवाद का सिद्धान्त जिस प्रकार रोग के विनाश में सहायक नहीं होता उसी प्रकार वह काम-वासना के नियंत्रण में भी सहायक नहीं होता। काम-प्रवृत्ति मनुष्य की अनेक मूल-प्रवृत्तियों में से एक है। जहाँ तक मूल-प्रवृत्तियों का क्षेत्र है हम उनका नियन्त्रण नहीं कर सकते। मूल-प्रवृत्तियों का उद्‌गम स्थान व्यक्ति का अचेतन मन है। इस अचेतन मन की क्रियायें उसी प्रकार नियतवाद के नियमानुसार संचालित होती हैं जिस प्रकार चेतन मन की क्रियायें। परन्तु मनुष्य के चेतन और अचेतन मन के परे मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है। यह इच्छा-शक्ति देश और काल की सीमाओं के परे है। यहाँ मनुष्य मूल प्रवृत्तियों के प्रभाव से स्वतन्त्र रहता है, अतएव इस स्वतन्त्रतत्त्व से एकीकरण करके मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक इस स्वतन्त्र-तत्व का अनुभव अपने आप में करता है, वह उतना ही अधिक अपनी काम-वासना का नियन्त्रण करने में समर्थ होता है।

इस प्रसंग में डा० विलियम ब्राउन के निम्न लिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—"तत्त्व समय के परे है। समय का उसमें भान होता है परन्तु वह स्वयं समय के परे है। तत्त्व की यह विशेषता हमें वह स्वतन्त्रता देती है जिसके कारण हम अपनी मूल-प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम केवल भौतिक विज्ञान की दृष्टि लेकर मूलप्रवृत्तियों के नियन्त्रण की चर्चा करें तो असंभव पायेंगे। यहाँ नियतिवाद बिलकुल ठीक है। हम

जो कुछ करते हैं, वही कर सकते हैं; परन्तु तत्व काल और देश के परे है और वह स्वरूपतः आध्यात्मिक है। मैं स्वयं इसी तत्व का भाग हूँ, और क्योंकि मैं आध्यात्मिक जगत का एक भाग हूँ, इसलिये मैं स्वतन्त्र हूँ। मनुष्य की इच्छाशक्ति स्वतन्त्र है परन्तु यह किस प्रकार स्वतन्त्र है, इसे भौतिक विज्ञान की विधि से हम कभी नहीं समझ सकते।"

डा० विलियम ब्राउन ने यहां बताया है कि मनुष्य जैसे जैसे अपने सच्चे स्वरूप की अनुभूति करता है वैसे वैसे उसमें कामेच्छा के नियन्त्रण की शक्ति अधिकाधिक आती जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि जिन लोगों का दर्शन ही भोगवादी है वे कामेच्छा के नियन्त्रण में अथवा किसी दूसरी प्रवृत्ति के नियन्त्रण में कदापि समर्थ नहीं हो सकते। संसार के जितने भी महापुरुष हुए हैं, और जिन्होंने कामवासना पर नियन्त्रण प्राप्त करने की चेष्टा की है वे सभी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे।*

* "Reality is beyond time, supera-temporal. It is not out of time—it is beyond time. It is that supera-temporal quality of reality which gives us *freedom*, which enables us to control our instincts. If we talk about our efforts to control our instincts in terms of mere physical science we reach an impasse; we cannot get any further. Determinism is right there. We cannot do other than we are doing. But reality is beyond time and space. Reality is essentially Spiritual. I am part of reality in that sense. *The fact that I am part of the spiritual universe puts me in the position of a free agent.* The will is free, but how it is free we cannot and never shall be able to explain in terms of mere science"—William Brown: *Psychology and Psychotherapy*, P. 106.

काम-कुटेव को छूट देने की सलाह

कुछ आधुनिक मानसिक उपचारकों और मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि काम प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और जब बालक काम-तृप्ति में इस प्रकार लगे जिससे वह दूसरों की हानि न करता हो तो उसको इससे रोकना उचित नहीं। काम उत्तेजना का प्रकाशन बालक या युवक के मानसिक साम्य को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक है। इस उत्तेजना के दमन से व्यक्ति को स्नायुयों का खिचाव उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण उसे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। फिर यह बात भी ठीक है कि काम कुटेव यत्न करने से छूटती नहीं वह सहज प्रकाशन से ही छूटती है।

उक्त प्रकार का विचार न तो व्यक्ति के स्वास्थ्य की दृष्टि से और न उसके मानसिक विकास की दृष्टि से ठीक है। काम-कुटेव के भयानक परिणाम केवल इसी कारण नहीं होते कि इस प्रकार के परिणामों के विचार कुछ निकम्मी पुस्तकों से अथवा साथियों की बातचीत से बालक ने जानलिये हैं। ये परिणाम अन्यथा भी होते हैं। हमारी चिकित्सा में कुछ ऐसे रोगी भी आये हैं जो स्वयं डाक्टरी का रोजगार करते हैं और जिनका काम-कुटेव की बुराई में रत्ती भर विश्वास नहीं है, फिर भी इनलोगों को शारीरिक थकावट, निराशा, अकारण सन्देह और चिन्ता का शिकार होना पड़ा। देरतक इसी आदत में लगे हुए लोगों को कभी कभी न्यूरेस्थेनिया का रोग भी हो जाता है। प्रोफेसर हेडफील्ड ने अपनी 'साइकोलाजी एण्ड मारल्स' नामक पुस्तक में बताया है कि रोगी को स्वच्छन्दता पूर्वक विषय सुख में लग जाने की सलाह देना उसे विनाश की ओर लेजाना है।

यह न तो अच्छी नैतिकता है और न अच्छी चिकित्सा। जब मनुष्य विषयभोग में सदा लगे रहकर अपने मन को दुर्वल बना लेता है तब उसमें किसी प्रकार के बुरे विचार को रोकने का सामर्थ्य ही नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति अपने चित्त की एकाग्रता खो देता है, उसे थकावट शीघ्रता से आजाती है, फिर उसे अकारण, भय, चिन्ता और निराशा आदि सताने लगते हैं। अतएव प्रारंभ से ही बालकों को आत्म-नियंत्रण की उचित ढंग से सलाह देना आवश्यक है।

———

प्रकरण ११

हठी विचार का निराकरण

हठी विचार* का स्वरूप

सभी प्रकार के मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति अनिवार्यतः निर्बल हो जाती है। वह अपने ध्यान को किसी विशेष दिशा की ओर जाने से रोकना चाहता है, परन्तु उसका ध्यान उसी बात पर केन्द्रित हो जाता है, जिससे वह अपने मन को रोकता है, अर्थात् वह जिसका चिन्तन अपने लिये कल्याणप्रद नहीं समझता। कितने ही लोगों का ध्यान बार-बार गन्दी वस्तुओं पर जाता है, कितने ही लोगों का ध्यान स्त्रियों की छाती अथवा उनके गुप्ताङ्गों की ओर जाता है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का विचार, किसी भी व्यक्ति को देखते ही, तत्काल उसकी शौच-क्रिया पर जाता था। लेखक के एक मित्र का ध्यान, किसी भी व्यक्ति को देखते ही, उसके निम्न भागों पर जाता है। वे इस प्रकार के हठी विचार से बहुत परेशान हैं। वह अपने ध्यान को सामने के व्यक्ति से अलग करने की जितनी ही चेष्टा करते हैं, उनका ध्यान और भी उसी ओर जाता है। उनके लिये अपनी दृष्टि को व्यक्ति के निम्न भागों से हटाना कठिन हो जाता है। स्त्रियों को देखते ही उनका ध्यान तुरत उनकी छाती अथवा गुप्त अंगों पर जम जाता है; इस कारण उनकी दृष्टि भी उसी ओर जाती है। वह अपने आप से चाहे कितना ही लड़ें, उनके मन से गुप्त-अंगों का विचार नहीं जाता। अनायास ही उनके ध्यान में व्यक्ति के गुप्ताङ्गों का आना जैसे अनिवार्य हो गया

---

* Obsessional Neurosis

हो। वह लाख प्रयत्न करने पर भी इससे मुक्त नहीं हो सकते। निरन्तर अन्तर्द्वन्द्वों का क्रम उनके अन्दर चलता रहता है। परिणाम स्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनका रक्तचाप बढ़ जाता है। उन्होंने हाल ही के पत्र में अपनी कथा निम्नलिखित शब्दों में कही है।

'मैं अपना मन किसी वस्तु से हटाने का जितना ही प्रयत्न करता हूँ, वह उतना ही अधिक उस वस्तु की ओर खिंचता चला जाता है। खिंचाव सिर की नसों में होने के कारण दर्द होने लगता है। मैं उधर से सिर घुमा लेता हूँ, नेत्र हटा लेता हूँ, लेकिन मेरे नेत्र का कोई भाग बलात् उधर ही खिंचा रहता है। यहाँ तक कि मस्तिष्क दुखने लगता है और बड़ी थकावट का अनुभव होने लगता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि मैं रेल में बैठ कर सफर कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि स्वभावतः लोगों के कटिप्रदेश पर पड़ जाती है। जब मैं एक तरफ से अपनी दृष्टि हटाता हूँ, तो दृष्टि दूसरे व्यक्ति का कटिस्थान ले लेती है। मैं घबड़ा कर दृष्टि को अखबार से छिपाकर पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। मैं समाचार पढ़ता ही रहता हूँ, परन्तु दृष्टि उसी तरफ खिंची रहती है। यदि अखबार के किसी कोने से दृष्टि दूसरे व्यक्ति के शरीर के किसी भाग पर पड़ जाती है तो दृष्टि उसी तरफ खिंच जाती है और बड़ी बेचैनी होती है। उससे घबड़ाकर खिड़की से बाहर सिर निकाल कर देखने लग जाता हूँ, परन्तु दृष्टि पास के बैठे हुए व्यक्ति की तरफ खिंची रहती है। दृष्टि के पूर्णतः बन्द कर लेने पर खिचाव वैसा ही बना रहता है; विवश होकर दृष्टि पुनः खोलनी पड़ती है, किसी क्रिया से मुक्ति नहीं मिलती।'

उक्त मानसिक द्वन्द्व का परिणाम यह हुआ है कि इनका रक्त-भार लगभग ४० अंश बढ़ा हुआ है। अपनी स्मृति के

बारे में वे लिखते हैं—'मेरी स्मृति आश्चर्यजनक रूप से व्यय हो गई है। यदि मैं किसी को उधार या पेशगी रुपये दे देता हूँ अथवा किसी के हिसाब का फैसला करता हूँ तो प्रातःकाल की बात को सायंकाल तक भूल जाना साधारण सी बात है।'

उक्त मित्र की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। वे बीस वर्ष से संन्यासी हो गये हैं और पहाड़ों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वे बड़े अयध्यनशील और परोपकारी व्यक्ति हैं, पर समाज में आने में आपको बड़ी कठिनाई होती है। उनमें सदा आत्महीनता और संकोच का भाव बना रहता है। जब कोई व्यक्ति उनकी प्रशंसा करने लगता है, उनके संकोच का भाव और बढ़ जाता है। इस कारण वे समाज से सदा अलग रहने की चेष्टा करते रहते हैं।

हठी विचार और पापभावना

हठी विचार के नीचे दमित पापभावना क्रियाशील रहती है। उक्त मित्र की आवश्यक गुप्त बातों का अध्ययन किया गया। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को जानने पर मालूम हुआ कि वे अपनी किशोरावस्था में कामुक थे। परन्तु नैतिक धारणा भी उनमें प्रबल थी। उनका विवाह अठारह वर्ष की अवस्था में हुआ। वे अपनी स्त्री से अधिक न मिल पाये। इसी बीच उनसे एक नैतिक भूल हो गई। उन्होंने किसी ऐसी स्त्री के साथ काम-क्रीडा की, जिसे वे बहिन के रूप में मानते थे। उनके मन पर इसका बड़ा धक्का लगा। कुछ दिन तक वे अपने आपको इस अपराध के लिये कोसते रहे। फिर इस घटना के थोड़े ही दिन बाद वे घर-द्वार छोड़कर साधु बन गये। इस प्रकार उनकी प्रेम-भावना का एकाएक दमन हो गया। उनकी कामशक्ति एकबारगी अवरुद्ध हो गयी। उनके विकास

का अब कोई मार्ग ही नहीं है। उनका ऊपरी मन तो तपस्वी बन गया किन्तु भीतरी मन भोगी ही रहा। उनका आन्तरिक मन संसार के प्रेम का इच्छुक है। वह झूठी बड़ाई नहीं चाहते, इसलिए जनसमूह में आते ही उन्हें घबराहट होती है। वे अपनी मानसिक अवस्था को भली प्रकार पहचान गये हैं। कई दिनों के विचार-विमर्श के बाद उन्हें रोग का मूलकारण बुद्धिगम्य हुआ है। उनके रोग का कारण कामवासना का दमन बताया गया था, जो अभी भी वर्तमान है। उन्हें यह भी बताया गया कि उनकी आवेगात्मक काम व्यवहार सम्बन्धी उक्त घटना ही इस दमन के मूल में थी। इस बात को उनका हृदय स्वीकार नहीं करता था। किन्तुपीछे उन्होंने उक्त आत्म-स्वीकृति की। वे अपने हिमालय स्थित स्थान से लिखते हैं—

"नन्दादेवी का पर्वत लगभग ६००० फुट की ऊँचाई पर है। वहाँ एक एकान्तवास के समय अकस्मात् मुझे आप-द्वारा निर्दिष्ट कारण की समुचितता का भान होने लगा। मेरे गृह-त्याग के कुछ ही दिनों पूर्व जो कामसम्बन्धी घटना हुई थी, उस पर आद्योपान्त विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि संभवतः उक्त घटना ही मेरे रोग का मूल कारण है। अज्ञात दमन ही रोग का कारण होता है। इसलिये उनके कारण पर मुझे अबतक संदेह ही था। परन्तु जब घटनाओं की शृङ्खला एक दूसरे से जोड़ता गया, तब मुझे उस घटना के कारण पर अब विश्वास होने लगा है। उस घटना का आद्योपान्त सविस्तार वर्णन मैं आपके पास लिख कर भेजूँगा।"

यहाँ अपने रोग के मूल कारण को इस मित्र ने पहचान लिया है। परन्तु मानसिक रोगों का अन्त एकाएक नहीं होता। रोग स्वयं शिक्षक है। रोग से मनुष्य को आत्म-ज्ञान होता

है। वह जिस उद्देश्य को लेकर आता है, जबतक उसकी पूर्ति नहीं होती वह समूल नहीं जाता। कृत्रिम चिकित्साओं से उसका दमन अथवा रूपान्तरण मात्र होता है। उक्त मित्र की मानसिक दशा दिन-प्रति-दिन सुधरती गई। उनका जीवन से निराशा का भाव जाता रहा। उनकी असह्य सिर की पीड़ा जाती रही। उनके विचार पहले शृङ्खलावद्ध नहीं थे। वे एक साथ बैठकर लम्बे पत्र नहीं लिख पाते थे। परन्तु पिछले कुछ दिनों में लेखक ने उनके तीस-तीस पृष्ठों तक के पत्र पाये, जिनमें गम्भीर-से-गम्भीर दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक विषयों पर गवेषणापूर्ण विचार व्यक्त किये गये हैं। उनकी स्मृति, तर्क-शक्ति बढ़ गई। स्मृति के ह्रास की जो शिकायत थी, वह जाती रही।

ये मित्र यदि गृहस्थ होते या उनका फिर गृहस्थी में आना संभव होता, तो उनका मानसिक रोग कभी ही दूर हो गया होता। उनका हृदय प्रेम का भूखा था। वह प्रेमिका का चुम्बन, आलिंगन और उससे प्रेमपूर्ण वार्तालाप चाहता था। संन्यास जीवन में यह सम्भव नहीं था। जब कामवासना की आगे की ओर अर्थात् स्त्री, सन्तान आदि की ओर प्रगति रुक जाती है, तो वह प्रतिगामिनी बन जाती है, अर्थात् ऐसी अवस्था में मनुष्य का ध्यान बार-बार कामवासना की तृप्ति के निम्नकोटि के साधनों पर केन्द्रित हो जाता है और जब उससे उसे हटाने की चेष्टा की जाती है, तो मानसिक खिंचाव बढ़ जाता है। बुद्धिमानी इसी बात में है कि इस प्रकार के खिंचाव की अवहेलना न कर उसके अर्थ को समझने की चेष्टा की जाय और तत्सम्बन्धी योग्य उपचार किये जायँ।

अवरुद्ध कामवासना का शोध बाल शिक्षा, संगीत, कला, कविता तथा लोक सेवा से होता है। शुकदेव, नारद,

व्यास आदि ऋषियों ने इस प्रकार अपनी कामवासना का शोध किया, परन्तु पहले से यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति को कौन सा उपाय ठीक बैठेगा। उक्त मित्र कुशल शिक्षक तथा चिकित्सक हैं। यदि वे इसी के द्वारा राष्ट्र की अथवा मानव समाज की सेवा में लगे होतें, तो मानसिक रोगी कदाचित न बनते। जैसे-जैसे उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया, उनका रोग जाता रहा।

हठी विचार का दूसरा उदाहरण एक बड़े सदाचारी गृहस्थ व्यक्ति का है। इन्हें अपने समवयस्क मित्र का सदा चिन्तन होता रहता था। उनकी समझ में मित्र उनकी इतनी परवाह नहीं करता थां, जितनी की वह अपेक्षा करते थे। परन्तु इन्हें तो उसकी चिन्तां किये बगैर चैन नहीं मिलती थी। उनका मित्र भी एक गृहस्थ है। उसे अपने काम रहते थे, अतएव उसे अपने उक्त मित्र की भावनाओं का आदर करने का समय ही नहीं मिलताथा। इससे उसे मानसिक धक्का अवश्य लगता था फिर भी वे अपने मन को उस मित्र से अलग करने में असमर्थ थे।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण पिता तथा दूसरे अभि-भावकों का बचपन में प्रेमाभाव था। अपनी पत्नी के साथ भी उनका पूरा मनोयोग नहीं था। इससे उनकी प्रेम की भूख तृप्त नहीं हो पायी। वह अतृप्त ही रही। उसका विकास नहीं हुआ। जहाँ विषमलिंगी प्रेम का अभाव रहता है, वहाँ समलिंगी प्रेम प्रबल हो जाता है। यह मानसिक संतुलन को बिगड़ने नहीं देता। इसके अभाव में भी व्यक्तियों का मानसिक विकास रुक जाता है। इन्हें बताया गया कि यदि वे जान बूझकर अपने मित्र को खूब प्यार करें और जब

उनका विचार मन से चला जाय, तब भी उसे वापस लावें, तो उनके बाध्य-चिन्तन का अन्त हो जायगा। जिस भावना से हम लड़ते हैं, वह बार-बार मन में आती है और जिसे हम मन में आने की छूट दे देते हैं अथवा जान बूझकर मन में ले आते हैं वह मन से निकल जाती है। अतएव उसे कुछ दिनों तक मित्र के विचार को ही सदा मन में लाते रहने का अभ्यास करने की सलाह दी गई।

इसके अतिरिक्त सबके प्रति मैत्री भावना और सोते समय भद्रभावों का अभ्यास करने को कहा गया। जो कुछ होता है सब भले के लिए ही होता है—इस प्रकार का अभ्यास शिव भावना का अभ्यास है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की बीमारी भी उसका मित्र बन जाती है। इसे अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को लिखने का भी आदेश दिया गया।

लेखक के आदेशानुसार उक्त सज्जन ने अपने विचारों को बताने की चेष्टा की। उसने अपनी पुरानी भावना को अपना दोष न मानकर गुण ही मानना प्रारम्भ कर दिया। उसने शिव भावना का अभ्यास किया। इसके परिणामस्वरूप उनका मन शान्त अवस्था में हो गया। मन का अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होने पर उनकी मानसिक प्रसन्नता बढ़ गई और उसके सभी प्रकार के हठी विचारों का अन्त हो गया।

हठी विचार के प्रकार

हठी विचार वह विचार है, जो हमारे मन में बार-बार आता है और जिसको मनसे हटाने के बार-बार प्रयत्न करने पर भी वह मन से नहीं हटता। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को बार-बार यह विचार आता है कि कहीं वह रास्ते में पड़े हुए गंदे चिथड़े

को न उठा ले; अब वह इस विचार को निकालने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसे निकाल नहीं सकता है; तो इसे हठी विचार कहते हैं। हठी विचार कभी सार्थक होता है और कभी निरर्थक। सार्थक विचार कभी-कभी भयका रूप धारण करता है और कभी मनुष्य को केवल हाथ के काम में बाधा डालता है। कुछ लोगों को यह हठी विचार हो जाता है कि उन्हें क्षयरोग हो गया है। इस विचार का कोई आधार नहीं रहता। वे अनेक डाक्टरों से जाँच कराते हैं, फिर भी उनका विचार नहीं जाता। कुछ लोगों को कुछ भी नए काम करने पर अपशकुन हो जाते हैं। वे चाहे कितने भी सावधान क्यों न हों, उनके ध्यान कुछ अपशकुन की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। कुछ लोग केवल मृत्यु के विचार से ही त्रस्त रहते हैं। उनके मन में बार-बार यह विचार आता है कि न जाने कब उनकी मृत्यु हो जाए। हेनरी फिशर ने एक-दो ऐसे रोगियों का उदाहरण दिया है, जिन्हें उनका हठी विचार अत्यंत त्रास देता था। एक व्यक्ति को वह जहाँ कहीं जाता तेरह की संख्या, जो कि अंग्रेजों के लिए अपशकुन है, दिखाई पड़ती थी। उसे तेरह मनुष्य, तेरह सीढ़ी, तेरह पेड़, तेरह शब्द मिलते। एक दूसरे व्यक्ति को ऐसा लगता था कि उसकी ओर देख कर सभी लोग थूक देते हैं।

हमारे पास इस प्रकार के मानसिक रोग से पीड़ित बहुत से व्यक्ति आए। एक व्यक्ति शाला-भवन में इसलिए नहीं आ पाता था कि घर से शाला तक आने में कई नालियाँ पड़ती थीं, जिन्हें उसे पार करना पड़ता था। एक दूसरे व्यक्ति को किसी भी पुरुष या स्त्री को देखने पर उसकी जननेन्द्रिय की ओर ध्यान जाता था। एक नवयुवक को अपने घर में रहना इसलिए भार-रूप हो गया था कि उसका ध्यान अपनी माँ-बहन को

देखने पर उनके गुप्तांगों की ओर गए बिना नहीं रह सकता था। एक दूसरे व्यक्ति को "नाराज" शब्द हर वक्त कान में गूँजते रहता था। एक मानसिक रोगी एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने पर ऐसा अनुभव करता था, मानो उसके पास के मकान उसके ऊपर गिर पड़ेंगे। एक नवयुवक को कुष्ट रोग होने का सदा भ्रम लगा रहता था। कुछ लोगों को अपने प्रत्येक काम पर अकारण संदेह हो जाता है और यह संदेह उन्हें चैन नहीं लेने देता है। एक रोगी को सदा भ्रम बना रहता था कि जो काम उसने हाल में किया है, वह ठीक नहीं हुआ है। मकान में ताला डाल कर जब वह चलता, तो उसे भ्रम होता कि इसने ताला ठीक से नहीं डाला है। इस के लिए उसे फिर से लौट कर आना पड़ता था। चिट्ठी पर टिकट लगाकर जब उसे वह लेटर बक्स में छोड़ देता था, तो उसे सन्देह हो जाता था कि सम्भवतः उसने चिट्ठी में टिकट नहीं लगाया है अथवा पता गलत लिख दिया है। इस प्रकार का विचार उसे आगे काम नहीं करने देता था।

कितने ही लोगों को परीक्षा में फेल हो जाने का अकारण भ्रम रहता है और इसके कारण वे ठीक से परीक्षा की तैयारी नहीं कर पाते हैं। परीक्षा में फेल होने की कल्पना उनमें इतनी सजीव होती है कि वे कोई काम नहीं कर पाते। कितने हीं लोगों को हृदय का वास्तविक रोग न होते हुए भी हृदय की धड़कन इतनी बढ़ जाती है कि उनको डर लगता है कि कहीं उनके हृदय की गति ही न रुक जाए।

हठी विचार का कारण

उक्त प्रकार के हठी विचार को, अँग्रेजी में 'आब्शेशनल न्युरोसिस' कहा जाता है। इस प्रकार का रोग इच्छा-शक्ति

की दुर्बलता का परिणाम है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति इसलिए दुर्बल हो जाती है कि वह अपने व्यक्तित्व के निम्नकोटि के तत्त्वों की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता। अपनी निम्नकोटि की वासनाओं को भुलाने के लिए वह अनेक प्रकार के ढोंग रचता है। उसके जीवन में एक बनावटी नैतिकता उपस्थित हो जाती है। अपने ढोंग की प्रसिद्धि होने पर उसे महान् होने का अभिमान हो जाता है। ऐसा व्यक्ति आत्म-संतोष के लिए अनेक प्रकार के बृहत् उपवास और समाज-सेवा के कार्य भी करता है ताकि वह अपने को दूसरों से अच्छा समझ सके। परन्तु उसके भीतरी मन में असंतोष बना रहता है। यह असंतोष किसी बाहर की वस्तु पर आरोपित होकर मनुष्य की चेतना को दुःखी बनाता है। जिस प्रकार अपने अभिमान के प्रतिकूल दमित प्रवृत्ति मनुष्य को भीतर-ही-भीतर दुःखी बनाए रखती है, उसीप्रकार हठी विचार अथवा अकारण भय मनुष्य की चेतना को बाहर से त्रास देते हैं। जब किसी राष्ट्र में सरकार के विरुद्ध कोई प्रबल असंतुष्ट दल गुप्त षड्यंत्र करता रहता है और सरकार इस षड्यंत्र को समझने में असमर्थ रहती है, तब भीतरी विस्फोट होने के पूर्व सरकार के सामने कोई वैदेशिक समस्या उपस्थित हो जाती है। यह वैदेशिक समस्या ऊपर से बहुत छोटी-सी होती है, परन्तु इसे किसी प्रकार हल करने से भी वह शान्त नहीं होती। ये समस्यायें राष्ट्र के अन्तर्मन में उपस्थित जटिल संघर्ष की द्योतक है। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व को बाहर से आघात पहुँचाने वाले तत्त्व उसके व्यक्तित्व में उपस्थित विरोधी शक्तियों के परिचायक हैं। हठी विचार की उपस्थिति यह बात प्रमाणित करती है कि मनुष्य अपना आत्म-समन्वय नहीं कर पाया है और उसका जीवन ढोंग से भरा हुआ है। ऐसा व्यक्ति अपनी

आन्तरिक कमजोरी को भुलाने के लिए बड़े-बड़े कामों में हाथ डालता है। बड़े कामों की इन योजनाओं के कारण आत्म-स्वीकृति करना अर्थात् अपनी कमजोरी को पहचानना उसके लिए और भी कठिन हो जाता है। परन्तु सत्य छिपाने के कितने भी प्रयत्न करने पर वह छिपाया नहीं जा सकता। हमारे भीतरी मन की समस्या बाहरी समस्या बन कर हमारे सामने उपस्थित होती है। मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रश्न-चिन्ह भुलाने से समाप्त नहीं होते। हठी विचार की प्रबलता और शक्ति का स्रोत व्यक्तित्व के बाहर नहीं, बरन् उसके भीतर ही है। जिस प्रकार जब राष्ट्र सुसंगठित होता है, तो बाहरी समस्यायें नहीं ठहरती, इसी प्रकार जब मनुष्य के व्यक्तित्त्व का संगठक दृढ़ हो जाता है और जब उसकी सभी ज्ञात और अज्ञात शक्तियां एकमुखी हो जाती हैं, तब किसी प्रकार के हठी विचार, कुटेव, झक, चिन्ता अथवा अकारण भय हमें परेशान नहीं करते।

हटी विचार की जड़ मनुष्य की किसी ऐसी प्रवृत्ति में रहती है, जो उसकी उच्चता के अभिमान का विनाशक होती है। हमारे एक रोगी को यह हठी विचार हो गया था कि उसे जो कोई देखता है वह चोर समझता है। इसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसने आठ-दस वर्ष पूर्व अपने मित्र की स्त्री के साथ, उसके प्रोत्साहित करने पर, व्यभिचार किया था। इससे उसे भारी आत्म-ग्लानि हुई। पीछे वह सभी घटनाओं को भूल गया और उसने अपने को प्रबल नैतिक व्यक्ति बनाया। सभी लोग उसके सादे और साधु-जीवन की प्रशंसा करने लगे। इसी बीच उसे यह रोग हुआ कि सभी लोग उसे चोर समझते हैं। इस प्रकार चोर समझे जाने का कारण एक साधारण सी घटना थी, जो एक विशेष स्थान पर हुई थी। इस व्यक्ति ने स्थान बदल

दिया था और घटना के हुए बहुत दिन बीत गए थे। परन्तु तिस पर भी उसे यह भाव रहता था कि आस-पास के सभी लोग उसे चोर कहते हैं। पुलिस के सिपाही को देखकर उसके दिल में धड़कन होने लगती थी।

उक्त प्रकार का आचरण करने पर एक दूसरे व्यक्ति को घटना के बीस वर्ष बाद यह रोग हो गया था कि स्त्रियों के देखते हीं उसकी दृष्टि उनकी छातियों पर ही जाती थी। इस रोग की समाप्ति तब तक नहीं हुई, जब तक रोगी ने पुरानी घटना की दुःख के साथ आत्म-स्वीकृति नहीं की। यह व्यक्ति एक ओर सदाचारी के रूप में प्रसिद्ध था और दूसरी ओर वह प्रबल विषय-वासना को पाले हुये था। कुष्ट रोग होने के भय से पीड़ित रोगी के जीवन की घटनाएँ जानने से पता चला कि उसके मन में समलिंगी व्यभिचार की प्रवृत्तियाँ दमितावस्था में उपस्थित थीं। इनके वश में होकर ही उसने समलिंगी व्यभिचार किया था और उसके कारण उसे भारी आत्म-ग्लानि हुई थी। इस घटना की स्वीकृति करने पर उसकारोग जाता रहा। नाराज शब्द सदा सुनने वाले व्यक्ति के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके किसी कुकृत्य से उसकी नैतिक बुद्धि उससे नाराज थी।

हठी विचार (आवशेशनल न्युरोसिस) के रोगियों की जीवनचर्या के अध्ययन से पता चलता है कि इनलोगों ने अपनी किसी प्रकार की अनैतिक इच्छाओं के वशीभूत होकर लोकनिन्दनीय कार्य किया और इसके लिए उन्हें भारी आत्म-ग्लानि हुई। पीछे वे इस घटना को भूल गये। घटना को भुलादेने पर वह प्रवृत्ति भी दमित हो गई, जिसके वश में होकर के लोकनीन्दनीय घटना घटित हुई थी। इसे दबाये या भुलाये रखने के लिए उन्हें असामान्य त्याग और तप करना पड़ता है। उन्हें

ऐसी नैतिकता धारण करनी पड़ती है, जो उन्हें विशेष व्यक्ति बनने का सन्तोष दे। उनकी इस प्रकार की चारित्रिक विशेषतायें उनके अनैतिक आचरण और उनकी अनैतिक प्रवृत्तियों के विरोध में अतिपूर्तिकरण के रूप में होती है; अतएव यह नैतिकता अथवा चारित्रिक विशेषता कृत्रिम होती हैं और इस ढोंगी नैतिकता का भंडाफोड करने के लिए ही मनुष्य को हठी विचार, अकारण चिन्ता और भय तथा किसी विशेष प्रकार के रोग की शंका अथवा वास्तिक रोग हो जाते हैं। ये रोग व्यक्ति से अप्रिय सत्य को वरवश स्वीकार कराते हैं। रोगी जितनो ही जल्दी अपने भीतर अनैतिक समझी गई बातों को स्वीकार करता है, उतनी ही शीघ्रता से उसका रोग समाप्त होता है।

हठी विचार की समाप्ति

रोग समाप्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य नैतिकता को एक ओर रखदे। उसे जिस बात को अलग करना होता है वह नैतिकता का ढोंग है। मनुष्य को अपना जीवन नैतिकता के अनुकूल बनाए रखना पड़ता है। बिना नैतिकता के मनुष्य समाज में रह नहीं सकता। अतएव अनैतिक जीवन न समाज की दृष्टि से हितकर है और न व्यक्ति की दृष्टि से। परन्तु असाधारण नैतिकता और उच्च आदर्शों का अभिमान मनुष्य को मानसिक रोग की अवस्था में ले जाता है। जिस व्यक्ति में दूसरे लोगों को नैतिक बनने के लिए उपदेश देने की अथवा अपने आदर्श ऊँचे उठाने की शिक्षा देने की जितनी ही अधिक प्रवृत्ति होती है उसके आन्तरिक मन में मानवीय कमजोरियाँ उतनी ही अधिक छिपी रहती हैं। ऐसे व्यक्तियों के इस उपदेश से वास्तव में संसार के कोई लोग प्रभावित नहीं होते; वे उसकी प्रशंसा करके अपना उल्लू सीधा करते हैं।

मनुष्य के सभी मानसिक रोग वास्तव में उसके मित्र हैं। वे उसके आन्तरिक नैतिक खोखलेपन को व्यक्त करते हैं। जिस समस्या को हम भुलाए रखते हैं, उसको रोग बाहर लाते हैं। इस प्रकार वे आत्म-समन्वय की प्राप्ति में सहायक होते हैं। जब मनोविश्लेषण-द्वारा मनुष्य की अनैतिक आचरण की स्मृति जागृत की जाती है, तब मनुष्य अनैतिक नहीं बन जाता, वरन् उसके अन्दर ठोस नैतिकता आती है। परन्तु अपनी अनैतिक घटनाओं की आत्मस्वीकृति करने के लिए मनुष्य को अपनी झूठी नैतिकता के अभिमान को त्यागना पड़ता है। जब तक मनुष्य अपनी महानता के अभिमान को अलग करने को तैयार नहीं होता, तब तक ऐसी भावात्मक स्मृतियाँ जागृत ही नहीं होतीं जो रोग का कारण हैं। इन स्मृतियों के जागृत होने से रोग की समाप्ति इसलिए हो जाती है कि एक ओर मनुष्य की नैतिकता व्यवहारिक बन जाती है और दूसरी ओर मनुष्य की अनैतिक प्रवृत्तियाँ उसके चेतना के स्तर पर आकर शान्त हो जाती हैं।

साधारण लोग मनोविश्लेषण विज्ञान की आलोचना इसीलिए करते हैं कि इससे मनुष्य की अनैतिक भावना को प्रश्रय मिलता है। उनका यह आरोप उनकी अनभिज्ञता का द्योतक है। मनुष्य की वासनाजन्य अनैतिक प्रवृत्तियों की समाप्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य अनैतिक आचरण करे। उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने व्यक्तित्व में निहित अनैतिक तत्वों की जानकारी करले। इस जानकारी मात्र से उसमें मौलिक परिवर्तन हो जाता है। साथ-ही-साथ मनुष्य के चारित्रिक अभिमान में भी परिवर्तन हो जाता है। अब वह असामान्य व्यक्ति न रहकर सामान्य व्यक्ति बन जाता है।

हमारा सामान्य अनुभव है कि कभी-कभी हम जिस विचार को भूल जाना चाहते हैं, वह बार-बार मन में आता है। मन की स्वस्थ अवस्था में कुछ प्रयत्न करने पर ऐसा विचार मन से चला जाता है, परन्तु मन की अस्वस्थ अवस्था में जिस विचार को मनुष्य भुलाना चाहता है, वह उसके मन में और भी दृढ़ता से आता है। अपने मन की इस हठ के कारण कितने ही लोग एकान्त-स्थान खोजते हैं; परन्तु थोड़ा सा भी उत्तेजक दृष्य देख लेने पर अथवा आवाज सुन लेने पर वे अपने चित्त की एकाग्रता खो देते हैं। विद्यार्थियों को तो इस प्रकार के विचार बहुत ही परेशान करते हैं।

एक कालेज के विद्यार्थी ने कुछ काल पहले हमें लिखा था कि उसका मन इतना जिद्दी हो गया है कि जिस बात को वह भुलाना चाहता है, वह अवश्य ही मन में आती है। इसके कारण उसे बाध्य होकर वह काम भी करना पड़ता है, जो बार-बार मन में आता है। वह जब कभी सूखे पत्ते, गन्दे काग़ज के टुकड़े जमीन पर पड़े देख लेता है, तो उनकी स्मृति उसके मन से नहीं जाती। उसे कभी-कभी उन्हें उठाकर देखना पड़ता है। एक कालेज के शिक्षक गन्दगी के दृश्य से इतने परेशान थे कि वे रास्ता भी नहीं चल पाते थे। अभी हाल में एक कालेज का छात्र हमारे यहाँ उपचार के लिये आया। उसका कथन था किसी भी अनचाही वस्तु का ध्यान एक बार मनमें आने पर वह मन से कभी नहीं जाती। उसकी स्मृति-शक्ति बड़ी तीव्र है। परन्तु यहीं तीव्र स्मृति उसके आन्तरिक शान्ति में बाधक बनगई है। इसके कारण जिस प्रकार अच्छी बातें उसे याद रहती हैं, उसी प्रकार बुरी बातें भी उसे याद रहती हैं। यदि किसी नवयुवक को किसी नवयुवती के साथ एकान्त में देख लिया, तो

उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनायें उसके मन में आती हैं और प्रयत्न करने पर भी वे मस्तिष्क से नहीं जातीं। यदि दो पक्षियों को आपस में काम-क्रीड़ा करते देख लिया है, तो वह दृश्य दिनभर हरा-भरा बना रहता है। जितना ही किसी विचार को भूलने का प्रयत्न किया जाता है, वह मास्तिष्क में उतना ही आता है। इसी प्रकार यदि किसी रोगी को देख लिया हो, तो रोगी के रोग की कल्पना मन से नहीं जाती। बार-बार मनमें यही आता है कि वह रोग कहीं मुझे न हो जाय। क्षयरोग के रोगी को देखने पर यह विचार बहुत ही प्रबल हो जाता है।

कुछ काल पहले क्षय के काल्पनिक रोग से त्रसित एक रोगी का उपचार मनोविज्ञान शाला में हुआ। उपचार के पूर्व उसकी मानसिक अवस्था का वर्णन स्वयं उसी ने इस प्रकार किया है—
"गत अगस्त माह में मैं एक साधु के मठ में एक कमरा किराये पर लेकर पढ़ता था। वहाँ पर कई रोगी आये, जिनमें एक वहीं पर मर गया। वह क्षय का रोगी था। मुझे यह डर लगने लगा कि कहीं मुझे भी टी० बी० का रोग न हो जाय। खाने के आरम्भ में, पेशाब करने के प्रारम्भ में यह टी० बी० शब्द मेरी आँखों के सामने अवश्य आता। मैं बहुत घबड़ाया। एक रात मैंने यह स्वप्न देखा कि वही मठ के साधु कह रहे हैं कि यदि तुम कमरा नहीं छोड़ दोगे तो तुम अवश्य मर जाओगे। अब मैं अधिक डर गया और उसी दिन से मैं दूसरी जगह रहने लगा। परन्तु स्थान बदल देने पर भी संतोष न हुआ और मुझे डर लगता ही रहा।

फिर मैंने डाक्टरों से बात-चीत की। उन्होंने मुझे बहुत लज्जित किया। एक ने कहा कि "यदि तुम इतने डरपोक हो

कि मरे आदमी के डर के मारे मरे जा रहे हो, तो नाक में नथिया पहिन कर घर में बैठो।" मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं अपने आपको कोसने लगा। क्या मैं इस प्रकार का आदमी हूं। मैं दुनियां में इतना पापी हूं। मेरा चेहरा काला होता जाता था। मैं खड़े ही खड़े सूख रहा था। शोक के मारे मेरा मन पढ़ाई में नहीं लगता था और मैं जो कुछ पढ़ता था, भूल जाता था।'

इस प्रकार के विचार के हठ के पीछे एक शक्ति काम करती है। मनुष्य जिन वस्तुओं को चेतन मन से भूलने का प्रयत्न करता है, यदि वे उसके अचेतन मन को प्रिय हैं अर्थात् यदि वे उसकी किसी प्रसुप्त वासना की पूर्ति करती है, तो वह ऐसी वस्तुओं को भुलाने की चेष्टा करके केवल अपने मानसिक बल को ही खोवेगा। इस प्रकार के भुलाने का परिणाम भयावना होता है। मनुष्य इससे अपना आत्म-विश्वास और इच्छा शक्ति का बल खो देता है। इससे कभी कभी उसे भयावने शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं।

लेखक की एक शिष्या अपने पिता की मृत्यु की दुःखद स्मृति को भुलाने की चेष्टा करती थी। परन्तु जितनी ही वह इस ओर प्रयत्न करती स्मृति और भी प्रवल होती जाती थी। उसके पिता फ्लूरेसी के रोग से मरे थे। जिस समय उसके पिता मरे वह पूर्ण स्वस्थ थी। परन्तु कुछ दिन के पश्चात् उसें वही रोग हो गया जो उसके पिता को हुआ था। मनुष्य जब किसी घटना को पूरे भाव के साथ सोचता है और फिर वह उसे विस्मरण करने की चेष्टा करता है तो उस घटना का चित्र रोग के रूप में प्रकाशित होता है। कभी कभी मनुष्य उन्हीं बातों का अभिनय अपने जीवन में करने लगता है, जिनका मोह, शोक,

घृणा आदि आवेगों के कारण आत्मसात् वह कर लेता है। मान लीजिये किसी व्यक्ति ने लज्जास्पद काम किया। वह इसकी स्मृति भुलाने का प्रयत्न करता है। वह इसमें सफल हो जाता है। परन्तु अब उस काम से मिलती जुलती बातें उसकी चेतना को तंग करने लगती हैं। उसे ऐसी बातों से भय होता है। वह जितना ही उन्हें स्मृति से हटाने की चेष्टा करता है, वे उतनी ही और प्रबलता से आती हैं। कभी कभी ये लज्जास्पद बातें निरर्थक शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें व्यक्ति बाध्य होकर अनजाने किया करता है, प्रगट होती हैं। ये मानो दबी वासना को प्रतीक रूप में याद दिलाती हैं।

अप्रिय हठी विचार की प्रतीकता

प्रत्येक हठी विचार प्रतीक रूप से किसी अप्रिय भाव को अर्थात् मनुष्य के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने वाले भाव को व्यक्त करता है। इसलिये ही व्यक्ति ऐसे विचार से डरता है।

मनुष्य ऐसी बात से डरता है जिसे वह भुलाना चाहता है। डर का ऊपरी विषय निर्दोष होता है। परन्तु डर का सच्चा विषय दूसरा ही है, उसे वह भूल चुका है। अब जिस बात से रोगी डरता है, वह उस बात का प्रतीक मात्र होता है। पिछले एक उदाहरण में बताया गया है कि एक छात्र गन्दे कागज के टुकड़ों से डरता था। वास्तव में वह ऐसी बात से डरता था जो चेतना की सतह पर आजाने से उसके आत्म-सम्मान को ठेंस पहुँचाती। वह कामवासना सम्बन्धी गन्दगी से डर रहा है। उसके जीवन में ऐसी कामवासना सम्बन्धी घटनायें घटी थीं, जो प्रकाशित होनेपर उसके आत्म-सम्मान को धक्का लगातीं। जो बातें मनुष्य दूसरों से छिपाना चाहता है वह अपने आप से भी छिपाता है अर्थात्

वह उसे भूल जाना चाहता है। वह इस प्रयत्न में सफल अवश्य होता है, परन्तु अब उसके प्रतीक ही उसे तंग करने लगते हैं। चेतना को तंग करने वाले पदार्थ का बल उस दबे आवेग में रहता है जिसका अनुभव पिछले जीवन में हुआ और जिसे अप्रिय होने के कारण व्यक्ति ने भुलाने की चेष्टा की और इस प्रकार अपने अचेतन मन में जिसे संचित कर लिया है।

प्रायः सभी प्रकार के मानसिक रोग के निवारण का उपाय उस घटना को ही रोगी द्वारा स्मरण कराना है, जो रोगी के आत्म-सम्मान के विरुद्ध है और जिसके स्मरण से उसके आत्म-सम्मान को ठेस लगती है अथवा उसे भारी क्लेश होता है। हम जिस दुःख से भागना चाहते हैं वह हमें छोड़ता नहीं, उसे हमें किस्तों द्वारा अदा करना पड़ता है। जब तक यह दुःख रूपी ऋण अदा नहीं होता उतने दिन तक वह फलता रहता है। उसकी अदायगी का दिन जब आ जाता है तो हमें मानसिक और शारीरिक क्लेश के रूप में उसे ब्याज सहित चुकाना पड़ता है। कभी कभी ब्याज चुकाते चुकाते ही हमारी आन्तरिक दृढ़ता का दिवाला निकल जाता है। ऊपरी रोग से परेशान होकर हम मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं।

लेखक के एक छात्र को हाल ही में क्षय रोग हो गया था। इस रोग के पीछे उसकी आत्म-ग्लानि की भावना थी जो उसकी क्षय रोग से पीड़ित की मृत्यु से सम्बन्धित थी। उसकी स्त्री की मृत्यु क्षय रोग से ही हुई थी। इस छात्र की धारणा हो गई थी कि उसकी कामुकता के कारण ही उसे यह रोग हुआ और वही उसकी मृत्यु का कारण है। वह अपने को इसके लिये अपराधी समझता था, परन्तु वह इस अपराध की स्मृति को भुलाने की भी चेष्टा करता रहा। उसने अपने अपराध

को किसी से नहीं कहा। वह अपनी लज्जास्पद दुःखद स्मृति को दबाने में समर्थ तो हुआ परन्तु वह इससे उस अपराध के दण्ड से अपने को न बचा सका। उसके अचेतन मन का आत्मसात उसकी क्षय रोग-ग्रसित पत्नी से हो चुका था। वह कुछ दिनो तक मानसिक अशान्ति में रहा, पीछे वह उसी रोग का शिकार बनगया जो उसकी स्त्री को हुआ था; अर्थात् वह अपनी स्त्री के जीवन का अभिनय करने लगा। अचेतन मन जिस घटना से आत्मसात करलेता है वह घटना चेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल ही घटित होने लगती है। यह आत्मसात की हुई घटना जब तक चेतना की सतह पर नहीं लाई जाती, तब तक मानसिक ग्रन्थि का रेचन नहीं होता और जब तक उसका पूर्ण रेचन नहीं होता तब तक रोग भी नहीं जाता।

टी० बी० के डर से पीड़ित विद्यार्थी के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन से हमें पता चला था कि उक्त विद्यार्थी को कुछ साल पूर्व कई प्रकार की काम-कुटेवें थीं। उसे पीछे यह भी ज्ञात हुआ कि जो इन कुटेवों में पड़ता है, उसका शरीर दुर्बल हो जाता है, स्मृति बिगड़ जाती है, उसका चेहरा काला पड़ जाता है और वह क्षय रोग का भी शिकार हो जाता है। इन बातों के ज्ञान ने उसके मनमें भय उत्पन्न किया कि कहीं उसे भी ऐसा ही न हो जाय। उसने कुटेवों को छोड़ दिया और उनकी लज्जास्पद स्मृति को भुलाने का उसने प्रयत्न किया। वह इसमें सफल हो गया, परन्तु उसका दबा भय क्षय रोग के भ्रम में प्रकट हो गया। उसके मन ने झूठा ही कारण खोज लिया। जब उसे क्षय रोग नहीं था तभी वह उसके भय से पीड़ित रहने लगा। जब रोगी के मन में उसके पुराने कृत्यों की स्मृति जगाई गई और उन्हें स्वीकार कराया गया, तब उनका भय जाता रहा।

यहां यह बात जानने योग्य है कि जिन लोगों में अनैतिक आचरण की स्मृति दबी रहती है, वे नैतिकता में साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक बढ़े-चढ़े रहते हैं। कामवासना-सम्बन्धी स्मृति का दमन मनुष्य को बड़ा ही ब्रह्मचर्यवादी बना देता है। ऐसे लोग शरीरिक शृङ्गार को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। दूसरों का शरीरिक शृङ्गार उन्हें असह्य होता है। यहां एक उपदेशक की झक का उदाहरण जिसे बी० ई० फिशर ने अपनी इन्ट्रोडक्शन टू एबनार्मल साइकोलाजी में दिया है उल्लेखनीय है:—

"एक अंग्रेज पादरी को, जो अन्य बातों में बहुत ही अच्छा था और जो ग्रामीण जनता को बड़े अच्छे उपदेश देता था, इसलिये अपने पद से हटना पड़ा कि वह रविवार के दिन गिरजाघर में आई युवतियों के शृङ्गार को सह नहीं सकता था और इनके शृङ्गार पर आलोचना करता था। उसके पिछले जीवन के अध्ययन करने से पता चला कि अपनी युवा काल में उसे एक अधिक शृङ्गार करने वाली युवती से प्रेम-सम्बन्ध करने पर धोखा हुआ था। अब वह एक ओर अत्यधिक धार्मिक हो गया और दूसरी ओर उसके मन में काम-वासना दबी रह गई। यही वासना युवतियों के शृङ्गार की आलोचना में प्रगट होती रहती थी।"

कभी-कभी ऐसे ही लोगों को सफाई की झक रहती है। वे सभी वस्तुयें बड़ी सावधानी से रखते और वे बाहरी बातों में अत्यधिक सावधान रहते हैं। इनमें सफाई की झक इतनी अधिक बढ़ जाती है कि दिन भर कपड़ा बदलना, हाथ साफ करना, घर साफ करना, कई वार बर्तन मलना आदि बातें करना ही उनका दिनभर का काम हो जाता है।

कभी-कभी मनुष्य अपने हठी विचारों के कारण काल्पनिक बीमारियों का पीड़ित रहता है। मान लीजिये, किसी व्यक्ति के मन में यह झूठी धारणा जम गयी है कि वह किसी भयंकर बीमारी का शिकार हो रहा है और वह इस कल्पना से मुक्त होने की इच्छा रखते हुए भी उससे मुक्त नहीं हो पाता, तो उसकी यह कल्पना उसे वास्तविक रोग से भी अधिक त्रास देती है। जब कोई ज्योतिषी किसी आदमी को बता देता है कि उसके ऊपर आपत्ति आनेवाली है, तो उस व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार के अशुभ विचार आने लगते हैं। धीरे-धीरे ये अशुभ विचार हठी विचार का रूप धारण कर लेते हैं। इससे उस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है और फिर अप्रिय घटना की कल्पना ही भारी त्रास देती है। जब तक किसी मनुष्य की इच्छा-शक्ति दृढ़ और बलवती होती है वह आपत्तियों का सामना वीरतापूर्वक करता है किन्तु जब उसकी इच्छा-शक्ति कमजोर हो जाती है, तब वह अपने आस-पास विपत्तियों का पहाड़ खड़ा कर लेता है।

हठी विचार निद्रा आने में बाधक होते हैं। अनिद्रा के रोगी की यह काल्पनिक धारणा बन जाती है कि उसे नींद नहीं आती। यह अशुभ विचार उसके मन में हठी विचार बन जाता है और रोगी सदा इसी विचार से लड़ा करता है। फलतः उसकी नींद में बाधा पहुँचती है। नींद न आने का विचार ही अनिद्रा का कारण बन जाता है और व्यक्ति अपने आप को अनिद्रा की बीमारी से आक्रान्त पाता है।

हठी विचार से मुक्त होने का उपाय

हठी विचारों से मुक्ति पाने के लिए हमें उनकी उत्पत्ति के कारणों को जानना आवश्यक है। उत्पत्ति के कारणों को

जाने बिना हठी विचारों से मुक्त होना सम्भव नहीं। हठी विचारों की उत्पत्ति का कारण हमारे अन्तर मन में स्थिर कोई मानसिक ग्रन्थि होती है। मानसिक ग्रन्थि अचेतन मन में रहती है और हठी विचार चेतन मन में रहते हैं। हठी विचारों से लड़ने से ही उनका अन्त नहीं होता, क्योंकि उत्पत्ति का कारण अचेतन मन में होता है। हम अपने हठी विचारों पर नियन्त्रण चेतन और अचेतन मन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करके ही प्राप्त कर सकते हैं। हम अचेतन मन में स्थित मानसिक ग्रन्थि को मन के चेतन स्तर पर लाकर ही समाप्त कर सकते हैं तथा अपने अचेतन और चेतन मन में सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं। मानसिक ग्रन्थि चेतन मन के स्तर पर आते ही नष्ट हो जाती है और उसके साथ हठी विचार भी नष्ट हो जाते हैं।

हम अपने चेतन और अचेतन मन में दूसरी विधि से भी सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं। यह विधि मन में अशुभ विचारों के प्रतिद्वन्द्वी शुभ विचारों को दृढ़ बनाने की है। यही इमिल कूए महाशय की निर्देश विधि के नाम से प्रसिद्ध है। बहुत सी यौगिक क्रियायें, जिनकी सहायता से मानसिक चिकित्सा की जाती है, इसी विधि पर आधारित हैं। यौगिक क्रियायों के द्वारा अचेतन मन में स्थित मानसिक ग्रन्थि के विरोधी प्रबल विचारों को चेतन मन से अचेतन मन की ओर प्रवाहित किया जाता है। हमलोग अपने आस-पास रहनेवाले लोगों के विचारों से अदृश्यरूप से प्रवाहित होते रहते हैं। यदि हम किसी महापुरुष के संसर्ग में रहते हैं, तो अदृश्यरूप से हमारी आत्मोन्नति होती रहती है और यदि नीच प्रकृतिवाले लोगों के संसर्ग में रहते हैं, तो अदृश्यरूप से हमारा पतन होता रहता है।

साधु पुरुषों की संगति हमें अपने हठी विचारों से सरलतापूर्वक मुक्त होने में सहायक होती है। वे अप्रत्यक्ष रूप से हमारी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाते रहते हैं। इनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति और निर्देशों का प्रभाव हमारे अचेतन मन पर पड़ता है और वह हमारे अवांछनीय विचारों को नष्ट कर देता है। यदि हमारी किसी साधु पुरुष के प्रति श्रद्धा है, तो और भी लाभ होता है। अतएव हठी विचारों से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय दृढ़ इच्छा-शक्ति वाले साधु पुरुषों से सम्पर्क स्थापित करना है।

सत्संग एक प्रभाव संसार के भोगों और वैभव के प्रति उदासीनता के भाव की उत्पत्ति है। जैसे-जैसे मनुष्य में यह वैराग्य भाव आता वह अपने हठी विचारों से अनायास ही मुक्त हो जाता है। फिर वह हठी विचार से भी उदासीन हो जाता है। यदि कोई हठी विचार हटाने के यत्न करने पर भी नहीं हटता तो उसे मन में आने की छूट देना ही उचित है। जब किसी हठी विचार को इस प्रकार मन में आने की छूट दे दी जाती है वह अनायास ही मन से विदा ले लेता है। हठी विचार की गति पतंग के समान होती है। जब एक बार पतंग को आकाश में उड़ा दी जाती है तो जैसे-जैसे उसे हम अपनी ओर खींचते हैं वह जमीन से ऊँची ही उठती जाती है, जब पतंग को बिलकुल ढील दे दी जाती है तो वह जमीन में गिर जाती है। इसी प्रकार हठी विचार को जब मनमानी करने की ढील दे दी जाती है तो वह अपने आप आप ही समाप्त हो जाता है।

संसार के नैतिक विधान में विश्वास करने से भी हम हठी विचारों से मुक्ति पा सकते हैं। जब हम विश्वास करने लगते हैं कि संसार के सभी कार्य एक ऐसी शक्ति अथवा नियम के द्वारा संचालित होते हैं, जो कभी भी भूल नहीं कर सकती तो

हम अपने भविष्य को उसी नियम अथवा शक्ति पर छोड़ देते हैं। ऐसा करने से हमारे अशुभ विचार हमको त्रास नहीं देते और स्वयं ही धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं।

मनोविज्ञान का अनुभव-सिद्ध नियम है कि ध्यान को एकाग्र करने के लिए विक्षेपों को दूर करने की चेष्टा न करना ही सर्वोत्तम है। विक्षेपों को दूर करने की इच्छा उनको सदा हमारी चेतना के समक्ष उपस्थित किये रहती है। ध्यान को एकाग्र करने के लिए विक्षेपों से मित्रता स्थापित करना और उनका अपने कार्य में उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य को चाहिए कि विक्षेप उत्पन्न होने पर वह अपने कार्य को न त्याग कर पूरी शक्ति से उसी कार्य में लगा रहे।

हठी विचारों की उत्पत्ति का कारण हमारे अचेतन मन में स्थित कोई अभद्र-भावना की ग्रन्थि होती है। हठी विचारों के न होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति खिन्न रहता है, तो उसके मन में अवश्य कोई न कोई अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द उसी समय उत्पन्न होता है, जब हम अपने आदर्श स्वत्व के प्रतिकूल कोई काम करते हैं। मान लीजिये, दो मित्रों में आपस में अनबन हो जाती है और वे एक दूसरे को नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। किन्तु जब उनमें से कोई एक दूसरे को नुक़सान पहुँचा देता है तो उसकी नैतिक मनोवृत्ति विद्रोह कर उठती है और उसको अनेक प्रकार के हठी विचार पकड़ लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि दो मित्रों की साधारण अनबन भी हठी विचारों का रूप ग्रहण कर लेती है। इस मनोवृत्ति से वह तब तक मुक्त नहीं हो पाता, जब तक कि वह अपने किये हुए अनुचित कार्य का प्रायश्चित्त करके आदर्श स्वत्व और वर्त्तमान स्वत्व में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर लेता।

लेखक के एक मित्र को सन्देह हो गया था कि पुलिस उसके पीछे पड़ गयी है। इस सन्देह ने हठी विचार का रूप ले लिया और वह इच्छा रखते हुए भी अपने आप को इससे मुक्त नहीं कर पाता था। वह एक पोष्टआफिस में क्लर्क था। उसने पोष्टआफिस में चोरी होने की रिपोर्ट थाने में दी थी। पुलिस ने अपराधी की खोज की, किन्तु चोर नहीं पकड़ा गया। बाद में मित्र को सन्देह उत्पन्न हो गया कि पुलिस छिपे छिपे उसीं का पीछा कर रही है। इस सन्देह ने उसके मन में असाधारण स्थिति उत्पन्न कर दी। इसी विचार से अनेक दिन त्रस्त रहकर उसकी मृत्यु हो गयी।

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त व्यक्ति ने स्वयं ही सरकारी धन का अनुचित लाभ उठाया था। उसकी नैतिक मनोवृत्ति ने उसके प्रति विद्रोह किया और उसको दोषी ठहराया। इसी मनोवृत्ति ने उपरोक्त सन्देह को पैदाकर फिर उसने हठी विचार का रूप धारण कर लिया।

हमारा सीधा-सादा व्यवहार और रहन-सहन हमको मन की असाधारण स्थिति से बचाते हैं। परन्तु जब एक बार हमारे मन में अन्तर्द्वन्द्व या हठी विचारों की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तो अपने अनुचित कार्य के लिये प्रायश्चित्त करके ही हम उसका निराकरण कर सकते हैं। किसी व्यक्ति के विचार और कार्य जितने ही उदार होते हैं और जितना ही अधिक वह लोक सेवा में लगा रहता है, उतने ही कम उसको मानसिक रोग और पीड़ाएँ होती हैं। यदि कोई मनुष्य विश्व की समस्त वस्तुओं और घटनाओं के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करे, तो वह कभी मानसिक व्यथाओं का शिकार ही न हो।

———

प्रकरण १२

मनुष्य के भय

मनुष्य के भयों की विलक्षणता

भय एक प्रवल मानसिक आवेग है। सभी प्राणियों को भय होते हैं। इससे उनके जीवन की रक्षा होती है और वे अपने आपकी उन्नति भी कर सकते हैं। प्राणरक्षा की प्रवृत्ति के साथ-साथ भय का आवेग काम करता है। कुछ-न-कुछ भय रहना सभी लोगों के लिये, चाहे वे अशिक्षित और मूर्ख हों अथवा शिक्षित और विद्वान हो, अच्छा है, परन्तु भय जब एक मात्रा से अधिक हो जाता है अथवा जब वह अविवेकी वन जाता है, तब वह घातक हो जाता है। फिर वह मनुष्य की उन्नति न कर उसका विनाश कर डालता है। इस प्रकार के भय से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य के जीवन की एक विशेषता यह है कि वह एक ओर जहाँ इतना निर्भीक वन सकता है कि हँसते-हँसते अपने प्राण समर्पित कर दे, वहाँ वह इतना भयभीत भी हो जाता है कि वह किसी भयानक दृश्य को देखकर ही मर जाय। दूसरे प्राणी तो उन्हीं बातों से डरते हैं, जो उनके लिये वास्तव में घातक होती हैं, मनुष्य बहुत सी निरर्थक वस्तुओं से भी डरा करता है।

मनुष्य के भय की एक और विलक्षणता है। पशु-पक्षी अपने भय को छिपा नहीं सकते। मनुष्य अपने भय को इतना छिपा सकता है कि न केवल दूसरे लोग वरन् स्वयं भययुक्त

व्यक्ति ही यह नहीं जानता कि उसके भीतरी मन में भय बैठ गया है। यह छिपा हुआ भय ही भय की मानसिक-ग्रन्थि कहलाता है। जिस व्यक्ति का भय अपने आप से छिपा है वह अपने आपको कायर व्यक्ति न मानकर बहादुर व्यक्ति मानता है। वह दूसरों के सामने अपनी बहादुरी की कहानियाँ सुनाया करता है। यदि उसकी इन कहानियों पर कोई सन्देह करे तो वह चिढ़ जाता है। जिस प्रकार बाहर से तपवादी व्यक्ति के व्यक्तित्व में सुख की प्रबल इच्छा दबी रहती है, और काम-वासना से घृणा करनेवाले व्यक्ति के अचेतन मन में प्रबल कामवासना बनी रहती है, उसी प्रकार ऊपर से निर्भीक रहनेवाले व्यक्ति के मन में प्रबल भय का भाव रहता है। यही कारण है कि घबड़ाहट और हृदय के रोग से जितने स्थूलकाय और पहलवान लोग मरते हैं, दुबले-पतले लोग उन रोगों से न उतने घबड़ाते ही हैं और न उन्हें हृदय-रोग ही उतना होता है। मार खाने वाला व्यक्ति शरीर को बलवान बनाने में लग जाता है, इससे उसका शारीरिक बल बढ़ जाता है और चेतन मन से वह निर्भीक भी बन जाता है, परन्तु उसका आन्तरिक भय इस प्रकार नहीं जाता। व्यक्ति इस भय को छिपाने की जितना ही चेष्टा करता है वह उतना ही प्रबल हो जाता है। यह छिपा भय कभी-कभी शारीरिक और मानसिक रोग के रूप में प्रगट हो जाता है।

लड़ाई के समय कुछ सिपाहियों को कल्पित लकवा हो जाता है। उनके अंगों को कोई क्षति नहीं होती परन्तु वे उनको काम में नहीं ला सकते। ऐसे व्यक्तियों के मानसिक अध्ययन से पता चला है कि वे भीतरी मन से लड़ाई के दृश्यों से डरते थे, परन्तु वे इस डर को स्वीकार नहीं करते थे। अपने साथियों

को बहादुरी की शान दिखाने की अभिलाषा उन्हें इस भय को स्वीकार नहीं करने देती थी। ऐसे लोग दूसरे सिपाहियों के सामने अपनी बहादुरी की डींग हाँका करते हैं। ऐसी ही बहादुरी की डींग हाँकनेवाले एक सिपाही के सामने एक तोप का गोला गिरा और फट गया। इस दृश्य से वह बेहोश हो गया। गोला से उसे कोई चोट नहीं आई थी, परन्तु भय के कारण उसका मुँह खुल गया था। वह फिर इसी अवस्था में रह गया, अर्थात् उसे खुले मुँह की अवस्था में मानसिक लकवा हो गया। जब मनोवैज्ञानिक-उपचार से इसके छिपे भय का रेचन हुआ तब उसका मुँह बन्द हो गया। इस तरह उसके भीतरी मन की वास्तविक स्थिति को संसार के लोगों ने जान लिया। मन की छिपी भावना को जब हम स्वेच्छा से प्रकाशित नहीं करते, तब वह हमारी इच्छा के विरूद्ध रोग-रूप में प्रकट हो जाती है।

एक व्यक्ति भूतों के प्रति अपनी निर्भीकता की बहुत चर्चा किया करता था। गर्मी के दिनों में वह एक बार दोपहर में आम के पेड़ के नीचे चारपाई पर सो रहा था। इस आम को लोग भुतहा आम कहते थे। उसे अपनी अर्धसुप्तावस्था में अनुभव हुआ कि किसी ने पेड़ के ऊपर से उसपर रेत फेंकी है। उसने उठ कर देखा तो वहाँ कोई नहीं था। उसके मन में आया कि आम में रहनेवाले भूत ने उसके ऊपर रेत फेंक दी है। वह अपने आपको निर्भीक तो समझता ही था। बस क्या था। उसने पास में रखे जूते को उठाया और आम के पेड़ को मारने चला। परन्तु ज्योंही उसने पेड़ को जूता मारना चाहा, वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। उस समय से इस व्यक्ति को बराबर मूर्छा होने लगी। उसका मूर्छा का रोग तब तक नहीं गया, जब तक उसके भीतरी भय का भाव, जिसे

उसने छिपा रखा था, नष्ट नहीं हुआ। इस छिपे भय को मनोविश्लेषण की रेचन प्रणाली से नष्ट किया गया।

भय की मानसिक ग्रन्थि मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के असाधारण भय उत्पन्न करती है। आधुनिक मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने इन भयों के नये-नये नाम दिये हैं। बहुत से लोगों को छिपकली और चूहों का, कीड़े-मकोड़ों का, साँप-छछूंदर का, असाधारण भय होता है। एक प्रतिष्ठित शिक्षित व्यक्ति अपनी पचास वर्ष की अवस्था में रोशनी के आस-पास आनेवाले पतंगों से इतना डरते थे, कि उनके कारण वे रोशनी के पास ही नहीं जा सकते थे। उन्हें पतंगों की छलांग शेर की छलाङ्ग के समान भयभीत कर देती थी। मेरे एक मित्र मेढ़क से बहुत डरते थे। उन्हें वायलाजी-कक्षा में चीरफाड करने वाले विद्यार्थियों की हिम्मत पर आश्चर्य आता था। यदि अचानक मेंढक उनके ऊपर कूद पड़े तो हृदय की गति रुकने की नौबत आ जाय।

कुछ लोगों को साँप का इतना भय रहता है कि वे इसके त्रास के मारे सुख की नींद नहीं सो पाते। उन्हें स्वप्न में साँप परेशान करते रहते हैं। जब कभी वे बाहर खेतों में घूमने जाते हैं तो हर बिल और दरार में साँप ही दिखाई देते हैं। डर के मारे वे स्वतन्त्रता से मैदान में भी विचरण कहीं नहीं कर पाते। पाखाने में, नालियों में और मकानों की छतों पर ही साँप की कल्पना नहीं उठती वरन् अपने बिस्तर के नीचे, तकिये के गिलाफ और कोट की अस्तीन में भी उन्हें सर्प की कल्पना आती है। इस प्रकार का एक रोगी बनारस हिन्दू-यूनिवर्सिटी के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में आठ वर्ष पहले आया था। बेचारा विद्यार्थी इस डर के मारे रात को कमरे के बाहर नहीं निकलता था और दिन को भी उसे अपने बिस्तर को बार-बार झाड़ना पढ़ता था।

प्रतीक भयों का कारण

इस प्रकार के भयों के अध्ययन से पता चला कि रोगी के वास्तविक भय का कारण दूसरा ही है, बाहरी पदार्थ उसका प्रतीक मात्र है। छिपकली-चूहों से, कीड़े-पतंगों से, तथा साँप-छछून्दर से अत्यधिक डरनेवाले व्यक्तियों में काम वासना का अत्यधिक दमन पाया जाता है। वे उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आन्तरिक मन में सदा आदर्शवादी और भोगवादी वासनाओं का अन्तर्द्वन्द्व चला करता है। काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने के परिणामस्वरूप वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये डर की वस्तु बन जाती है। यही भय कुछ ऐसी वस्तुओं पर आरोपित हो जाती है, जो स्वयं निर्दोष है परन्तु जिनका भय के पदार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को मनुष्य का चेतन मन नहीं समझता। यदि इसे समझाया भी जाय तो भी वह नहीं समझेगा। वास्तव में इस प्रकार के निरर्थक भय मनुष्य को तभी तक रहते हैं जब तक मनुष्य उनके वास्तविक अर्थ को नहीं जानता। जब कोई रोगी अपने असाधारण भय के वास्तविक अर्थ को जान लेता है तो उसका भय ही नष्ट हो जाता है।

मानसिक ग्रन्थि के रूप में पड़ा हुआ भय न केवल निर्दोष पदार्थों अथवा जीवधारियों के भय के रूप में प्रकाशित होता है, वरन् वह दूसरे प्रकार से भी प्रकाशित होता है। कितने ही लोगों को अकेले रहने का भय होता है और कितनों को बहुत से लोगों में जाने का भय होता है। कुछ लोग ऊँचे मकानों को देखकर डरते हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि वे मकान उनके ऊपर ही गिर पड़ेंगे। कुछ को सड़क के पार जाने का भय होता है। कितने ही सुशिक्षित व्यक्ति सभा में सब कुछ जानते हुए भी

कुछ बोल नहीं पाते। हमारे एक परिचित व्यक्ति करोड़पति हैं, वे विद्वान भी हैं। अतएव सभा में उन्हें सभापति का आसन दे दिया जाता है। परन्तु वे जब सभा में बोलने लगते हैं तो उनके हृदय की धड़कन इतनी बढ़ जाती है कि वे दो चार शब्द भी नहीं बोल पाते। सभा के मंत्री को ही सारा बोलने का काम करना पड़ता है। स्वयं महात्मा गांधी को कई वर्षों तक सभा में बोलने का भय तंग करता रहा। विलायत से जब वे बैरिस्टरी पास करके आये थे और उन्हें दावतें दी जा रही थीं, तो वे बिदाई देनेवालों की सभा में दो शब्द भी न कह पाते थे। इसी प्रकार फीरोजशाह मेहता-द्वारा आयोजित बंबई की सभा में वे अफ्रीका के कामों के विषय में अपना लिखित भाषण भी ठीक से न पढ़ पाये।

इस प्रकार के भयों का कारण अपने पिछले जीवन में घटित आत्म-ग्लानि उत्पन्न करनेवाली घटनायें होती हैं। इन घटनाओं का स्मृति पर आना मनुष्य के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाता है, अतएव मनुष्य उन घटनाओं के स्मरण से डरता है। फिर वे अपने सच्चे स्वरूप में चेतना की सतह पर न आकर प्रतीक रूप से आती हैं। अतएव मनुष्य उनके प्रतीकों से ही डरने लगता है। जिस व्यक्ति ने नैतिकता के नियमों के विरुद्ध कोई आचरण किया है, वह इस प्रकार के अनाचार के लिये दंड पाने से डरता है। इसके कारण उसका आचरण एक ओर कठोरता पूर्वक नियमबद्ध हो जाता है और दूसरी ओर वह उन बातों से डरने लगता है जो नियम के तोड़ने के प्रतीक हैं। जिस व्यक्ति ने अकेले में छिपकर किसी प्रकार का व्यभिचार किया है अथवा व्यभिचार की भावना मात्र मन में लाया है, उसे अकेले रहने का भय हो जाता है। जो घर के बाहर

जाकर अथवा समाज में मिलकर किसी अनैतिक आचरण को करने की इच्छा रखते हैं, उन्हें उनकी धर्म-बुद्धि घर के बाहर ही नहीं जाने देती। व्यभिचार की ऐसी प्रबल इच्छा, जिसे व्यक्ति स्वयं नहीं जानता, सभी पदार्थों के प्रति डर का भाव उत्पन्न कर देती है। ऐसे डर उन लोगों को होते हैं जो बचपन में कठोर नैतिकता की शिक्षा पाते हैं; परन्तु बाद में कुसंगत में पड़कर कुछ अनैतिक आचरण कर डालते हैं। यदि ऐसे व्यक्तियों के बचपन में कठोर नैतिकता की शिक्षा न हो, तो उन्हें ऐसे डर न हों। ये डर मन से तबतक नहीं जाते जबतक मनुष्य के आन्तरिक मन में उसकी भोग वासनाओं और आदर्शवादी स्वत्व में समन्वय स्थापित नहीं होता। अपने मन के अन्तर्पटल को जानकर ही यह समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इसके लिये एक ओर भोग प्रवृत्ति का दमन कर उसका परिष्कार करना पड़ता है और दूसरी ओर नैतिकता को भी व्यवहारिक बनाना पड़ता है।

पहले बताये गये सभी प्रकार के भय मनुष्य के असन्तुलित जीवन के परिणाम हैं। कितने ही लोगों के जीवन में भोग-वासना का अत्यधिक दमन होता है। बहुत से नवयुवक समय से पूर्व आदर्शवादिता में पड़कर काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। वे उसे अपने जीवन के विकास का सबसे बड़ा शत्रु मानने लगते हैं। फिर यही वासना उन्हें स्वप्न में अनेक प्रतीकों के द्वारा तंग करती है। उन्हें दंगे के स्वप्न, पानी में गिरने के, पहाड़ों से फिसलने के, पीछा किये जाने के, आग में पड़ने के ऐसे अनेक भयावने स्वप्न होते हैं। जो वासना उन्हें सुख और शान्ति दे सकती है, जो उनके जीवन को सुन्दर और वैभवशाली बना सकती है, वही घृणा के भाव से तिरस्कृत होने पर

अनेक प्रकार के भयों का कारण बन जाती है। ऐसे मनुष्य का भीतरी मन दो भागों में बँट जाता है और उसका एक भाग दूसरे भाग के साथ निरन्तर संघर्ष करता रहता है। ऐसे लोगों को न केवल अकारण भय ही सताते हैं वरन् उन्हें अकारण ही आत्म-भर्त्सना होती रहती है। उनका मन सदा चिंतायुक्त रहता है। वे किसी बात के बारे में सरलता से निर्णय नहीं कर पाते। वे कुछ करने जाते हैं पर हो जाता है कुछ और।

असंतुलित व्यक्ति कभी-कभी विषय-लोलुपता के चंगुल में पड़कर कुछ नैतिक भूलें कर डालते हैं। ऐसे लोगों को आन्तरिक शान्ति नहीं रहती। मनुष्य जब कभी अपने नैतिक स्वत्व के विरुद्ध कार्य करता है तो उसे दण्ड अवश्य मिलता है; यह दण्ड चाहे राजकीय हो या सामाजिक अथवा अपने आप से ही दिया गया। हम दूसरों से मिलनेवाले दण्ड से बच सकते हैं, परन्तु अपने आप से मिलनेवाले दण्ड से नहीं बच सकते। दूसरों की आँखों में धूल झोंकना सरल है, परन्तु अपनी आँख में धूल झोंकना सरल नहीं। मनुष्य इसका प्रयत्न अवश्य करता है, परन्तु वह जितना ही अधिक अपने आपको धोखा देने की चेष्टा करता है उसे व्याज-सहित दण्ड मिलता है। उसे अकारण भय, चिंता, निराशा, और अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनायें सताने लगती हैं।

अकारण भय का उपचार

किसी प्रकार के अकारण भय का उपचार रोगी के प्रति प्रेम प्रदर्शन से, उसकी वेदना सहानुभूति पूर्वक सुनने से, उसके जीवन की भावात्मक घटनाओं को लिखाने और फिर उन्हें सुनने तथा मानसिक शैथिली करण के अभ्यास से समाप्त होता है। यहाँ

इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान शाला के उपचार से लाभान्वित युवकों के अनुभव उल्लेखनीय हैं—

"आज से दो वर्ष पूर्व मुझे ऐसी घबंड़ाहट हो गई थी कि मैं किसी के सामने आँख उठाकर बातचीत नहीं कर सकता था। मेरे मन में सदा किसी-न-किसी प्रकार का सन्देह बना रहता था। मुझे भय होता था कि मैं अपनी स्त्री को सन्तुष्ट नहीं कर सकूँगा। मैं विवाहित हूँ, परन्तु स्त्री से मेरा कोई सम्पर्क नहीं हुआ। इस घबड़ाहट के कारण मेरा विचार अस्थिर हो गया और चित्त की एकाग्रता में कमी हो गई। पहले मैं प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी था, पर अब परीक्षा में पास होना भी कठिन हो गया। मैं एक साधारण परिवार का व्यक्ति हूँ। अतएव जब तब मैं पढ़ाई में विशेष योग्यता न दिखाऊँ मेरा पढ़ना असम्भव था। इससे मेरा जीवन अन्धकारमय हो गया। मैं सातवें दर्जे में प्रथम श्रेणी में पास था और मेरिटलिस्ट में आने के कारण मुझे ३ वर्षतक छात्रवृत्ति मिली। उस समय मेरी अवस्था १५ वर्ष की थी। इस समय मैं २१ वर्ष का हूँ। पिछले ५ वर्ष मेरे लिए बड़े संघर्ष के रहे।

जब मैं मैट्रिक में पढ़ रहा था, उसी समय मुझे कामवासना-सम्बन्धी अनेक प्रकार के अनुभव हुए। मुझे हस्तमैथुन की आदत पड़ गई थी। इससे मैं घबड़ाता था, पर इसे छोड़ न सकता था। इसी बीच मेरा विवाह भी हो गया। परन्तु स्त्री से मेरा मिलन न हुआ। स्त्री से मिलना एक उत्सुकता मात्र बनी रही इधर कामोत्तेजना बढ़ती ही गई। कभी-कभी अपने समीप के सम्बन्धियों के प्रति भी कामोत्तजना हो जाती और इसके लिए मैं भारी आत्म-भर्त्सना करता था। मैं सोचता था कि मेरे समान पापी कोई न होगा जो अपने सम्बन्धी के प्रति भी व्यभिचार की भावना मन में लाता है।

मैं अपनी घबड़ाहट, संयम की मनोवृत्ति और निराशा की भावना लेकर मनोविज्ञानशाला में आया। मैंने पं० लाल जी राम शुक्ल की 'सरल मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पढ़ी थी। यह पुस्तक मेरे कोर्स में थी। इस पुस्तक के अतिरिक्त मैंने शुक्लजी की मानसिक चिकित्सा' और 'नवीन मनोविज्ञान' पढ़ी थी, तथा 'बालशिक्षण' के कुछ अध्याय देखे थे। हमारे मनोविज्ञान के प्रोफेसर ने एक बार मनोविज्ञानशाला की चर्चा की थी। इसी समय मनोविज्ञानशाला की स्थापना हुई थी। मेरी मनोविज्ञानशाला में आने की कई बार इच्छा हुई, पर आने का साहस न हुआ। इस तरह प्रथम वर्ष निकल गया। द्वितीय वर्ष में भी यहाँ आने की प्रेरणा होती रही, परन्तु आ न सका। मुझे हर वक्त संकोच होता था कि वहाँ जाकर मैं शुक्लजी से क्या कहूँगा।

इस बीच मुझे ज़ोरों का ज़ुकाम हुआ जो थोड़े अंश में पहले से ही था। मुझे इस समय विचार आया कि संभवतः मेरे ज़ुकाम का कारण मानसिक है। जब मैं द्वितीय वर्ष में था मुझे दाद हो गई। जब दाद ठीक हो गई तब मुझे भय हो गया कि दाद के स्थान पर मुझे कुष्ट हो जायगा। वह भय कुछ काल के लिए तो समाप्त हुआ, परन्तु मुझे बार-बार यह भय आया करता था कि कहीं कुष्ठ न हो जाय। अब मुझे बीमार होने की बहुत इच्छा होने लगी। इण्टर की परीक्षा के बाद मुझे घबड़ाहट का होना प्रारम्भ हो गया। घबड़ाहट का कारण मुझे शीघ्र पतन का भय दिखाई देता था। हस्तमैथुन के समय शीघ्र ही वीर्य गिर जाता था। मेरा किसी व्यक्ति से व्यभिचार का अनुभव न था। मैंने दो एक बार पशु के साथ काम चेष्टा करने का प्रयत्न किया था, इसमें शीघ्र वीर्य पतन हुआ था। इसके बाद भारी आत्मग्लानि हुई थी। इस क्रिया से मुझे सुजाक होने का भय होता था।

कालेज खुलते-खुलते अर्थात् तीसरे वर्ष में आते-आते घबड़ाहट बहुत बढ़ गई। उस समय ऐसा मालूम होता कि या तो हार्ट फेल हो जायगा या पागल हो जाऊँगा। घबड़ाहट की बात मैंने अपने मित्र से कही और मनोविज्ञान शाला जाना अनिवार्य समझा। मैं दो बार मनोविज्ञानशाला आया पर शुक्लजी से भेंट न हो सकी क्योंकि वे काशी में नहीं थे। तीसरी बार जब मैं मित्र के साथ आया, शुक्लजी से भेंट हुई।

अभी कालेज खुला था और अभी तक मेरे पढ़ने का कोई निश्चय नहीं था। न तो आर्थिक व्यवस्था ठीक थी और न मानसिक। शुक्लजी के घर पहुँचने पर वे मुझसे अकेले मिले। मेरा मित्र नीचे रुक गया। शुक्लजी ने मुझसे मेरी जीवन संबंधी बातें पूछी। मैंने इस बार अपने रोग और जीवन का कुछ परिचय दिया। इसमें कुछ काम वासना संबंधी बातें भी कहीं। इस पर शुक्लजी ने मुझे अपनी सम्पूर्ण भावात्मक घटनाएँ और प्रतिदिन का स्वप्न लिखने को कहा, उन्होंने मुझे एक अभ्यास भी बताया। अपने शरीर को शिथिल करके पड़कर यह सोचना कि शुक्लजी मुझे प्यार कर रहे हैं, मेरे शरीर के अवयवों पर हाथ फेर रहे हैं। जब मैंने शैथिलीकरणका अभ्यास किया तो मुझे अनुभव होने लगा कि मुझे लिंग ही नहीं है। उस समय मुझे शरीर के अभाव का भी अनुभव होता है। कुछ दिन बाद मुझे पेशाब करते समय ऐसा मालूम होता कि मेरा लिंग कट कर गिर गया।

मैंने स्वप्न और जीवनी लिखी। इस जीवनी को शुक्लजी को सुनाने के पहले अपने एक हार्दिक मित्र को सुना दिया। फिर शुक्लजी को यह जीवनी सुनाई। इसमें मेरी सभी ग्लानियुक्त भावनाओं का वर्णन था। शुक्लजी ने मुझसे अपने को गान्धारी

के सामने दुर्योधन की तरह वन जाने को कहा। 'दुर्योधन के जो अंग गांधारी ने देख लिए वे वज्र के हो गये। उसी लाभ के अधिकारी तुम भी हो।' वास्तव में वही हुआ।

एक बार जब मैं रविवार की मीटिंग में आया था तो कुछ विद्यार्थियों को यह कहते सुना कि 'जो प्रेम मुझे शुक्लजी से प्राप्त हुआ वह अपने माता-पिता से भी प्राप्य न था।' यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। अन्त में मुझे शुक्लाजी से कह देना पड़ा कि लड़के कैसे कहते हैं कि उन्हें शुक्लाजी से इतना अधिक प्रेम मिला। मुझे तो ऐसा अनुभव नहीं होता। शुक्लाजी ने सीढ़ी पर उतरते हुए कहा, 'बेटा, प्रेम मालूम नहीं होता, इस तरह से मालूम होने पर उसका महत्व ही नहीं रह जाता।" यह कहते हुए मुझे अपने साथ भोजन करने के लिए ले गये और अपनी पत्नी से कहा 'यह लड़का कहता है कि इसे कोई प्रेम ही नहीं करता।' मैंने भोजन किया। शुक्लजी के ये वाक्य मुझे बड़े ही प्यारे लगे। इसके दो-ही-एक दिन बाद मुझे अपूर्व प्रेम की अनुभूति होने लगी और यही उत्कण्ठा होती कि शुक्लाजी की गोदमें सिर रखकर लेट जाऊँ। कभी-कभी तो इसके लिए मैं बहुत ही घबड़ा-सा उठता। धीरे-धीरे यह तीव्रता कम हुई। एक दिन शुक्लाजी सेवापुरी का लेक्चर नोट करने के लिए मुझे वहाँ ले जा रहे थे। मेरे लिए कुछ रोटी और तरकारी भी उन्होंने अपनी स्त्री से ले ली थी। बनारस कैंट स्टेशन पर गाड़ी आने में कुछ देर होने से उन्होंने कहा 'आओ, रोटी खालें।' हम लोग खाने लगे। शुक्लजी की थाली में खाते समय कुछ हिचकिचाहट हुई। उन्होंने कहा खाते क्यों नहीं? मैंने भी साथ रोटी खाई। मेरे मन में यह भावना गूँजती 'आज तक मेरे पिता ने मुझे कभी अपनी थाली में भोजन

नहीं कराया।' एक साथ खाने में मुझे अतीव आनन्द की अनुभूति हुई।

शुक्लजी से मैंने अपने जीवन की सभी मार्मिक बातें बताईं। उन्होंने सान्त्वना दी कि ऐसा तो सभी के जीवन में प्रायः होता है। स्वप्न के विषय में उन्होंने अर्थ बहुत ही कम बतलाए। वे केवल सुन लिया करते थे। एक स्वप्न का अर्थ उन्होंने बताया वह उल्लेखनीय है। स्वप्न इस प्रकार था—

मैं अपनी एक भैंस को गाँव के पूर्व से पश्चिम की ओर, गाँव के मध्य से होकर ले जा रहा हूँ। थोड़ी ही देर में वह बैठने के लिए तत्पर होने लगती है और थोड़ी दूर जाते-जाते गिर पड़ती है। मैं गाँव के दक्षिण एक पेड़ के पास चला जाता हूँ। वहाँ एक छोटी जाति की स्त्री उपले पाथ रही है। उससे मैं भैंस की बीमारी का हाल बतलाता हूँ। उस समय मालूम होता है कि भैंस का पेट बहुत ही कड़ा है और वह पैर पटक रही है। स्त्री बतलाती है कि यदि उसे आप की बहिन एक गिलास दूध और शरबत पिलावे तो वह शान्त हो जायेगी। मैं पूछता हूँ "क्या वही पिलावे, दूसरा नहीं पिला सकता है?" उसने कहा, 'नहीं।' फिर मैं भैंस की तरफ बढ़ता हूँ। अब भैंस बिल्कुल धधकती हुई अग्नि सी हो जाती है, उसमें से जली और धधकती रस्सी की-सी चिनगारियाँ उड़ती हैं। पास में एक चिनगारी आती है। मेरे हाथ रस्सी रहती है और जलता हुआ अंश दूसरी ओर रहता है। फिर मैं घर जाता हूँ और माँ से कहता हूँ कि भैंस की स्थिति सोचनीय है, पिता जी रहते तो उसका कुछ उपचार करते। तब तक पिता जी भी नंगे शरीर घर में चले आते हैं और वे मुझसे खेत की तरफ जाने को कहते हैं। मैं जब उधर चलता हूँ तो जहाँ जलती हुई भैंस थी वहाँ पहले तो

अग्नि की लपट दिखलाई देती है, फिर बहुत जोर की जय-ध्वनि होती सुनाई देती है। मैं वहीं रुक जाता हूँ। इसी बीच गाँव का (ओझा) डीह खेलता हुआ आता है। मैं वहीं दबक जाता हूँ। मेरे पास आने पर मेरे ऊपर वह झपटता है, पर मुझे बिना नुक़शान पहुँचाये ही आगे बढ़ जाता है। जब मैं वहाँ से उठता हूँ तो देखता हूँ कि भैंस खूटे पर खड़ी है और पूर्ण चंगी तो नहीं, पर अच्छी हो गई है। इसी बीच मेरी नींद खुल जाती है।

शुक्ल जी ने उपर्युक्त स्वप्न को वासना का खेल बताया। भैंस वासना की प्रतीक है। धधकती हुई वासना की शान्ति उस सम्बन्धी के द्वार हो सकती थी जिसके प्रति मेरे मन में कामुक विचार उठते थे। बहिन सम्बन्धी की प्रतीक थी। ओझा चिकित्सक था। उसके ही खेल से भैंस की आग शान्त हो गई और वह स्वस्थ हुई। पूर्ण स्वस्थ नहीं हुई थी। इसका अर्थ यह था कि वासना अभी पूर्ण शान्त नहीं हुई थी।

ऐसे मैंने अनेक स्वप्न शुक्ल जी से कहे। उनमें से कुछ का अर्थ उन्होंने बताया और कुछ को सुनकर चुप रह गये। अपने मानसिक रोग से मुक्त होने के लिए उन्होंने मेरे अनजाने ही बच्चों से प्रेम करने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। मैं शुक्ल जी के बच्चों के साथ खेलने लगा। इसमें शुक्ल जी की एक साल की मुन्नी मेरे गोद आने लगी और मैं उसे खेलाता। इसी प्रकार बड़े बच्चे भी मुझसे प्रेम करने लगे। शुक्ल जी के घर के सभी लोगों का मेरे प्रति अत्यन्त स्नेहयुक्त व्यवहार था। इससे मुझे जितनी शान्ति मिली, उतनी और किसी बात से नहीं मिली। शुक्लजी में मैंने जाति-पाँति और ऊँच-नीच आदि का भेद नहीं देखा।

पहले मैं अपने एक सम्बन्धी के यहाँ रहता था। वह मेरी पढ़ाई का भार वहन करते थे, परन्तु वे मुझे बार-बार नौकरी करने को कहा करते थे। मुझे ज्ञात होता था कि मैं उनके ऊपर भार के रूप में हूँ। मैंने उनके यहाँ रहना छोड़ दिया और ट्यूशन करके पढ़ना जारी रखा। इसमें मुझे शुक्ल जी से पर्याप्त सहायता मिली। कई बार मेरी फीस भी उन्होंने दी।

अब मुझे शान्ति ही शान्ति दिखलाई देती है। मैं पहले से अब अधिक चित्त एकाग्र कर सकता हूँ। न अब घवड़ाहट है और न अब निराशा। मैं नहीं जानता कि वे मेरे मन से कब हटे। मैं अब समन्वय और प्रसन्नता का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ।

उपयुक्त वार्ता का लेखक बड़ा ही धैर्यवान, मनोविज्ञानशाला का सदस्य है। इसके आदर्श बड़े ऊँचे और व्यवहार सुन्दर हैं। इसका मानसिक रोग उसे कई दिनोंतक परेशान करता रहा। रोगी निःशुल्क मनोविज्ञानशाला की सेवा इसलिये करता रहा, जिससे कि वह लेखक का स्नेह-भाजन बना रहे। वह अपने मन की बातें अपने आप ही सुनाने लगता था। उसके मन में आत्मग्लानि की भावनायें तथा कामवासना दमित रूप में थी। इन्हें रोगी की चेतना के समक्ष लाया गया और आत्म-समन्वय स्थापित किया गया।

रोगी ने शान्तभावना, आनापानसति और मैत्रीभावना का अभ्यास भली प्रकार से किया। रोगी की जीवनी और उसके स्वप्न भी सुने गये। इनसे उसे सम्पूर्ण आरोग्यलाभ हुआ।

एक दूसरा नवयुवक, जो हमारी चिकित्सा-प्रणाली से लाभान्वित हुआ है, अकारण भय और चिन्ता से मुक्ति प्राप्त

करने के बाद अपना व्यक्तिगत अनुभव अपने ही शब्दों में इस प्रकार लिखता है।

"जब मैं काशी आया था, तब मुझमें अत्यन्त बेचैनी थी। मैं किसी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह सकता था। मन में अनेक प्रकार के अकारण भय उत्पन्न हो जाया करते थे। जब मैं परीक्षा-भवन में जाने को तैयार होता, तो अकारण पेशाब होने लगती थी। ऐसा मालूम होता था कि कहीं परीक्षा-भवन में पेपर करते समय पेशाब न लग जाए और मैं परीक्षा न दे पाऊँ। इस भय के कारण मैं एक पग परीक्षा-भवन के भीतर रखता और एक पग पेशाब करने के लिए बाहर को मोड़ता। इस प्रकार मैं पेशाब करने जाता। परन्तु जब वहाँ से लौटता, तो फिर उसी प्रकार की मनोदशा हो जाती और फिर वही भय उत्पन्न हो जाता। इस परेशानी के कारण मेरे हाथ एवं पैर से पसीना निकलने लगता था।

इसी प्रकार जब मैं किसी का भाषण सुनने अथवा क्लास में पढ़ने जाता, तो यही भय मालूम पड़ता। किसी इन्टरव्यू के पन्द्रह मिनट पहले भी यही मानसिक दशा हो जाती थी। इस रोग का कारण जानने के लिए मैंने शुक्ल जी की किताबें पढ़ीं और उसके पश्चात् मुझे रोग का कारण ज्ञात हुआ। इसलिये मैंने शुक्ल जी से मिलने का निश्चय किया। जब मैं जुलाई १९५४ में काशी आया, तो पहिले दो सप्ताह मैंने शुक्ल जी से भेंट करने में लगा दिया। उन्होंने मेरी बातें धैर्य-पूर्वक सुनीं और कहा कि इस रोग की जड़ इच्छा-शक्ति की कमजोरी में है।

जब मैं इस रोग से पीड़ित था, तो मुझे भविष्य के विषय में चिन्ता होती थी। मैं परीक्षा-भवन में जाने के पूर्व रात भर

परेशान रहता था, चाहे परचे की तैयारी कितनी ही अच्छी क्यों न हो। जब मैं परीक्षा-भवन में जाने लगता, तो मुझे ज्ञात होता कि कोई चींटी मेरे जूते के नीचे पड़ गई है और वह दब कर मर गई। अब यह मालूम होता था कि इस पाप से मेरा पेपर खराब हो जायगा तथा मैं फेल हो जाऊँगा। वास्तव में चींटी दबी नहीं रहती थी। यह हमारा केवल भ्रम था।

मैं छात्रावास में रहता था। यदि किसी समय चाय में चीनी कम हुई और एक चम्मच चीनी अपने बगल के विद्यार्थी के डब्बे से उसकी अनुपस्थिति में ले ली, तो मन में यह विचार उठा करता था कि जब वह विद्यार्थी आयगा, तो वह वार्डेन से मुझपर चीनी-चोरी का अभियोग लगा देगा और इसके कारण संभवतः मुझे छात्रावास छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिये कभी-कभी मैं अपने बगल के कमरे में चम्मच भर चीनी लेने जाता और उस चीनी को बिना अपनी चाय के कप में डाले फिर से उसी के कमरे में चुपके से मुझे चीनी डालने जाना पड़ता था।

मैं अपने आप दिन भर सोचते रहता। अपने अनेक प्रकार के दोषों का चिन्तन कर अपने को नीच व पापी समझता था। मैं सभी लोगों पर अकारण शक किया करता था। यदि मैं सभी शंकाएँ लिखूँ, तो एक हजार पृष्ठ से ऊपर की पुस्तक बन जाय। इसके कारण न तो मैं पढ़ पाता था, और न संसार के किसी कार्य में मेरा मन ही लग पाता था।

मैं किसी भी कार्य को देर तक नहीं कर पाता था। मैं कभी प्रयाग विश्वविद्यालय पढ़ने जाता, तो वहाँ मालूम पड़ता था कि काशी विश्वविद्यालय अच्छा पड़ेगा। जब काशी आता तो, लखनऊ जाने का विचार आता और जब लखनऊ पहुँचता, तो

प्रयाग एवं काशी का ध्यान आता। इस प्रकार मैं किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँच पाता था। मैं जब विज्ञान पढ़ता, तो कला पढ़ने की इच्छा होती और जब कला पढ़ने का विचार करता, तो विज्ञान की इच्छा होती। मैं हर समय अपने आप से क्रोधित रहा करता था। बात-बात में गुस्सा हो जाया करता था।

शुक्लजी ने इन सब रोगों का कारण इच्छा-शक्ति की कमजोरी को बतलाया। जिन लोगों की नैतिक शिक्षा अच्छी होती है और फिर भी वे किसी प्रकार के काम-कृत्य में अपने विवेक के प्रतिकूल पड़ जाते हैं, वे आत्म-भर्त्सना करने लग जाते हैं। इस आत्म-भर्त्सना से मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्वल हो जाती है। शुक्लजी ने मेरी काम-वासना-सम्बन्धी सब घटनाएँ पूछीं। मैंने उन्हें सच-सच बताया। इससे मेरे हृदय का भार हल्का हो गया। मैं अब पुरानी मानसिक दुर्वलता से बिल्कुल मुक्त हूँ। मैंने जब एम० ए० प्रिवियस की परीक्षा पास की थी, तब मन में कुछ सन्देह थे, परन्तु एम० ए० फाइनल की परीक्षा देते समय मेरे सभी सन्देह नष्ट हो चुके। इसी बीच मेरी पत्नी को एक पुत्र का जन्म हुआ और मेरे मन में उपस्थित काम-वासना-सम्बन्धी अनेक सन्देह नष्ट हो गये।"

मनुष्य की भावनाओं और उसकी बुद्धि अर्थात् नैतिकता में संघर्ष होता ही रहता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ अथवा सुखात्मक इच्छाएँ समाज के लिए अहितकर होती हैं तथा व्यक्ति की प्रतिष्ठा में बाधा पहुँचाती हैं। अतः मनुष्य का अहंभाव उन्हें दमित कर देना चाहता है। इस दमन के परिणाम-स्वरूप मनुष्य में अनेक प्रकार की असाधारणताएँ आ जाती हैं।

उक्त छात्र को काम-कुटेव-सम्बन्धी आदत थी, जिसे उसे बाध्य होकर करना ही पड़ता था। उसकी नैतिक बुद्धि भी प्रबल थी। अतएव वह मानसिक संघर्ष एवं आत्मग्लानि की अनुभूति करता था। एक ओर तो वह अपनी बुरी आदतों के लिए आत्म-भर्त्सना करता था, और दूसरी ओर उसे यह भय भी हो गया था कि इस कु-प्रवृत्ति के कारण वह जीवत में सफल नहीं हो सकेगा। छात्र को इस मानसिक व्यथा से बचाने के लिए उसकी नैतिकता ने उन बुरे भावों को दमित तो कर दिया था, पर वे प्रतीक-रूप में चेतना के समक्ष आ ही जाते थे। चींटी के प्रति सतर्कता अथवा एक चम्मच चीनी लेने में चौर्यवृत्ति का आक्षेप उसके पूर्वकृत अनैतिक कर्मों की क्षतिपूर्ति मात्र थी, अर्थात् उसकी नैतिकता उसें यह भुलावा (जिससे वह ग्लानि जनक स्थिति को भूल जाए) देती थी कि देखो तुम कितने नैतिक व्यक्ति हो कि बिना पूछे किसी के डब्बे से एक चम्मच चीनी भी नहीं ले सकते, अथवा लेते भी हो, तो फिर उसे रख (वासनाओं पर विजय) आते हो। कल्पित चींटी के हत्या-जनित पाप से परीक्षा में फेल होने का भ्रम विस्मृत कुकार्यों के परिणाम-स्वरूप जीवन में असफल होने के भय का प्रतीक मात्र है। परीक्षा अथवा इन्टरव्यू के समय बार-बार पेशाब का लगना उसके इस दमित दुर्बल मनोवृत्ति का द्योतक था कि वासनाओं के आवेग में कहीं उसकी नैतिकता बह न जाए, अर्थात् उक्त छात्र को यह संदेह था कि कठोर परीक्षा में उसकी नैतिकता टिक न सकेगी। इन सब बातों की आत्म-स्वीकृति और चिकित्सक की ओर से प्रोत्साहन पाने पर इस छात्र का रोग जाता रहा।

परीक्षा का भय

परीक्षा में बैठने का भय सभी लोगों को कुछ-न-कुछ होता है।

जिस व्यक्ति की परीक्षा की जितनी कम तैयारी होती है, उसे परीक्षा से उतना ही भय होना स्वाभाविक है। मनुष्य को किसी संकट पूर्ण घटना के प्रति सामान्य भय होना उसे लाभकारी सिद्ध होता है; अतएव सुखी जीवन के लिये कष्टपूर्ण घटना का सामना करने के पूर्व मनुष्य को उसके प्रति कुछ भय हो जाता है। परन्तु जब किसी घटना के प्रति किसी व्यक्ति को असाधारण भय हो जावे, तो हमे समझना चाहिये कि भय का कारण कुछ दूसरा ही है। ऊपरी भय आन्तरिक भय का प्रतीक मात्र है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चलता है कि जिन लोगों के मन में आन्तरिक संघर्ष चलते रहते हैं, उन्हें घर के बाहर जाने, अकेले रहने, पानी में घुसने, कीड़े-मकोड़ों को देखने आदि से विशेष प्रकार का प्रबल भय होता है। इस प्रकार का भय अस्वस्थ्य भय (न्यूरोटिक फियर) कहलाता है। परीक्षा में उपस्थित होने का असाधारण भय इसी प्रकार का भय है।

गत वर्ष लेखक के एक विद्यार्थी को परीक्षा में बैठने का असाधारण भय था। वह ट्रेनिंग कालेज का छात्र था। वह देखने में, बोलचाल में और पढ़ने-लिखने में बड़ा योग्य दिखाई देता था। परन्तु उसे कक्षा में जाने से और सुपरवाइजर से असाधारण भय लगता था। जब वह कक्षा में पढ़ाने को जाता तो उसका हृदय धड़कने लगता था। कभी-कभी इसके कारण बोलने में कुछ गड़बड़ी हो जाती थी। वह कई साल ले पढ़ना इसलिये छोड़ चुका था कि परीक्षा में बैठने के पूर्व वह बीमार हो जाता था। इस विद्यार्थी के मनोविश्लेषण से पता चला कि किशोरावस्था में उसे हस्थमैथुन की प्रबल आदत थी। रूपवान बालक होने के कारण उसे समलिंगी प्रेम में भी पड़ना पड़ा था। इसके लिये उसमें भारी आत्मभर्त्सना हुई थी। वह इसे भुला चुका था।

परन्तु अब यही पुरानी आत्म-भर्त्सना उसको आगे बढ़ने में रुकावट डालने लगी थी। दूसरों की आलोचना का भय अथवा परीक्षा का भय अपनी ही अन्तरात्मा की अलोचना का प्रतीक था। यह विद्यार्थी सचमुच में बाहरी परीक्षा से नहीं डरता था। उसे उस आन्तरिक परीक्षा का डर था, जिसे उसने भुला रखा था, बाहरी परीक्षा अथवा आलोचना के समय उक्त दबा भय उत्तेजित हो जाता था और इसी के कारण व्यक्ति गहरी परीक्षा अथवा आलोचना से आवश्यकता से अधिक भयभीत हो जाता था। पुराने भय का आचरण से सम्बन्ध होने के कारण वह चेतना की सहत पर नहीं आता था। जब प्रेम और प्रोत्साहन का वातावरण उपस्थित करके उक्त भय को चेतना की सतह पर लाया गया और उसकी निरर्थकता बता दी गई, तो विद्यार्थी का परीक्षा का भय जाता रहा और उसने उच्च श्रेणी में अपनी परीक्षा पास कर ली।

एक दूसरे विद्यार्थी को अपनी परीत्ता के पूर्व सदैव कोई-न कोई रोग हो जाता था। उसे अपने कालेज की एम० ए० तक की सभी परीक्षायें बीमारी की अवस्था में ही पास करनी पड़ीं। पिछली बार उसकी आँख में अचानक साफ दिखाई देना ही बन्द हो गया। आँख की परीत्ता कराने पर कोई रोग न मिला। इस विद्यार्थी के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसे काम-वासना सम्बन्धी विशेष प्रकार के पाप की कल्पना त्रास देती रहती थी। उसने किशोरावस्था में एक बछिया को उसकी योनि में अँगुली लगाकर खूब तंग किया था। इससे उसे कामुक आनन्द मिलता था। पीछे वह बछिया मर गई। युवक के मनमें धारणा हो गई कि वह गो-हत्या का भागी है। इस घटना को उसने सभी लोगों से छिपाकर रखा परन्तु यह उसे समय-समय पर त्रास देती रही।

इसी के कारण वह अपने से बड़े लोगों के सामने आने में झेंपता था। वह इसका कारण नहीं जानता था।

एक महिला को परीक्षा में बैठने का इतना भय होता था कि वह परीक्षा भवन में जाते ही बेहोश हो जाती थी। वह कुछ लिख नहीं पाती थी। पढ़ने लिखने में वह इतना परिश्रम करती थी कि यदि वह एक बार भी परीक्षा में बैठ पाती तो अवश्य पास हो जाती। वह तीन बार बी० ए० कक्षा की परीक्षा में बैठी। चौथी बार में उसने किसी प्रकार परीक्षा पास की। इस महिला को हिस्टीरिया का रोग था। उसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसका प्रेम अनैतिक दिशा में हो गया था।

लेखक के एक मित्र को एम० ए० की परीक्षा में बैठने में यह एक भारी कठिनाई हो गई कि परीक्षा के समय उनकी आँख आ जाती थी। उन्हें दो बार आगरा से वापस लौट आना पड़ा। दूसरी बार उन्हें इतना दुःख हुआ कि वे रेल से कट-कर मर जाना चाहते थे। इसके बाद वे जब कभी पढ़ने बैठते, उनकी आँख आ जाती। उनकी आँख की विचित्र दशा थी। वे यदि बल्ब के नीचे बैठते तो उन्हें एक बल्ब की जगह अनेक, एक के नीचे एक, दिखाई देने लगते। इस प्रकार के अनुभव उन्हें घबड़ा देते थे। इनका रूप-रंग सुन्दर था और शरीर से वे हट्टेकट्टे थे। उनका मनोविश्लेषण नहीं किया गया। उनकी चिकित्सा आत्म-निर्देश-प्रणाली और मैत्री भावना के अभ्यास से गई थी। उन्हें सभी प्रकार के पुराने संस्कारों को स्मरण करने और फिर शिव-भावना का अभ्यास करने को कहा गया था। उनका जीवन ऊँचे नैतिक स्तर का था, अतएव अनुमान किया जाता है कि अपनी अंतरात्मा की प्रबल आलोचना का उन्हें अनुभव होता होगा, जिसका ज्ञान उन्हें नहीं था।

गत वर्ष बी० ए० कक्षा के एक विद्यार्थी को भी परीक्षा का भारी भय हो गया था। उसके मनमें बार-बार विचार आया था कि वह परीक्षा में फेल हो जावेगा। वास्तव में उक्त विद्यार्थी प्रतिभावान था। उसकी बुद्धि असाधारण रूप से प्रबल थी। उसका मनोविश्लेषात्मक अध्ययन पहले किया जा चुका था। उसे समाज में उपस्थित होने का, अपने से बड़े लोगों से मिलने का, असाधारण भय था। उसके मन में कल्पना हो गई थी कि उसकी सारी मानसिक शक्ति नष्ट हो गई और उसका पढ़ना असम्भव है। इस विचार से परेशान होकर वह आत्म-हत्या कर लेना चाहता था। लेखक के समक्ष उसने अपने कृत्यों की आत्म-स्वीकृति की। उसके मनमें समलिंगी प्रेम और हस्तमैथुन की प्रवृत्ति की प्रबलता थी। उसने वैश्यागमन करने की भी चेष्टा की थी, परन्तु वह इसमें असफल रहा। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध उसने कुछ जाना और अपनी पुरानी प्रवृत्तियों का कठोरता से दमन किया। परन्तु उनका आवेग नष्ट नहीं हुआ था और परीक्षा के समय उसकी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति जाग जाती थी। जब उसने अपने इस भय का रहस्य समझ लिया तो उसका परीक्षा का भय जाता रहा।

परीक्षा के भय की प्रतीकता

जिन व्यक्तियों के जीवन में अपने आपको छिपाने की बहुत सी बातें रहती है, जो अपने कृत्यों को भुला देना चाहते हैं, उन्हें परीक्षा के असाधारण भय हो जाते हैं। ऐसे लोग इस भय के कारण परीक्षा में बैठते ही नहीं अथवा परीक्षा में बैठने पर फेल हो जाते हैं। जो लोग परीक्षा में बैठने का प्रयत्न करते ही रहते हैं वे अन्त में इस भय को हटाने में समर्थ होते हैं, परन्तु इस भय को हटाने का सरल उपाय अपने आप को सम-

झना और उन कृत्यों को करने से अपने आपको रोकना है, जिनके लिये मनुष्य की अन्तरात्मा उसे दुतकारती है। छिपाने की भावना लेकर किसी काम को करने से मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है। जब छिपी बातें प्रकाश में आजाती हैं तो मनुष्य का मन आन्तरिक वेदना से मुक्त हो जाता है। जिस बात को हम दूसरों के समक्ष स्वीकार करने में डरते हैं, उसे हम अपने आपके समक्ष भी स्वीकार नहीं करना चाहते। हम ऐसी बातों को भुला देना चाहते हैं। ऐसी ही अवस्था में हमें परीक्षा का भय होता है। जो व्यक्ति अपने गुप्त भाव दूसरों के समक्ष प्रकाशित करने में जितना अधिक डरता है, वह परीक्षा से भी उतना ही अधिक डरता है। इस प्रकार के भयों को आधुनिक मनोविज्ञान में अन्तरात्मा की त्रास के रोग (डिजीजेज आफ कान्सेन्स) कहा जाता है। जिस मनुष्य का मन साफ रहता है, जिसे अपनी छिपी बातों के बाहर आने का डर नहीं रहता उसे परीक्षा का भय भी नहीं होता।

प्रकरण १३

हकलाहट का सुधार

हकलाहट का स्वरूप

हकलाहट वाणी का लकवा है। यह एक प्रकार की हिस्टीरिया है। हकलाहट का रोगी स्नायुओं की खिंचाव का अनुभव करता है। वह आराम का अनुभव नहीं करता। हकलाहट का रोगी अकेले अच्छी तरह से बोल लेता और पुस्तक को पढ़ लेता है। परन्तु जब उसे यह विचार आ जाता है कि उसे कोई सुन रहा है, तो वह तुरन्त ही हकलाने लगता है। बहुत से हकलाने वाले व्यक्ति भले प्रकार से गा लेते हैं। परन्तु बोलने पर वे हकलाते हैं।

हकलाहट एक जटिल मानसिक रोग है। हकलाने वाले व्यक्ति में उसी प्रकार की दुविधा की मनोवृत्ति रहती है, जैसी किसी मानसिक रोगी में रहती है, अर्थात् बाहरी मन एक बात चाहता है और भीतरी मन दूसरी। मनुष्य का मानसिक रोग तभी जाता है जब उसका भीतरी मन उसे छोड़ना चाहता है। जब बाहरी मन जोर डालकर रोग छुड़ाना चाहता है तो वह और भी बढ़ जाता है अथवा रूपान्तरित हो जाता है। हकलाने के विषय में भी यही सत्य है। हकलाने वाला व्यक्ति अपनी इस कमी से बहुत परेशान रहता है और जितना ही वह इसे छोड़ने के लिये उद्विग्न-मन होता है, रोग उतना ही बढ़ जाता है।

एक युवक जो प्रताप गढ़ में अच्छे पदपर सरकारी नौकरी कर रहा है लिखता है 'मैं बोलने में हकलाता हूँ। अपनी अवस्था के और समान पदपर कार्य करने वाले अधिकारियों से बातें करने में उतना नहीं हकलाता परन्तु जब किसी बड़े अफसर से बात करना पड़ता है, तो चेहरा लाल हो जाता है, बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे कुछ बोल पाता हूँ। बाद में बड़ी आत्म ग्लानि होती है और अपने पर क्रोध भी आता है। मैं एकान्त में ठीक से बोल लेता हूँ। गाने में भी नहीं हकलाता। हमारा रोग मानसिक है! हमें उपाय बताइये किस प्रकार व्याधि से मुक्त हों।'

हकलाने वाले युवकों के मन में अपने से बड़ों के प्रति असाधारण भय का भाव रहता है। यह भय का भाव दबा हुआ रहता है। लेखक के पास आने वाले चार विद्यार्थियों ने यह स्वीकार किया कि वे अपने पिता से बहुत ही डरते हैं। दो अपने बड़े भाई से डरते थे। इन विद्यार्थियों को बचपन में किसी भूल के लिये इतना डाँट दिया गया अथवा पीटा गया कि उनकी बोली हर समय के लिये लड़-खड़ाने लगी। यदि बालक कोई ऐसा काम कर रहा हो, जिसे वह अपने अभिभावक से छिपाना चाहता हो और यदि अभिभावक बालक से एकाएक इसके विषय में प्रश्न कर ले, तो बालक बोलने में लड़-खड़ाने लगता है। बाद को बालक उस काम को तो भूल जाता है, जिसके लिये वह बोलने में पहले पहल लड़खड़ाया; परन्तु उसकी वाणी का लकवा स्थायी बन जाता है। इस घटना में कोई बात उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने वाली होती है। अतएव घटना को भूलकर केवल उससे सम्बन्धित आवेग का अनुभव व्यक्ति किसी मिलते-जुलते अवसर पर करता है।

हकलाने वाले व्यक्ति अपने से बड़ों के समक्ष—शिक्षक और आफिसर के समक्ष, साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक हकलाते हैं। अपने से बड़ा व्यक्ति बालक के पिता अथवा बड़े भाई का प्रतीक होता है, जिसके समक्ष पहले-पहल वह व्यक्ति हकला कर बोला था। जब रोगी के मन के दबे हुए भय के भाव का रेचन हो जाता है, तो उसका रोग चला जाता है। चेतना की सतह पर आने से भय के भाव का रेचन होता है। परन्तु उसे चेतना की सतह पर लाने के लिये बड़ा ही प्रयास करना पड़ता है। हकलाहट का रोगी भीतर से डरपोक और बाहर से बड़ा साहसी होता है। वह बात-बात में चिढ़ जाता है। उसके मन में सदा अपने प्रति और जगत के प्रति असंतोष का भाव बना रहता है।

मानसिक रोग की ऊपर की विलक्षणता को जानकर यह बताया जा सकता है कि हकलाने वाले का भीतरी मन बोलना नहीं चाहता और बाहरी मन बोलने के लिए उसे बाध्य करता है। जब तक भीतरी मन को बोलने के लिए राजी न कर लिया जाय, तब तक हकलाहट रहेगी, जो छुड़ाने के यत्न से और भी बढ़ जायगी। भीतरी मन को बोलने के लिए राजी करने में उस द्वेष-ग्रन्थि को समाप्त करना आवश्यक होता है, जिसके कारण पहली बार व्यक्ति को हकलाना प्रारंभ हुआ। मान लीजिये कोई लड़का सिगरेट पीते, चोरी करते अथवा जननेन्द्रिय को छूते हुए पकड़ लिया गया। अब उससे जब एकाएक पूछा जाता है कि तुम क्या कर रहे थे तो वह हकलाने लगता है। पूछने वाला व्यक्ति साधारणतया अपने से बड़ा होता है। बाद में मूल घटना तो विस्मृत हो जाती है, पर हकलापन रह जाता है। यह अपने से बड़े आदमी के प्रश्न के उत्तर देते समय अवश्य आ जाती है।

इस तरह हकले लोगों को अपने पिता, आफिसर अथवा बड़े भाई से बात-चीत करते समय हकलाहट अधिक हो जाती है। यदि इन बड़े लोगों के प्रति मैत्री भाव पैदा हो जाय तो हकलाहट समाप्त हो जाय।

हकलाहट का रोग अकेला रोग नहीं रहता। इसके साथ अनेक दूसरे प्रकार के रोग होते हैं। इसके विषय में पहली बात यही जानने योग्य है कि यह रोग प्रायः शारीरिक नहीं, अपितु मानसिक रोग है। मानसिक रोग एक दूसरे के सहगामी होते हैं, अतएव हकलाहट के नीचे कई दूसरे मानसिक रोग छिपे रहते हैं। हकलाहट शारीरिक रोग समझा जाता है। अतएव यह दूसरे रोगों का अच्छा आवरण बन जाता है। हकलाहट का रोगी अपने से सभी बड़े लोगों को हृदय से घृणा करता है, वह उनसे बोलना नहीं चाहता। अतएव वह हकलाहट का रोग अपना लेता है।

हकलाहट का कारण

मनुष्य का भीतरी मन उसको जैसा बनाना चाहता है, वह वैसा ही बन जाता है। जब किसी व्यक्ति के भीतरी मन में अपने अप्रकाशन की इच्छा चली जाती है, तो व्यक्ति को हकलाहट का रोग हो जाता है। हकलाहट का रोगी आत्म-हीनता की भावना से पीड़ित रहता है। उसे डर बना रहता है कि कहीं दूसरे लोग उसकी मखौल न उड़ावें। यह डर ही उसे हकलाने के लिए विवश करता है। इसी के कारण वह सबसे सतर्क रहता है। वह अपने आपके विषय में जागरूक रहता है।

एक लड़के को हकलाहट तब से प्रारंभ हुई जब वह दोस्तों के साथ पत्ते (तास) खेलते हुए पकड़ लिया गया। भाई ने उसे

खूब पीटा और गन्दे लांछन लगाये। वह भाई को घृणा करने लगा और तभी से हकला बन गया। एक दूसरे व्यक्ति को हकलापन एक शिक्षक के प्रश्न का उत्तर देते समय शुरू हुआ। वह उस समय अपने एक मित्र के साथ कुछ मजाक कर रहा था। शिक्षक के प्रश्न पूछने पर वह घबड़ा गया। वह ठीक से उत्तर न दे सका और खूब पीटा गया। तभी से वह हकला हो गया। एक ने कहा कि उसके मास्टर कक्षा में उससे बार-बार प्रश्न पूछते थे। वह जवाब नहीं देना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि वह न बोले। उसे अनायास हकलापन आ गया। किसी भयानक घटना को कहते समय बालक हकलाने लगता है। फिर वह घटना भूल जाती है और हकलाहट आ जाती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब बालक का भीतरी मन बोलना नहीं चाहता और बाध्य होकर उसे बोलना पड़ता है, तब उसका भीतरी मन अड़ंगा डालने लगता है। प्रारंभिक स्थिति में किसी कड़ी बात को कहने से बालक के स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है अथवा उसे दुःख होता है। फिर यह भाव उसके अनजाने मूल घटना के भूल जाने पर नई-नई परिस्थितियों पर आरोपित होता रहता है। अब यदि बालक की पुरानी स्मृतियों को जाग्रत किया जाय, तो पुरानी घटना से सम्बन्धित आवेग समाप्त हो जायँ और हकलाहट भी समाप्त हो जाय। इसलिए हकले व्यक्ति से उसके अतीत के विषय में जितनी ही बातचीत की जायगी, उसे उतना ही लाभ होगा।

हकलाहट से मुक्त होने के लिये कई उपाय बताये गये हैं। हकलाहट दूसरे रोगों के साथ ही रहती है। अतएव चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह पहले हकलाहट के सहगामी रोगों को सुधारने की चेष्टा करे, फिर हकलाहट अपने आप ही धीरे-धीरे

सुधर जावेगा। जो व्यक्ति हकलाहट को मिटाने के लिये अत्यधिक चिन्तित हो जाता है, वह उसे और भी बढ़ा देता है। जो इसके प्रति उदासीन हो जाता है, वह शीघ्र ही हकलाहट से मुक्त हो जाता है। हकलाहट का रोगी सदा सोचता रहता है कि जब वह बोलने की चेष्टा करेगा, तो लड़खड़ा जायगा। उसका इस प्रकार का सोचना ही उसे और भी हकलाने को विवश करता है। इस भय के कारण वह बोलने में जल्दी करता है और यह जल्दी की चेष्टा उसे आगे बढ़ने ही नहीं देती। वह एक ही शब्द को बार-बार कहते रहता है; अथवा वह कुछ भी शब्द मुँह से निकाल ही नहीं पाता।

हकलाहट का रोगी सोचता रहता है कि दूसरे लोग न केवल उसके बोलने में, वरन् सभी बातों में आलोचना करते रहते हैं। आलोचना के भय के कारण वह बोल नहीं पाता। ऐसा व्यक्ति जब सबके प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करता है, तो वह सरलता से बोलने लगता है। हकलानेवाले व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह अपने मित्रों की संख्या उनकी सेवा करके बढ़ाए। जो विद्वान् हैं, वे दूसरे लोगों को कुछ पढ़ाने लगें, जो धनवान हैं, वे दूसरों को अपना धन किसी-न-किसी रूप में दें, ताकि वे उनका स्नेह प्राप्त करें। जो कुछ किया जाय, वह सहज भाव से किया जाय। हम जो कुछ काम करते हैं, उससे अहंकार की वृद्धि होती है। इसके कारण हम किसी-न-किसी प्रकार दूसरे व्यक्ति को अपने से नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं। इससे हमारी और भी क्षति होती है।

लेखक का एक छात्र जो आज एक सफल शिक्षक हैं, पहले बहुत ही हकलाता था। उसने शिक्षक बनने का कार्य चुना।

धीरे-धीरे उसकी हकलाहट कम हो गई, अब वह कालेज का शिक्षक बन गया है। उसने लेखक को कुछ साल पूर्व लिखा था कि वह अब केवल अपने बड़े भाई के सामने बोलने में हकलाता है। इस व्यक्ति के पिता बचपन में ही स्वर्गवास कर चुके थे और उसका लालन-पालन उसके बड़े भाई ने ही किया था। वे अपने व्यवहार में बड़े सख्त थे। इसका भय इस व्यक्ति के अचेतन मन में बैठ गया और उसी ने वाणी का लकवा पैदा कर दिया।

हकलाहट का उपचार

हकलाहट के रोगी में आत्म-विश्वास की कमी होती है। वह अपने आपको भीतरी मन से सभी बातों में निकम्मा मान बैठता है। वह अपनी कमी का दोष अपनी हकलाहट के मत्थे मढ़ता है। वास्तव में बोलने की कमी के कारण उसे अनेक दूसरे प्रकार की कमियाँ हो जाती हैं। हकलाने वाला व्यक्ति समाज से डरता है और इसके कारण वह दूसरे लोगों के संपर्क से अपने आपको बचाते रहता है। इसके कारण वह समाज का इतना अनुभव नहीं प्राप्त करता, जितना दूसरे लोग प्राप्त करते हैं। दूसरे लोग भी उसकी योग्यता का अंदाज ठीक से नहीं लगा पाते। उसे बड़े काम करने का अवसर कम मिलता है। इससे उसका आत्म-विश्वास दिन-प्रति-दिन कम होता जाता है। यदि हकलाहट के रोगी का आत्म-विश्वास किसी प्रकार बढ़ाया जा सके, तो उसकी हकलाहट अपने आप ही कम हो जावे।

ऐसे रोगी का आत्म-विश्वास बढ़ाने के लिये उससे पहले-पहल संसार के उन हकले लोगों के विषय में चर्चा करनी चाहिये, जो हकले होते हुए भी संसार के बड़े-बड़े काम कर गये हैं।

सिकन्दर हकला था, परन्तु उसने ३२ साल की अवस्था में मिश्र से पंजाब तक के सभी देश जीत लिए थे। डेमास्थीज़ ने अपने हकलेपन पर इतनी विजय की कि वह यूनान का एक महान वक्ता बन गया। उसका स्थान आज दिन तक संसार के प्रभावशाली राजनैतिक वक्ताओं में है। आज हमारे देश में भी कुछ अच्छे प्रवक्ता हकले हैं। इनमें से केरल के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्रीनिम्बोदरी पाद एक हैं। जब किसी हकले व्यक्ति को जीवन में अधिक सफलता मिलती है तो उसका हकलाना कम ही नहीं हो जाता वरन् समाप्त भी हो जाता है। सामाजिक जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले व्यक्ति का हकलापन उसके व्यक्तित्व का सौन्दर्य बन जाता है। जब किसी हकले व्यक्ति को जीवन में अधिक निराशा आती है तो उसका हकलापन बढ़ जाता है। ऐसे तो प्रत्येक हकले व्यक्ति में जीवन को सफल बनाने की असाधारण प्रेरणा भीतर से ही रहती है यदि उसे बाहर से भी प्रोत्साहन मिले, लोग उसके कार्यों को आदर की दृष्टि से देखने लगें, तो उसका यह वाक्-यदोष समाप्त हो जाता है। इसके प्रति सदा दबाव के वातावरण में रहनेवाला समान्य व्यक्ति भी कभी-कभी विशेष परिस्थिति में हकलाने लगता है। मनुष्य का आत्म-विश्वास जैसे-जैसे बढ़ता है, उसका हकलाना कम होता है और जैसे-जैसे उसके आत्म-विश्वास में कमी होती है, उसका हकलाना बढ़ जाता है। हकला व्यक्ति प्रायः निराशावादी ही होता है उसके जीवन में आशावादिता बढ़ने से हकलाहट हटती है।। चार्ल्स डार्विन हकला था, परन्तु उसकी वैज्ञानिक खोजें संसार की मौलिक देन हैं। हकले व्यक्ति को इन लोगों की किस्साओं-द्वारा प्रोत्साहित करके उनका हकलापन छुड़ाया जा सकता है।

हकले व्यक्ति को पहले-पहल ऐसे काम में लगाया जावे, जिसे वह भले प्रकार से कर सकता है। हकले व्यक्ति की वाणी का लकवा केवल वाणी को ही दोषयुक्त नहीं बनाता, वह उसकी दूसरी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को भी नुकसान पहुँचाता हैं। यदि ऐसे व्यक्ति के दूसरे अंग ठीक हो जाएँ, यदि उसकी मानसिक शक्ति दूसरी ओर बढ़ जाए, तो उसका हकलाहट का रोग भी अपने आप कम हो जावे अथवा चला जावे।

हकलाने वाले व्यक्ति के भय का भाव उसके चेतन मन में नहीं रहता, वह उसके अचेतन मन में रहता है। चेतन मन में तो वह केवल अपनी बोलने की कमी का अनुभव करता है; अर्थात् वह अपने दूसरे प्रकार की कमी को वाणी के मत्थे मढ़ देता है। उसका भय अचेतन मन का वस्तु बना रहता है। वह इस कमी को छिपाने के अनेक उपाय रचता है। वह जब क़भी भी इस कमी का ज्ञान कर लेता है, तो उसकी हकलाहट का रोग समाप्त हो जाता है। ऐसे रोगी को आन्तरिक मन में अपनी नैतिक कमी की अनुभूति रहती है। इसी प्रकार की कमी के लिए वह अपने से बड़ों-द्वारा डाँटा-डपटा जाता है। आत्म-विश्वास के बढ़ने पर यह कमी का भाव समाप्त हो जाता है। अतएव हकले व्यक्ति से जितना ही अधिक शारीरिक अथवा मानसिक काम कराया जाय, उसे लाभ उतना ही अधिक होता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि चेतन मन का आत्म-विश्वास अभिमान होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों के समक्ष अपनी महानता दिखाता रहता है। इस प्रकार महानता दिखाने वाले व्यक्ति के भीतरी मन में आत्म-विश्वास नहीं रहता। यह आत्म-विश्वास बहुत से भले काम करने पर उत्पन्न होता है। जब मनुष्य सदा अपने आपको किसी भले काम में लगाये रहता

है और समाज-द्वारा उनके प्रकाशित होने की परवाह नहीं करता, तभी उसका आत्म-विश्वास स्थायी होता है।

हकलाहट का रोगी थोड़ा ही काम करने पर थकावट का अनुभव करने लगता है। वास्तव में वह इतनी जल्द थकता नहीं, परन्तु वह सभी कामों से परेशान हो जाता है। उसकी थकावट शारीरिक न होकर मानसिक होती है। यदि वह पूरे मन से काम करे, तो संसार के लोग उसकी वास्तविक प्रशंसा करने लगें। परन्तु वह इनसे निराश हो चुका रहता है। अतएव वह इतना काम ही नहीं करना चाहता, जिससे किसी व्यक्ति की वास्तविक सेवा हो। वह समझता है कि वह बहुत काम करता है, परन्तु अन्यायी संसार उसके कार्यों का उचित मूल्यांकन नहीं करता। यदि वह दूसरों के मूल्यांकन करने की बात मन से हटाकर अपनी पूरी शक्ति भर काम करे, तो न केवल वह चमत्कारक कार्य करने में सफल हो वरन् अपनी हकलाहट को भी समाप्त कर दे। हकलाहट के रोगी को चाहिए कि वह बोलने में प्रवीण बनने की चेष्टा ही न करे। वह समझे कि इस क्षेत्र से अलग ही उसे महान बनना है। वह एक सफल कारीगर, इञ्जीनियर, लेखक, वैज्ञानिक अन्वेषक या डाक्टर बन सकता है। वह इन क्षेत्रों में ही अपने आपको लगा दे। कुछ काल के बाद वह देखेगा कि उसकी वाणी भी सुधर गई। जो व्यक्ति मौलिक विचार रखता है, उसकी बात सुनने को जगत लालायित रहता है, चाहे वह कितनी ही दोष-युक्त भाषा में और सादे ढंग से क्यों न प्रकाशित किया जाय।

हकलाहट का रोगी स्नेह का भूखा रहता है। उसे अपने बड़ों की आलोचना तो बचपन से मिलती आई, पर उनकी प्रशंसा कभी नहीं मिली। हम हकले व्यक्ति की आलोचना जितनी

अधिक करते हैं, उससे उसकी उतनी ही क्षति करते हैं। इससे न केवल उसकी वाणी की क्षति होती है, बरन् दूसरे प्रकार की क्षति भी होती है। यदि हकले व्यक्ति को हम सदा ऐसा काम दें ताकि वह हमारी प्रशंसा प्राप्त कर सके, तो अवश्य ही उसका लाभ हो। जिस व्यक्ति को हकला व्यक्ति बड़ा मानता है, उसकी प्रशंसा हकलेपन को समाप्त करने में बड़ी सहायक होती है।

हकले व्यक्ति का विशेष मनोवैज्ञानिक उपचार तीन प्रकार के है। पहले हकले व्यक्ति को पर्याप्त समय देकर उसकी सभी बातों को सुनना। यदि वह उन्हें बोल कर नहीं सुना पाता, तो उसे लिखकर उन्हें सुनाने देना चाहिये। जब हकला व्यक्ति अपने दबे भय और ग्लानि के भावों को हमारे समक्ष प्रकाशित कर लेता है, तो उसके मन का भार उतर जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने पिता, बड़े भाई अथवा चाचा के प्रति बड़े क्रोध और भय के भाव रखता है। उसका आन्तरिक मन इन लोगों के आतंक से अत्यन्त दुःखी रहता है। एक बालक को अपनी दादी का इतना भय था और उसके अन्याय से वह इतना दुःखी था कि वह अपनी मनो-गाथा कहते-कहते लेखक के समक्ष रोने लगा। एक व्यक्ति अपने पिता के अन्याय की बात कहते-कहते रो पड़ा। इस प्रकार की बातें रोगी किसी व्यक्ति के समक्ष तभी कहता है, जब वह उससे अत्यन्त हार्दिक एकता दिखाता है। इन बातों के कहने से रोगी इस व्यक्ति से बहुत ही स्नेह करने लगता है। फिर इस स्नेह का सदुपयोग रोगी को प्रोत्साहित करने और उसका आत्म-विश्वास बढ़ाने में करना चाहिये। रोगी के आन्तरिक भाव धीरे-धीरे ही बदले जा सकते हैं और उसमें आत्म-विश्वास भी धीरे-धीरे ही उत्पन्न किया जा सकता है। इसमें जल्दी करने से हानि होती है।

हकलाहट का दूसरा मनोवैज्ञानिक उपचार रोगी-द्वारा शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास है। जिस तरह दूसरे मानसिक रोग शैथिलीकरण की क्रिया से समाप्त होते हैं, उसी प्रकार हकलाहट भी इससे समाप्त हो जाती है। हकलाहट (वाणी का लकवा) शारीरिक न होकर केवल कार्य का लकवा कहा जाता है। इसे फंक्शनल पेरालैसिस कहा जाता है। यह मानसिक रोग है। ऐसे रोगों में शारीरिक क्षति नहीं होती। इस प्रकार का लकवा प्रतिदिन शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास से चला जाता है। इसके लिये रोगी को निश्चित समय पर एक विस्तर पर लेट जाना चाहिये और अपने एक-एक अंग के प्रति ध्यान देकर सोचना चाहिये कि वह ढीला हो गया है। इस प्रकार शान्त भावना का अभ्यास करते-करते उसे नींद आ जाएगी। इससे भारी लाभ होता है।

इस अभ्यास को और भी प्रभावकारी बनाने के लिये अपनी सांस पर ध्यान देना अच्छा है। पहले पूरी सांस लेकर धीरे-धीरे छोड़े पीछे साधारण सांस पर ही ध्यान देकर शान्ति-भाव का अभ्यास किया जाय। इससे थोड़े ही काल में लाभ होता है। इस अभ्यास को करते-करते सो जाने से आशातीत लाभ होता है।

हकलाहट मिटाने का तीसरा उपाय निर्देश के उपयोग का है। यह मानसिक और शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था में रोगी को दिया जाता है। उसे सुझा दिया जाता है कि वह सो जावेगा और सोने के पश्चात् उसके मन में परिवर्तन हो जावेगा। उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ फेरा जाता है, ताकि उसे नींद आ जाय। इस प्रकार हाथ फेरने से उसके मन का बोझ उतर जाता है। उसे फिर नींद आ जाती है। यह

नींद बड़ी ही लाभ-प्रद होती है। इससे रोगी के मनो-भाव उसके अनजाने ही परिवर्तित हो जाते हैं।

हकलानेवाला व्यक्ति समाज से बहुत डरता है। वह सोचता है कि सभी लोग उसका तिरस्कार करते हैं। इस मनोभाव के कारण उसका रोग और भी बढ़ जाता है। सभी लोगों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने से यह रोग कम हो जाता है। उसे अपनी कल्पना में यह सोचने की आदत डालनी पड़ती है कि उसके बोलने पर दूसरे लोग हँसी न कर उसकी प्रशंसा ही करते हैं। हमारे एक रोगी ने इसी भाव के अभ्यास से अपने हकलेपन को हटा दिया।

हकले व्यक्ति को बोलने में अपने से बड़े लोगों के प्रति ही अधिक भय होता है। इन लोगों के मन में पिता के अथवा बड़े भाई के प्रति द्वेष की भावना रहती है। यदि इस भावना की समाप्ति कर दी जाय तो रोग नष्ट हो जाय। पिता अथवा बड़े भाई का भय समाज के भय में रूपान्तरित हो जाता है। जैसे-जैसे हकले व्यक्ति को जीवन में सफलता मिलती है और वह अपने काम के लिये समाज से प्रशंसा प्राप्त करने लगता है, उसका समाज के प्रति द्वेष का भाव समाप्त हो जाता है। द्वेष मनुष्य के मन में हीनता का भाव लाता है और स्नेह आत्म-विश्वास का। समाज का स्नेह सच्ची समाज-सेवा से ही प्राप्त होता है। अतएव समाज की लगन के साथ सेवा करने से हकलेपन का अन्त होता है।

हकले व्यक्ति को सभी लोगों से शान्त भाव से बातचीत करने का अभ्यास करना आवश्यक है। इस प्रकार का अभ्यास आत्म-निर्देशक बन जाता है। शान्तभाव से बोलने में हकलाहट नहीं होती। हकले व्यक्ति को प्रायः बच्चों से बातचीत करते

समय हकलाहट नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को पढ़ाने का काम करने से विशेष लाभ होता है।

हकलेपन के साथ-साथ दूसरे रोग भी व्यक्ति को होते हैं। चिड़चिड़ापन, हृदय की धड़कन, घबड़ाहट, सिर की पीड़ा, हठीलापन, कामकुटेव आदि बातें हकलेपन के सहगामी हैं। हकले व्यक्ति में मानसिक उद्विग्नता अधिक होती है। सदा निराशा और अशान्ति का भाव बना रहता है। ये सहगामी त्रास देनेवाले तत्व हकलाहट के साथ-साथ समाप्त हो जाते हैं। हकलाटक के उपचार में पहले शान्तभाव, आशावादिता मैत्री-भाव आते हैं। हठ और घबड़ाहट में कमी होती है। पीछे हकलापन जाता है। हकलेपन को हटाने का यत्न करने के बदले उसके प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास करने अथवा उसके प्रति उदासीन होने से यह रोग जितनी जल्दी जाता है, उतनी जल्दी दूसरे प्रकार से नहीं जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान हमें बताता है कि कोई रोग केवल पुराने संस्कारों का परिणाम मात्र नहीं होता वरन् मानव जीवन के विकास में उसका कोई हेतु होता है। जिस प्रकार हिस्टीरिया का लकवा किसी उद्देश्य के साधन के लिये होता है उसी प्रकार हकलाहट भी किसी उद्देश्य के लिये होता है। यह उद्देश्य की प्राप्ति का विकृत मार्ग है। जब भीतरी मन को उद्देश्य प्राप्ति का योग्य मार्ग मिल जाता है तब विकृत मार्ग की आवश्यकता नहीं रहती। आत्म-विश्वास के अभाव में ही हकलाहट की शरण ली जाती है। जब आत्म-विश्वास की वृद्धि होने पर आत्म-प्रकाशन का योग्य मार्ग खुल जाता है, तब हकलाहट की आवश्यकता नहीं रहती और यह रोग अनायास समाप्त हो जाता है।

इस प्रसंग में मनोविज्ञान शाला के उपचार से लाभान्वित कुछ हकलाहट के रोगियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं—

"आज से चार पाँच महीने पहिले, काशी मनोविज्ञानशाला में आने के पूर्व मैं पुरानी स्टाइल का फोर्ड मोटर था, और आज न्यू माडल का हूँ। फोर्ड और न्यू माडल मैंने इसलिए कहा कि इस मोटर को स्टार्ट करते समय कुछ देर तक खड़-खड़ाना पड़ता था; अर्थात् जिस प्रकार मोटर स्टार्ट करने के लिए दो मिनट स्टार्ट लेना पड़ता है, उसी तरह मैं भी किसी से बात करने के पहले कई बार ब....ब....व....व....कह लिया करता था। मैं अपनी एक तमन्ना आपको सुनाऊँ तो आपकी समझ में बात अच्छी तरह आ जायगी। जब मैंने मिडिल स्कूल का इम्तहान दिया, तो इम्तहान का नतीजा जानने के लिए मैं इलाहाबाद बड़ी मुश्किल से पहुँचा। फिर पूछते-पूछते इण्डियन प्रेस पहुँचा। वहाँ बोलने के पहले स्टार्ट लिया और यही कहकर बन्द हो जाता कि 'मैंने दिया'। और कुछ मैं नहीं कह सकता था। यहाँ बड़ी मुश्किल से लिख कर काम चलाया। आते वक्त मुझे अपने आप पर बहुत गुस्सा आया। मैं यह चाहता था कि गंगा में कूद जाऊँ। फिर सोचा कि यह दुनियाँ एक फिल्म है। तरह-तरह के इन्सान यहाँ हैं। ईश्वर की यही मर्जी है कि मैं यही दुःख भोगता रहूँ। इस तरह के कई किस्से हैं। जहाँ-जहाँ जाता वहाँ छोटे भाई के साथ जाता था। पिता जी से भी बोलने में मेरी यही दशा थी।

मैं मिडल स्कूल में पढ़ता था। इङ्गलिश और ज्योमेट्री में बड़ा गदाई था। इस रोग ने मेरी बड़ी सहायता की। मास्टर साहब मुझको स्याहतख्त पर ज्योमेट्री समझाने के लिए भेजते थे। मुझसे क्लास में कोई सवाल नहीं पूछा जाता था।

वहाँ मैंने जानबूझकर हकलाना शुरू किया। किसी तरह मिडल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। घर पर मैं पिताजी से भी बोलने में हकलाता था। वे मुझसे कोई सवाल नहीं करते थे। पहले तो बचाव के लिए यह रास्ता मुझे बहुत अच्छा लगा, पर बाद में ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, मुझे इस रोग से परेशानी बढ़ने लगी। मैंने बहुत इलाज किया। मैं लकड़िया बाबा के यहाँ भी गया था। कई तरह की दवाइयों की शीशियाँ खाली कर दीं। एक साहब ने बताया कि जिसकी तलवे की घाँटी छोटी है उसकी जबान अच्छी है। मैंने बहुत दवा भी खाई और तलवे की ललरी एकदम काटना चाहा। लेकिन एक दिन मेरे एक दोस्त ने मुझे शुक्ल जी का नाम बताया और मैं भी अखबार में मनोविज्ञान शाला का लेख बहुत पहले पढ़ चुका था। मुझे यह नहीं मालूम था कि यह रोग यहीं अच्छा हो सकता है। जब मुझे औरंगाबाद पता बताया गया, तो मैंने समझा कि लकड़िया बाबा का ही नाम शुक्ल जी है। लेकिन किसी तरह ढूँढ़ता हुआ मनोविज्ञानशाला आया। अन्दर आने की हिम्मत न पड़ी। वापस लौट पड़ा क्योंकि मैं तो शुक्ल जी को खूब रोबदार, मोटा-तगड़ा, जंटिलमैन डाक्टर समझता था। किसी प्रकार साहस करके मैं एक पत्र अन्दर भेज पाया। उत्तर में वे मुझसे खुद ही मिलने चले आये। पहले तो मैंने समझा कि मनोविज्ञानशाला का कोई कम्पाउण्डर है और शुक्ल जी को न पाकर बहुत हैरान हुआ। ऊपर से कंपाउण्डर साहब ने तंग करना शुरू किया कि तुम्हारा नाम क्या है? कहाँ से आये हो? स्टार्ट लेनेके लिये तो मुझे मौका मिला ही नहीं और इसीलिये मैंने कथा पत्र में लिखकर उन्हें भेजवा दी। आखिरकार उन्होंने मुझे दूसरे दिन शाम को आने को

कहा। दूसरे दिन भी मैंने शुक्लजी को न पाया और लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही शुक्लजी थे। तब तो मेरे ताज्जुब का ठिकाना न रहा। हाँ, एक बात और थी कि मीटिंग शुरू होने के पहले एक मिस्टर ने मुझसे नाम पूछा। मैं अन्दर स्टार्ट ले ही रहा था कि वे समझे कि मुझे नाम बताने में कोई इतराज है। झट से शुक्लजी से पूछ बैठे कि नाम न बताने का क्या मनोवैज्ञानिक कारण है। शुक्लजीने कहा कि जिस चीज से मन ज्यादा प्रेम करता है, उसका नाम जल्दी नहीं लेता; इस प्रकार नाम भी तो प्यारा होता है। मैं आँसू के घूँट पीकर रह गया कि काश मुझे अपने नाम से इतना प्यार न होता तो और लोगों की तरह झट अपना नाम बतला दिया करता।

दूसरे दिन सात बजे रात को बुलाया गया और तख्ते पर सोने को कहा गया। मुझे ऐसी नींद आ गई कि मैं स्वप्न देखने लगा कि मैं आसमान में उड़ता जा रहा हूँ और पानी की बूँदें धीरे-धीरे गिर रही हैं। इस दौरान में शुक्लजी मेरे ऊपर हाथ फेरते रहे। वह गुदगुदी मुझे ऐसी अच्छी लगी कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। इसके बाद उन्होंने मुझे जगाया। मैं नहीं कह सकता कि यह कौन-सी विधि थी, यह आत्मनिर्देश विधि थी या मनोविश्लेषण विधि या शैथिलीकरण विधि या मानसोपचार विधि थी। मैं नहीं कह सकता कि सुलाकर मुझे आनापानसति कराया गया या क्या कराया गया। उन्होंने मेरी तकलीफों को बहुत ध्यान से सुना और यह बतलाया कि तुम्हारे अन्दर सभी प्रकार की शक्तियाँ मौजूद हैं, तुम दुनिया में बहुत बड़े-बड़े काम कर सकते हो। फिर मेरे अन्दर एक नई ताकत आ गई। मैं अपने को अब हकला नहीं समझता और बड़े-बड़े लोगों से बातचीत करने में मुझे जरा भी यह

अनुभव नहीं होता कि मैं किसी समय हकला था या अभी भी कुछ हकला हूँ।"

यह युवक जब वह कालेज का विद्यार्थी था, उस समय हमारे पास हकलाहट का रोग लेकर आया। उसने बताया कि हकलाहट के कारण अध्यापकों के प्रश्नों का उत्तर देना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। साथियों के गिरोह में बातचीत करने से वह झिझकता था। उसे अपने को सर्वथा नवागन्तुकों से दूर रखना पड़ता था। उसे भय था कहीं उनके प्रश्नों का उत्तर न देना पड़े। जब वह हकलाकर कक्षा में बोलता था, तो सभी छात्र उसको अपनी हँसी का माध्यम बनाकर ठहाका मार कर हँसने लगते थे। इससे उसे मार्मिक पीड़ा होती थी। उसका ज़ीवन भार हो गया था और वह कभी-कभी आत्महत्या करके मर जाने की भी सोचता था।

मनोविज्ञानशाला में आने के पूर्व उसने अपने रोग की काफी दवाइयाँ की थीं। वह एक प्रसिद्ध तांत्रिक लकड़िया बाबा के यहाँ भी गया था। कई तरह की डाक्टरी दवा भी कराई, पर कोई लाभ न हुआ। उसने बताया कि उसे यह रोग तेरह वर्ष की अवस्था से हो गया था। मनोविज्ञानशाला में आने पर पहले तो कुछ जलपान मिठाई आदि खिलाकर उसका स्वागत किया गया। यह भी शाला की मानसोपचार प्रणाली का एक अंग है। प्रत्येक रोगी को जब भी और जितनी बार यहाँ आता है, जलपान आदि कराया जाता है। ऐसा कराना स्नेह और आत्मीयता बढ़ाने का माध्यम है। रोगी से उसकी जीवन-गाथा सुनी गई। उसने अपने परिवार की कहानी सुनाई। उसकी जीवनी सुनने से पता चला कि बचपन में उसे पिता की ओर से बहुत कठोर शिक्षा मिली थी। अतः उसके मन में पिता

के प्रति भय पैदा हो गया था। इसके मन में पितृद्वेष की भावना-ग्रन्थि बन गई थी। बचपन में उसके पिता उसे पीटा करते थे। उसे कार्यों में प्रोत्साहित करने के बदले हरदम खरी-खोटी सुनाया करते थे।

इस रोगी से मनोविज्ञानशाला में आनापान सति का अभ्यास कराया गया। उसे एक बिछावन पर लिटा दिया गया और उसके शरीर पर हाथ फेरा गया। इसके बाद वह सो गया। सोते समय उसने बड़ा भयानक स्वप्न देखा। आनापानसति की अवस्था में उसका पिता के प्रति दमित भय थोड़ा बाहर आया। उससे हरदम आनापानसति का अभ्यास करते रहने को कहा गया। यह अपने घर पर रोज ही इसका अभ्यास करता था। कभी-कभी मनोविज्ञानशाला में भी उससे यह अभ्यास कराया जाता था। यह अभ्यास करने से उसके अचेतन मन में पिता के प्रति जो दमित भय था वह बाहर आ गया। आनापानसति के समय उसे चिकित्सक-द्वारा सन्निर्देश दिया जाता रहा और बाद में उससे स्वयं भी आत्म-निर्देश का अभ्यास कराया गया।

इस रोगी से मैत्री-भावना का भी अभ्यास कराया गया। उससे यह बताया गया कि वह जिससे बात न करे उसके विषय में सोचे कि वह चिकित्सक से ही बातचीत कर रहा है। उसे यह भी बताया गया कि वह कल्पनामें सोचा करे कि सब लोग उसकी बातें सुनकर उसकी प्रशंसा कर रहे हैं और उसकी बातों का आदर कर रहे हैं। उससे पिता के प्रति भी मैत्रीभावना का अभ्यास कराया गया। इन अभ्यासों का फल यह हुआ कि वह किसी से बात करते समय अब डरता नहीं था। फिर उसका हकलाना गायब हो गया।

इस रोगी को जो लाभ हुआ वह चमत्कारिक था। उसका रोग तीन महीने के भीतर ही अच्छा हो गया। इससे स्वयं चिकित्सक को भी आश्चर्य हुआ। उसके रोग का प्रधान कारण पिता का भय था। विमाता भी उसे त्रास दिया करती थी। प्रत्येक हकलाने वाले रोगी के अचेतन मन में पिता के प्रति भय का भाव दमित रहता है। आनापानसति के अभ्यास से इस रोगी के मन में स्थित पिता के प्रति भय का भाव बाहर चला आया और फिर आत्मनिर्देश तथा मैत्री-भावना के अभ्यास से वह भय सदा के लिए चला गया। दमित भय का रेचन हो जाने पर उसका रोग भी समाप्त हो गया। इसके रोग के अच्छा होने में चिकित्सक के स्नेह का भी पर्याप्त हाथ था। चिकित्सक हिन्दू होते हुए भी इस मुसलमान रोगी को बैठाकर अपनी थाली में खिलाता, और सब भेद-भाव छोड़कर उसे अपने लड़के-जैसा मानता। वह चिकित्सक को पितातुल्य प्रेम करता था और अब भी करता है। उसे मनोविज्ञानशाला से कुछ आर्थिक सहायता भी दी गई। उसे फीस आदि के लिए पैसे यहाँ से दिए गए। इससे भी उसे लाभ हुआ। यह रोगी मनोविज्ञानशाला में होने वाली हर रविवार की सभा में आया करता था और यहाँ होने वाले भाषणों को ध्यान-पूर्वक सुना करता था। इससे भी उसे काफी लाभ हुआ।

आज यह फौज का एक कुशल आफिसर है। अब उसे वाणी सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं है। वह बिलकुल साफ बोल लेता है। जहाँ वह पहले अपना नाम उच्चारण नहीं कर सकता था, वहाँ उसने कई बार मनोविज्ञानशाला के स्टेज से प्रभावशाली भाषण दिये।

हकलाहट की समाप्ति मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास से भी होती है। हकला व्यक्ति सदा मानसिक खिंचाव की अवस्था

में रहता है। मानसिक शैथिलीकरण से यह खिंचाव सहज रूप से कम हो जाता है। फिर भूली हुई अप्रिय घटनायें अपने आप स्मृति पटल पर आ जाती है। इससे उसे लाभ होता है। मानसिक शैथिलीकरण में मन के प्रति साक्षी भाव रखते हुए, मन को इधर-उधर घूमने की छूट दे दी जाती है। शरीर को शान्त भाव में रखने से यह साक्षी भाव सरलता से आ जाता है। इस प्रणाली से जिस प्रकार दूसरे मानसिक रोग अच्छे होते हैं हकलापन भी अच्छा होता है।

मानसिक शैथिलीकरण करते समय रोगी को बहुत से प्रबल आवेगों का अनुभव होता है। वह कभी-कभी ऊपर से गिरने का भय देखता है। कभी मारे-पीटे जाने का अनुभव करता है। कभी-कभी ऐसा रोगी हिस्टीरिया के फिट में आये रोगी के समान रोता है। इस प्रकार उसके दबे भावों का रेचन हो जाता है।

———

प्रकरण १४

मानसिक चिकित्सा के नये प्रयोग

संशय की भावना का उपचार

हमारे बहुत से नवयुवकों को अकारण संशय और भ्रम सताया करते है। वे कुछ भी काम करें उन्हें सन्देह हो जाता है कि उन्होंने यह बात ठीक की अथवा नहीं। घर से बाहर निकलते समय उन्हें विचार आ जाता कि उनसे कोई वस्तु ठीक से रखने में, ताला ठीक से लगाने में भूल हो गई है। उन्हें कपड़े पहनने में कुछ-न-कुछ भूल दिखाई देती रहती है। इस प्रकार वे कभी चैन से नहीं रह पाते।

संदेह की मनोवृत्ति के साथ-साथ ऐसे रोगियों को कुछ शारीरिक रोग भी रहता है। ये रोग किसी आत्मग्लानि उत्पन्न करने वाले काम के करने से और फिर उसकी स्मृति दबा देने के कारण होते हैं। संदेह का भाव एक प्रकार का आत्म-त्रास है जो अतीत काल की भूल के लिये मनुष्य को त्रास देते रहता है। इस प्रयोग में हमारे यहाँ चिकित्सा के लिये आये हुए एक नवयुवक का अनुभव उल्लेखनीय है। नवयुवक लिखता है :—

आज से कुछ दिन पूर्व मुझे अपने हरएक काम में सन्देह होने लगा। मैं किसी काम को कितनी ही अच्छी तरह क्यों न करूं काम करने के पश्चात् मुझे सन्देह हो जाता था कि मैंने काम करने में भूल कर दी है। मुझे इसका इतना दुःख होता

था कि मैं चैन से सो न पाता था और न किसी मनोरंजन में भाग ले पाता था।

पहली घटना जो मुझे याद है वह इस प्रकार है। एक बार मैं तथा मेरे सम्पर्क के अन्य बहुत से व्यक्ति बरसात के दिनों में पिकनिक पर गये थे। अपने घर से निकलकर जीप कार पर बैठते ही मुझे यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि मैंने दफ्तर के कमरे का ताला अच्छी प्रकार से बन्द किया है या नहीं। ताला कहीं खुला तो नहीं रह गया। यदि ताला खुला रह गया है तो दफ्तर की आलमारी से कौन-कौन से रजिस्टर तथा अन्य वस्तुएँ इत्यादि बाहर पड़ी हैं। इस विचार ने सारे पिकनिक के समय मुझे तंग किया, हालाँकि यह सब बात निरर्थक थी और ताला इत्यादि सब ठीक बन्द किये हुए थे। परन्तु इसका पता उस समय नहीं था कि यह बात निरर्थक है। इस प्रकार की कई निरर्थक घटनाएँ मुझे सार्थक ही मालूम पड़ती थीं और उनसे मुझे महान त्रास होता था। कुछ और सन्देहास्पद बातें, जो मुझे प्रायः तंग किया करती थी वे इस प्रकार हैं—

(१) पोस्ट बाक्स में पत्र डालने के बाद यह सन्देह उत्पन्न हो जाता था कि पत्र पोस्ट बाक्स में डाला है या नहीं, पोस्ट बाक्स के नीचे वाली आस-पास की भूमि में तो पत्र कहीं नहीं गिर पड़ा।

(२) लिफाफे में पत्र डालकर बन्द कर देने के बाद यह सन्देह हो जाता था कि इस लिफाफा में पत्र डाला है या नहीं और यदि डाल दिया गया है, तो जो लिफाफे पर पता लिखा है उसी का पत्र डाला है या किसी दूसरे का ?

(३) गंदगी सम्बन्धी विचार भी बुरी तरह से तंग किया करते थे। टट्टी हो आने के बाद हाथों को बहुत साफ किया

करता था और यह वहम हो जाया करता था कि अन्डरवियर इत्यादि जो भी कपड़ा उस समय पहना होता था, कहीं उसमें टट्टी तो नहीं लग गयी। उस कपड़े को अच्छी तरह उतार कर देखता कि वास्तव में ऐसा हो तो नहीं गया। परन्तु कभी भी ऐसा नहीं हुआ था, फिर भी मैं यह संदेह करता ही था।

(४) हर बात में ही कोई न कोई ऐसी बात मिल जाती थी, जिसके विषय में मैं व्यर्थ ही सोचता रहता था।

(५) पुस्तक पढ़ते समय यह वहम हो जाता था कि पुस्तक के दो पन्ने तो नहीं उलट लिये। इस बात को लेकर पुस्तक के हर पन्ने को हाथ से जोर-जोर से मसलता और जब यह विश्वास हो जाता कि वास्तव में एक ही पन्ना उलटा जा रहा है, तो आगे पढ़ना आरम्भ करता।

(६) किसी पत्र पर पता लिख देने के बाद उस पते को बड़ी आँखें लगाकर एक-एक शब्द को ध्यान से पढ़ता कि कहीं पता गलत तो नहीं लिख दिया गया है। ऐसा काफी समय करने के बाद भी संतोष न होता और अन्त में इस बात पर आकर संतोष करना पड़ता कि तुमने अपना पता तो इसपर लिख ही दिया है, अतः यदि पत्र न पहुँचेगा तो वापस तो आ ही जाएगा। तब यह मालूम ही हो जावेगा कि पत्र पहुँचा है या नहीं।

(७) कोई भी काम करते समय यह सन्देह हो जाता था कि इसमें कोई त्रुटि रह जाने से मेरे ऊपर किसी प्रकार की जिम्मेदारी तो नहीं आ पड़ेगी। यदि ऐसी कोई गलती हो जाने का संदेह हो जाता, तो उसका भयानक रूप मेरे सामने आ जाता था। मुझे भय होता कि ऐसा होने से कहीं मुझसे सम्बन्धित व्यक्ति

नाराज तो नहीं हो जावेगा, मैं उसका विश्वास तो नहीं खो बैठूँगा इत्यादि।

(८) मैं एक अखबार के दफ्तर में काम किया करता था। अखबार की वजह से मैं सिनेमा में मुफ्त जाया करता था। परन्तु जब भी मैं सिनेमा हाल के अन्दर जाकर बैठता था, तब हमेशा यह विचार तंग करता था कि कोई ऐसी बात तो नहीं हो गई, जिससे सिनेमा मालिक नाराज हो गया हो और मेरा आगे के लिये मुफ्त आना बन्द हो जाय। यदि सिनेमा का खेल शुरू होजाय और उसके कुछ मिनट बाद ही हाल में जाकर बैठ जाता तो विचार आता कि पता नहीं खेल कब शुरू हुआ, इसकी कौनसी महत्वपूर्ण घटना गुजर चुकी, एक दो आदमी से पूछ लेता कि अब तक कौनसी घटना जा चुकी है, परन्तु इस पर भी मन को चैन न आता और सारे खेल के समय में यही विचार सताते रहता था। कहने का अर्थ यह है कि मन की उस अवस्था में मनोरंजन भी महान दुःखदायी बन जाता था।

मेरी वेदनाएँ यहाँ तक ही सीमित नहीं थीं; मेरे उक्त प्रकार के विचारों ने मेरे शरीर को भी बहुत निर्बल बना दिया था। सबसे अधिक वेदना जो मुझे इस रोग-द्वारा हुई वह है दिल की जलन। जब मैं व्यर्थ सोच-सोच कर इस चिन्ता की कोई सीमा नहीं पाता था, तो मुझे छाती के नीचे जलन होने लग जाती थी, जो धीरे-धीरे बढ़ती जाती थी। इसके अधिक हो जाने पर मैं बहुत व्याकुल हो जाता था और अपने को कोसने लग जाता था कि आखिर यह सब क्यों हो रहा है? उस समय मैं महान् निराशा में था। मेरे जीवन में आगे बढ़ने का कोई रास्ता नहीं था। मैं अपने भाग्य को भी बहुत बुरा समझता था। इन विचारों से मैं इतना व्याकुल हो जाता था कि उसका वर्णन करने के लिये मेरे पास कोई शब्द ही नहीं है।

मुझे विचार आता था कि जब दुनियाँ में हर एक बात का इलाज है, तो मेरे इस रोग का भी कोई न कोई इलाज होगा। मैंने खोज की। पहले तो मैं एक प्राकृतिक चिकित्सक के पास गया। उन्होंने कहा कि कोई रुचिकर काम किया करो, हर समय किसी काम में व्यस्त रहा करो। भोजन में कुछ परिवर्तन करना बताया और एकाध पुस्तक का नाम पढ़ने के वास्ते बताया। यह सब मैं न कर सका क्योंकि मुझे उसमें कोई विशेष बात मालूम न पड़ी।

एक रुचिकर काम मैंने अवश्य अपना लिया, और वह था हारमोनियम सीखना। परन्तु वहाँ भी मुझे मनोरंजन की अपेक्षा कोई-न-कोई संदेह हो जाता, जैसे किसी स्वर का नाम ले रहा हूँ परन्तु गले से कोई गलत ध्वनि तो नहीं निकल रही है। इस प्रकार मैं कोई भी व्यर्थ-सा विचार लेकर व्याकुल हो जाता था।

इसके बाद मैं अपने शहर के एक योग्य डाक्टर के पास गया। डाक्टर साहब ने मेरी शरीर-परीक्षा की। उन्होंने कहा कोई बात नहीं है, दिल थोड़ा कमजोर है। गोलियाँ खाने को दीं, कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इससे बहुत समय पहले भी एक सुयोग्य डाक्टर साहब को दिखा चुका था। उन्होंने भी यही कहा था कि पतली खाल वाले लोगों को इसी प्रकार दिल की धड़कन होती है। ध्यान रहे कि मुझे दिल की धड़कन भी बहुत जोर से होती थी।

इसी प्रकार खोज करते-करते मैं अपने एक मित्र के पास गया और उनसे कहा कि यदि आपके पास मानसिक रोग सम्बन्धी कोई पुस्तक हो तो मुझे देवें। उक्त सज्जन प्राकृतिक-

चिकित्सा में बहुत विश्वास करते थे, उन्होंने मुझे श्री लालजी राम शुक्ल की लिखी हुई 'मानसिक-चिकित्सा, नामक पुस्तक दी। मैंने पुस्तक पढ़ी। मेरे रोग की बहुत सी बातें मुझे पुस्तक में मिलीं। मैंने लेखक से पत्र-व्यवहार किया। पुस्तक-लेखक के निर्देश के अनुसार मैंने अपनी सब बातें लिखकर उनके पास भेज दीं। पहला पत्र मिलते ही यह विश्वास हो गया कि मैं अब रोग से मुक्त हो जाऊँगा।

दूसरे पत्र ने तो मेरी आँखें हीं खोल दीं, पत्र पाकर मैं गद्गद् हो गया। इस पत्र को एक बार नहीं, कई बार पढ़ा। आज भी मैं इसी पत्र को अपने रोग की पूर्ण चिकित्सा समझता हूँ। उसके बाद मेरा और श्रीशुक्लजी का पत्रव्यवहार निरन्तर होता रहा है। तभी से मेरे रोग में दिन-प्रति-दिन कमी होती गई। उस दौरान में रोग कभी-कभी पहले की तरह थोड़ा विकृत भी हो जाता था। प्ररन्तु उससे मैं पूर्णतया संतुष्ट था। मेरे और श्रीशुक्लजी के सम्पर्क बने हुए कुल ८ ही महीने हुए थे। परन्तु मुझे ऐसा मालूम होता था कि जैसा मेरा उनसे वर्षों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। मैं मनोविज्ञानशाला में रहा हूँ, मैंने देखा है कि ऐसा ही प्रेम-व्यवहार वे प्रत्येक मानसिक रोगी से करते हैं। पत्र-व्यवहार द्वारा तो मेरी चिकित्सा आरंभ हुई ही थी, परन्तु एक बार मनोविज्ञानशाला के उत्सव पर श्रीशुक्लजी से व्यक्तिगत सम्पर्क हो जानेपर रोग में काफी परिवर्तन हुआ।

मनोविज्ञानशाला से सम्बंधित एक अन्य सज्जन-द्वारा मेरी आर्थिक सहायता भी करवाई गई तथा मुझे पुस्तकें और पत्रिकाएँ भी मुफ्त भिजवाई गई। ध्यान रहे कि मेरी आर्थिक स्थिति उन दिनों ठीक नहीं थी!

शुरू-शुरू में मैंने मैत्री-भावना का अभ्यास करना आरम्भ

किया था, उसके बाद शैथिलीकरण का अभ्यास भी किया। अपने सम्बन्धी मित्र, जिनसे मैं अपने रोग का कारण समझ कर घृणा करने लगा था के प्रति मैंने मैत्रीभाव का अभ्यास किया। ऐसा करने से मुझे काफी लाभ हुआ। आनापानसति के साथ उक्त दोनों अभ्यास कराये गये। पहले पहल तो मुझे मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास ठीक प्रकार से करना नहीं आया, फिर भी जितना करता था, उससे लाभ ही हुआ। परन्तु श्रीशुक्ल जी के बताने पर इसको जब अच्छी प्रकार से करना आरम्भ किया तो इसमें मुझे महान् शान्ति की प्राप्ति होने लगी। दिन-प्रति-दिन इसके मूल्यको मैं अधिक समझने लग गया था। मैं समझता था कि यदि एक बार भी कोई रोगी आनापानसति-द्वारा शैथिलीकरण का अभ्यास करे तो उसे एक विशेष प्रकारकी शान्ति और आनन्द का अनुभव होगा और फिर उसकी इस आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा बढ़ती ही जावेगी। इसी से रोग का विनाश हो जाता है।

अब मेरा रोग तो लगभग जाता ही रहा। मुझे दिल की जलन कभी शारीरिक तौर पर भले ही हो जावे, परन्तु मानसिक तौर पर यह समाप्त हो गई। यह केवल आनापानसति के कारण तथा वांछनीय प्रेम मिलने से हुआ। काम करते समय मुझे सन्देह होते थे परन्तु बहुत कम। गंदगी से भय नाममात्र का ही था। परन्तु मुझे अब जो व्यर्थ विचार आता भी, मैं इसे व्यर्थ समझकर छोड़ देता और यदि कोई बुरा सन्देह दिमाग से नहीं जाता तो मैं यह समझ कर छोड़ देता कि अनापानसति करनेपर सभी सन्देह समाप्त हो जावेंगे। कोई वास्तविक या काल्पनिक गलती हो जाने पर उस पर चिन्ता नहीं करता वरन् उससे कुछ सीखने की मेरी

मनोवृत्ति ही बन गई। आज मैं अपने रोग से पूर्ण संतुष्ट हूँ और इस बात में मेरा विश्वास हो गया कि रोग मेरे कल्याण के वास्ते आया था और इस रोग की उपस्थिति मुझे सुमार्ग पर ले आने के लिये ही थी।*

---

*उपर्युक्त वृतांत दर्शाता है कि जब मनुष्य कोई नैतिक भूल कर डालता है तब वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है। वह अपनी भूल के प्रति आवश्यकता से अधिक सतर्क हो जाता है। यह सतर्कता विक्षिप्तता का रूप धारण कर लेती है। निरर्थक बातों में सतर्कता विक्षिप्तता का सूचक है; यह रोग है। इस प्रकार की संदेह की मनोवृत्ति कई सामान्य लोगों में पाई जाती है। वे अपनी काल्पनिक भूलों से परेशान रहते हैं। जब मनोविश्लेषण-द्वारा उनकी वास्तविक भूल का उन्हें ज्ञान हो जाता है तब उनकी काल्पनिक भूल के प्रति सतर्कता और परेशानी का अन्त हो जाता है। इस ज्ञान के लिये मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास लाभदायक है। इससे आत्म-समन्वय भी होता है। मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ता है। इस समय के आत्म-निर्देश प्रभावकारी होते हैं। मैत्री भावना के अभ्यास से भी इस आत्म-समन्वय में सहायता मिलती है। मैत्री-भावना के कारण दूसरे लोगों पर रोगी का विश्वास बढ़ता है। इस विश्वास के बढ़ने पर मनुष्य का अपने आप में भी विश्वास बढ़ जाता है। हम रोगी में जितना अधिक विश्वास करते हैं उतना ही वह अपने आप में अधिक विश्वास करने लगता है। वह अपनी आत्म-विजय की क्षमता के विषय में आशावादी बन जाता है। फिर जब रोगी स्वयं दूसरों के प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास करता है तो न केवल दूसरों के प्रति वरन् अपने ही प्रति उसकी सन्देह की भावना नष्ट हो जाती है। इससे मानसिक व्यथाजन्य जो शारीरिक रोग उठे हो जाते हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं।

अनिद्रा का उपचार

अनिद्रा को रोग नहीं माना जाता। परन्तु जब अनिद्रा के कारण की खोज की जाती है तो पता चलता है कि यह भी एक प्रकार का मानसिक रोग है। दूसरे रोगों के समान मानसोपचार के द्वारा इसकी समाप्ति हो जाती है। यहाँ कुछ ऐसे रोगियों के अनुभव उल्लिखित हैं। जिन्हें मानसोपचार से लाभ हुआ है। रोगी लिखता है।—

मेरा प्रारम्भ से ही यह विश्वास रहा है कि व्यक्ति जो कोई भी छोटा या बड़ा कार्य करता है, मानसिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही करता है। वह जो कुछ भी सोचता है अथवा किया करता है उसका उसके विचार-यंत्र पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। प्रत्येक बीमारी या कमजोरी का भी व्यक्ति के मन से सम्बन्ध रहता है। मुझे भी इस बात का अपने व्यक्तिगत जीवन में अनुभव करने का अवसर मिला है।

दिसम्बर के अन्तिम दिनों में हमारी अर्धवार्षिक परीक्षा थी। मेरी प्रायः यह इच्छा रही है कि मैं अपनी कक्षा में प्रथम रहूँ। फलतः मैं अन्य छात्रों और सहपाठियों की अपेक्षा अधिक श्रम करता हूँ। परीक्षा के पूर्व से ही मैंने कठिन परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि कई दिन चार घण्टे ही सोया और अपना अध्ययन करता रहा। मैं नहीं समझता था कि मेरे मानसिक जीवन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। अन्त में परीक्षा हुई और मुझे अपनी इच्छा के अनुसार फल भी मिला। केवल एक विषय में मुझे अत्यन्त निराशा हुई। परन्तु जनवरी के प्रारम्भ में ही मुझे यह अनुभव होने लगा कि मुझे अनिद्रा का रोग हो गया है। एक दो दिन मैंने सोने का प्रयत्न किया परंन्तु सफलता नहीं मिली। मेरे मन में यह बात आ चुकी

थी कि मुझे अनिद्रा का रोग हो गया है। ज्यों-ज्यों मैं इस बात पर विचार करता गया, मुझे और अधिक दुख होने लगा कि आखिरकार किन कारणों से मुझे यह चिन्ता और यह बीमारी हुई। साथ-साथ यह भी होने लगा कि मैं एक या आध घण्टे जो कुछ भी सोता, उससे कभी-कभी स्वप्नदोष भी होता था। मेरी शारीरिक स्थिति तो बिगड़ती ही जाती थी, साथ-ही-साथ कुछ स्मरण शक्ति भी कम होने लगी। पहिले तो मैंने १०-१२ दिन कुछ भी औषधि नहीं की; परन्तु जब रोग बढ़ता ही गया तो मैंने अपने एक मित्र से यह बात बताई। यह मित्र इस वर्ष के जीवन में सबसे घनिष्ट मित्र था। उसने मुझे सान्त्वना दी और कुछ आयुर्वेदिक दवा के सेवन करने की सलाह दी, परन्तु कुछ भी सन्तोषजनक लाभ नहीं हुआ।

कालेज में मेरे अनेक मित्र हैं, जिनके मुँह से मैं कई बार सुन चुका था कि शुक्लजी मानसिक रोगियों की चिकित्सा करते हैं और उनसे लाभ भी हो जाता है। मुझे इस परिस्थिति में इस बात का स्मरण आया। मैंने सोचा कि एक दिन आपके पास आकर मैं भी अपना उपचार कराऊँ। शाम को मैं अपने एक मित्र रमेश के साथ में आपके पास आया। परन्तु आपसे भेंट न हो सकी। अतः मैं निराश होकर चला गया। अपने बोर्डिङ्ग में जाकर मैंने एक और साथी से, जो कि मेरे कमरे में रहते थे इस बात की चर्चा की। उन्होंने आपके द्वारा लिखित सरल मनोविज्ञान नामक पुस्तक मुझे पढ़ने को दी और उसको पढ़कर कुछ कार्य रूप में परिणित करने की बात कही! मैंने इस पुस्तक के कुछ पृष्ठ पढ़े। पुस्तक मुझे अच्छी लगी और मेरे उद्देश्य के अनुसार भी उसमें मुझे कुछ सामग्री मिली। निद्रा और सम्मोहन शीर्षक अध्याय में मुझे अनिद्रा की बीमारी शीर्षक

एक अंश मिला! उसे मैंने कई बार पढ़ा और उस पर विचार किया। आपने उसमें लिखा है—

'अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति को नींद न आने की चिन्ता की ही सबसे बड़ी चिन्ता रहती है। वह सदा नींद के बारे ही में सोचा करता है और यह नींद न आने की प्रबल चिन्ता ही उसके नींद में बाधक हो जाती है। नींद आने के लिए नींद के विषय में सोचना भी बन्द रखना आवश्यक है। अनिद्रा के रोग से पीड़ित व्यक्ति को नींद की चिन्ता से मुक्त रखना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ पर अनिद्रा के कारण बहुत सी मानसिक और शारीरिक क्षति हो सकती है वहाँ उसको यह धारणा बना लेनी चाहिये कि अनिद्रा का होना एक साधारण सी बात है। बिना नींद के भी मनुष्य जीवित रह सकता है! इस प्रकार की भावना मन में आते ही अनिद्रा का भय चला जाता है। अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति में उत्साह और आत्मविश्वास की कमी हो जाती है। निद्रा लाने के लिए मनुष्य में अपने शरीर को शिथिल करके लेट जाना चाहिये। अपने विचारों को बाहरी विषय पर जाने से रोक देना चाहिए।'

मैंने देखा कि ये बातें मेरे ऊपर घटती हैं। मैं उस रात को ऐसा करने से खूब सो सका तथा कोई भी चिन्ता नहीं हुई। मैंने सोचा कि इस पुस्तक को पढ़कर उसके अनुसार क्रिया करने से मुझे यह लाभ हुआ। दूसरे दिन मैं आपके पास आया और अपने भय की स्थिति बतलाई। आपके साथ-साथ विद्यापीठ तक गया वहाँ आपका भाषण सुना। रास्ते में मैंने आपको अपनी सारी बातें बताई। आपने मुझे विश्वास दिलाया कि तुम शीघ्र ही ठीक हो जाओगे। मैं उस दिन से आज तक आपके कहे अनुसार चलता रहा और मुझे अब पूर्ण लाभ है।

मैं अब सोचता हूँ कि मुझे अनिद्रा की बीमारी ही नहीं थी। मुझे उससे व्यर्थ ही भय था।

दूसरी बात मैंने आप से यह भी सीखी कि दूसरे व्यक्तियों की भावना का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। मुझसे आपने कहा था कि तुम अपने किसी मित्र से अपने भलाई के विषय में सोचने को कहना और वह प्रतिदिन रात्रि को दस पाँच मिनट तुम्हारे लाभ के विषय में सोचे मैंने ऐसा भी किया इससे भी मुझे पर्याप्त लाभ हुआ।*

दमा से मुक्ति

दमा शारीरिक रोग ही माना जाता है। परन्तु इसके कारण मानसिक भी होते है। जब किसी व्यक्ति के जीवन में ऐसी निराशा हो जाती है जिसे वह व्यक्ति नहीं कर सकता तो वह दमा के रूप में व्यक्त होती है। उनको जब प्रेम और प्रोत्साहन का वातावरण मिलता है तो रोग समाप्त हो जाता है। यह बात निम्नलिखित रोगियों के अनुभवों में दिखाई देती है—एक दमा का रोगी अपना अनुभव निम्न प्रकार से लिखता है—

---

* उक्त वार्ता का लेखक एक प्रतिभावान विद्यार्थी था, आज वह एक बड़े कारखाने का सफल इन्जीनियर है। इसे हकलाने का रोग भी था। किसी संकट के समय ऐसे व्यक्तियों की मानसिक स्थिति डवाँडोल हो जाती है। ऐसे ही समय अनिद्रा का रोग भी उन्हें हो जाता है। इस युवक को अपनी परीक्षा में वैठना था। जैसे-जैसे परीक्षा की चिन्ता बढ़ी अनिद्रा बढ़ती गई और इसके बढ़ने से चिन्ता बढ़ गई। दोनों का निराकरण मानसोपचार से हो गया।

"आज से कुछ वर्ष पूर्व मैं बड़ी ही मानसिक अशान्ति का अनुभव करता था, पर यह अशान्ति कैसी थी, मैं नहीं जानता। मुझमें हीनता का भाव था, मैं समझता था कि प्रत्येक व्यक्ति मुझसे बड़ा है और इससे मुझे दुःख होता था।

मैं बार-बार बीमार हो जाया करता था। मुझे अक्सर बुखार और जुकाम हुआ करता था, इसके अतिरिक्त मुझे दमा की शिकायत थी। दमा में कफ अधिक आता था और मैं थोड़ा-सा कठिन काम करने से थक जाता था। मैंने अपने रक्त की परीक्षा कराई। जिसमें 'इयो सिनोफिल' ६० प्रतिशत से ऊपर थे।

मेरे बाल आधे के करीब सफेद हो गये थे। १७ से २० साल की अवस्था तक सफेद होते ही गये। बाल की सफेदी रोकने की कोई औषधि मैं नहीं जानता था। १६ वर्ष की अवस्था में उपर्युक्त रोगों में से दमा के लिए मैंने ऐसीटल आर्सेनिक के १२ इन्जेक्सन लिए, कुछ समय के लिए मेरा दमा चला गया। परन्तु थोड़े दिनों के बाद फिर आ गया। दमा कभी-कभी रात में हो जाया करता था, और कभी खाना खाने के बाद। स्त्री से मिलने के बाद बहुत जोर से दमा हो जाता था। मैंने विवाह के बाद अपने आप में बहुत कामुकता पाई और स्त्री के पास कितना ही जाऊँ संतोष नहीं होता था। मुझे किसी भी लड़की को देखकर कामोत्तेजना हो जाती थी। इसके कारण कभी-कभी मुझे नैतिकता से भी विचलित होना पड़ा। इसलिए मुझे भारी आत्मग्लानि होती थी।

जहाँ तक मानसिक अशान्ति का प्रश्न है, मैं न तो इसका उपचार जानता था और न मैं यह जानता था कि इसे कोई अच्छा कर सकता है। जहाँ तक रोग के कारण की बात है मैं

ठीक से नहीं जानता था कि क्या कारण है? हमारे घर में अनेक प्रकार के रोगों की दवाइयाँ बनती हैं। अतएव मैंने भी कुछ चिकित्सा की बात जानी। मेरा समझ में मेरे दमा और बाल सफेदी का कारण मेरी-वीर्य क्षीणता ही थी जो कि अधिक कामुक बातों से हो गयी थी। मुझे १६ साल की अवस्था से ही स्वप्नदोष होने लगा था। इसका कारण मेरी किशोर अवस्था के कामुकता सम्बन्धी अनुभवों से है। ये बातें तो छूट गई थी। परन्तु स्वप्न में उन्हीं का ध्यान होता रहता था। कभी स्वप्न याद रहते थे, कभी नहीं।

मानसिक परेशानी अपने साथियों के साथ झगड़ा के कारण भी रहती थी। अपने घर में भी भाई के कारण झगड़ा होता था। घर में मैं बड़ा अभिमानी था। किसी की आलोचना सह नहीं सकता था। कभी अपने भाभी को कटुवचन कह देता था, तो कभी उसका तिरस्कार भी करता था। मेरे भाई मुझे कभी चरित्रहीन और कभी निकम्मा कहते थे। एक बार उनसे लड़कर और दुःखी होकर घर से भाग गया था। मेरा झगड़ा मझले भाई से होता था, बड़े भाई से नहीं। स्कूल में मेरी किसी से नहीं पटती थी। यदि मेरे ऊपर कोई आफत आ जाय तो किसी से भी मदद की आशा न थी। मुझे किसी-किसी बात के लिए लड़के चिढ़ाया करते थे। यदि किसी लड़के से कभी मेरा स्नेह हो गया तो उसे भी चिढ़ाने लगते थे। मैं देखने में सुन्दर था, अतएव इसके कारण भी बहुत से लोग व्यंग किया करते थे। इन बातों के कारण मैं सभी को दुष्ट समझने लगा था। एक बार एक लड़की से मेरा बहुत स्नेह हो गया था। उसके द्वारा मुझे लिखा गया एक प्रेम पत्र स्कूल के लड़कों ने खोल लिया और मेरी अनुपस्थिति में मेरा पत्र पढ़कर सबको सुना दिया गया। इसका पता मेरे घर

के लोगों को भी चल गया। मेरे मझले भाई ने तब मुझे बहुत खरी खोटी सुनाई और मुझे चरित्रहीन भी कहा। अब मेरा सम्मान घर और बाहर से चला गया। मुझे दुनियाँ में अंधकार दिखाई देने लगा। इसके बाद मेरे घर वालों ने मेरी शादी का निश्चय किया। १५ वर्ष की अवस्था के पहले मुझे बड़े धार्मिक उपदेश दिये गये, विशेष कर मझले भाई के द्वारा। रामायण का पाठ करके मैं भोजन करता था, जब तक पाठ नहीं कर लेता था भोजन नहीं करता था। प्रतिदिन पूजा के लिए जाया करता था। किन्तु इसके बाद से जो व्यवहार परिवर्तित हुआ, वह एक विचित्र तरह का था। मुझे समलिंगी व्यभिचार की लत भी लग गयी। जिन लोगों के साथ मेरा ऐसा सम्बन्ध रहता था, उनसे मेरा बड़ा स्नेह भी रहता था। जब लड़के अन्दाज लगाकर मुझे चिढ़ाते थे, तब भारी आत्मग्लानि होती थी।

जब मैं काशी में बी० काम० पढ़ने आया तो मेरे मन में भारी अशान्ति थी। मुझे इस समय दमा, जुकाम, बुखार तो था ही परन्तु विशेष परेशानी मानसिक अशान्ति से थी, जिसका कारण मैं नहीं जानता था। अब मेरे जीवन की निंदनीय बातें कोई यहाँ नहीं जानता था, न तो कोई मुझे चिढ़ाता ही था। तिस पर भी मन अशान्त ही बना रहता था। इस तरह एक वर्ष पूरा काशी में बीत गया।

एक बार मैं अपने साथी के साथ काशी मनोविज्ञानशाला में अनायास गया। मैं नहीं जानता था कि मुझे कोई मानसिक रोग है और शारीरिक रोगों का मानसिक उपचार हो सकता है। मेरे साथी ने मनोविज्ञानशाला के संचालक श्री शुक्ल जी की तारीफ की। इसीलिए उनकी बातें सुनने के लिए मैं वहाँ गया पहले वर्ष तो एक ही बार गया। परन्तु दूसरे वर्ष अपने साथी

के साथ बार बार जाने लगा। मैंने शुक्लजी से अलग मिलने की इच्छा प्रकट की और उन्होंने मुझे मंगलवार को बुलाया। उस दिन उन्होंने मुझे अपने घर पर ही रख लिया और मेरी भावात्मक घटनाओं को सहृदयता पूर्वक सुना। मैंने भोजन किया और सो गया। सवेरे मुझे कुछ आराम मालूम पड़ा।

मेरी मानसिक परेशानी प्रथम वर्ष तो बहुत कम थी। अधिक रोग शारीरिक ही था। परन्तु जैसे-जैसे शुक्लजी से मेरी घनिष्ठता बढ़ी, शारारिक रोग कम हुआ और मानसिक बेचैनी बढ़ती गयी। मैं इस समय अपने भीतर बहुत हलचल भी पाता था, हृदय धड़कता था, किसी से बोलने में डर लगता था। किसी भी रचनात्मक कार्य में मन नहीं लगता था। स्वभाव बड़ा स्वार्थी बन गया था। अपने लाभ के लिए दूसरे की हानि की परवाह नहीं करता था। अपने से बड़ों से डरना और छोटों पर अत्यधिक रोब जमाने की प्रवृत्ति थी। रहन-सहन में, पढ़ने लिखने में या किसी भी बात में अच्छे लोगों से भय सा होता था। यह सारी स्थिति मानसिक अशान्ति बढ़ाती थी। मैं यदि किसी से बात करूँ तो कोई इसमें रुचि नहीं दिखाता था।

मेंने शुक्लजी की बताई हुई सारी साधनाएँ कीं। उन्होंने मुझे अपने घर पर शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया। इस अभ्यास को करते-करते सो गया। मैं आनापानसति का भी अभ्यास करता था। अभ्यास के समय सोचता था कि शुक्लजी मेरे पास बैठे स्नेहपूर्वक मेरे शरीर के ऊपर हाथ फेर रहे हैं। साँस लेते समय यह सोचता था कि मेरे अन्दर सभी भलाइयाँ आ रही हैं और साँस छोड़ते समय यह सोचता था कि सभी

बुराइयाँ निकलती जा रही हैं। मैंने अपने जीवन की सभी विशेषकर कामवासना सम्बन्धी बातें शुक्लजी को सुनायी। गन्दी-से गन्दी बातें सुनकर भी शुक्लजी का मेरे प्रति जो स्नेह का भाव था, वह बदला नहीं बल्कि बढ़ता ही गया। अपनी मानसिक परेशानियाँ प्रतिदिन उनको सुनाता था, सुनाने के बाद मुझे चैन मिल जाता था। एक बार मेरे शिक्षक ही मेरी छोटी भूल पर कक्षा में चिढ़ाने लगे। इससे मुझे काफी दुःख होता था। शुक्लजी इस पर भी मुझे सान्त्वना देते थे। मैंने अपने आप कुछ लिखावट गलत कर दी थी। मेरे शिक्षक मेरी कक्षा में गलत उच्चारण करके पुकारते थे। इससे मेरा दिन खराब हो जाता था। वह किसी-किसी बात के लिए मुझे चिढ़ाते ही रहते थे। शुक्लजी के अतिरिक्त ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जिससे मैं अपनी मानसिक वेदना सुना सकूँ और वह सहानुभूतिपूर्वक उसे सुने। इन्हें अपनी वेदना सुनाकर मुझे राहत मिल जाती थी। कभी उनकी गोद में सिर रखकर रो लेता था और वे मुझे गले से लिपटा लेते थे। उनकी आँखों में भी आँसू आ जाते थे। वे मेरे हृदय को बहुत स्पर्श करते थे। मैं सोचता था दुनियाँ में एक ही निस्वार्थ प्रेम करनेवाले व्यक्ति हैं। वे मेरी सभी बुराइयों को जानते हुए भी मुझे प्यार करते थे।

शुक्लजी ने मुझे उनके प्रति किये बहुत से अन्यायों के लिए क्षमा कर दिया, यह बड़े आश्चर्य की बात रही। मेरा शुक्लजी का स्नेह बढ़ता ही गया। एक समय कुछ उपेक्षा के कारण बहुत दुःख हुआ और मेरा शारीरिक रोग भी बढ़ गया। एक बार मेरा झगड़ा अपने साथी से ही हो गया। शुक्लजी ने मुझे उससे क्षमा माँगने को कहा। मैं समझता था कि दोष मेरा नहीं, मेरे साथी का ही है। हम दोनों शुक्लजी के शिष्य

थे। मैंने पूरे मन से लड़के से क्षमा माँगी। इसका पता शुक्लजी को लग गया और जब मैंने अपने घर छुट्टियों में उन्हें बुलाया तो वे वहाँ नहीं आए। मैंने उनके स्वागत् के लिए भारी आयोजन किया था। मुझे बड़ी निराशा हुई और इसके बाद मैं कई परेशानियों में पड़ गया। जिस समय मैं घर से लौट-कर बनारस आया उस समय मेरा स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ था। पुनः शुक्लजी से मिला और पूर्ववत् स्नेह स्थापित हो गया। तब से न तो मुझे मानसिक अशान्ति और घवड़ाहट का अनुभव हुआ और न दमा का ही दौरा अधिक हुआ। न जाने मेरे सिर के बाल भी, जो सफेद हो गये थे, बहुत अंशों में काले हो गये हैं। मेरा मन पढ़ाई में लगता है; मुझे भविष्य आशामय प्रतीत होता है। मुझे कई जगह पास होने के बाद नौकरी मिलने की आशा है। किन्तु मैंने तो स्वतंत्र रहकर व्यापार से जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया है। घर में भी व्यापार होता है और घर के लोगों ने मुझे इस ओर प्रोत्साहित भी किया है। मेरी सफलता देखकर सभी लोग प्रसन्न हैं। मेरे मझले भाई जो पहले मेरी बड़ी आलोचना करते थे, मुझपर विश्वास करने लगे हैं। मैंने शुक्लजी के विषय में भी चर्चा की और उनका भी विश्वास इस चिकित्सा प्रणाली पर दृढ़ हो गया। बाद में शुक्लजी से वे आकर मिले और उन्होंने अपने जीवन के लिए सलाह भी ली; उन्हें लाभ भी हुआ। शुक्लजी पर विश्वास रहने के कारण वे मुझे और भी अधिक मानते हैं।

आज मैं अपने साथियों में से किसी को अपना आलोचक नहीं पाता। जो लोग मुझे पहले स्वार्थी कहते थे वे आज मेरी प्रशंसा ही करते हैं। पहले मैं यदि किसी का उपकार

करूँ तो ऐसा लगता था कि लोग मुझे बेवकूफ समझते हैं। इसलिए मैं स्वार्थी बना रहना पसंद करता था। मेरे व्यवहार में यह परिवर्तन मेरी पढ़ाई के अन्तिम वर्ष में ही हुआ। शुक्लजी ने जो सबसे मैत्री भावना का अभ्यास करने के लिए सलाह दी थी, इसे मैं एक साल पूर्व न कर सका। मैंने कुछ इस ओर प्रयत्न किया और इससे मेरी जो मानसिक प्रसन्नता बढ़ी वह जीवन की सबसे मूल्यवान वस्तु है।

उपर्युक्त वार्ता से यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य के वहुत से शारीरिक रोगों के कारण मानसिक होते हैं। जब मनुष्य के मन में अपने सम्बन्धियों के प्रति द्वेष के भाव दमित अवस्था में रहते हैं तो उसे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रेम के अभाव से मनुष्य को दमा का रोग बढ़ जाता है। दूसरे से द्वेष रखनेवाला व्यक्ति अपने आपको ही कोसने लगता है। उसमें आत्महीनता की भावना आ जाती है। जब ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा सहानुभूतिपूर्वक सुन ली जाती है तो वह इस कथा के सुननेवाले को प्यार करने लगता है। इस प्रकार उसके मानसिक खिंचाव का अन्त हो जाता है। इसके अन्त होने पर हृदय की धड़कन, दमा, घबराहट आदि रोग शान्त हो जाते हैं। रोगी के प्रति प्रेम दिखाने से उसका आत्मविश्वास बढ़ जाता है और वह सहज में ही समाजसेवक बन जाता है। स्नेह से वंचित व्यक्ति दुःखी होता है और वह दूसरे लोगों का बड़ा ईर्ष्यालु होता है। उसमें आत्महीनता की भावना रहती है और इसके कारण वह किसी का भी भला नहीं मानता। स्नेह की प्राप्ति से उसकी सभी बुराइयों का अन्त सरलता से हो जाता है। इससे मनुष्य की चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है और इसके कारण उसकी रचनात्मक कार्य करने की शक्ति में भी आश्चर्यजनक वृद्धि होती है।

मानसिक उपचार के समय रोगी कभी-कभी बड़ा ही अनुचित व्यवहार करता है। इस प्रकार के व्यवहार से यदि चिकित्सक रोगी से निराश

दमा के रोग से पीड़ित एक दूसरे व्यक्ति के उपचार का अनुभव यहाँ दिया जाता है।

बपचन से ही मुझे सर्दी का जोर था। जुकाम के साथ ही टौन्सिल भी बढ़ जाते थे। बाल्यावस्था में ही पिता जी की मृत्यु हो जाने के कारण सिर पर कोई बड़ा नहीं रहा। इसलिये इस मर्ज की उपेक्षा होती गई। इसी बीच यह सुनने को मिला कि पिता जी को दमे का रोग था। चेतना से चल कर यह बात अन्तश्चेतना में पहुँच गई और धीरे-धीरे इस सन्देह ने विश्वास और तदुपरान्त घोर निराशा का रूप धारण कर लिया। जीवन में चारो ओर अन्धकार छा गया। बहुत से वैद्य और डाक्टरों को दिखलाया और इलाज भी किया। जब कोई वैद्य यह कहता था कि यह दमा नहीं है कुछ और ही है, इतनी सी अवस्था में दमा नहीं हो सकता, तो उसकी अज्ञता पर आश्चर्य होता था। वैद्य, डाक्टरों के पूछने पर मैं अपनी बीमारी के लक्षण भी दमावाले के-से बताता था। इस प्रकार अनजान में बना-बना कर बताते-बताते मेरे साथ ही अन्य लोगों को भी

हो गया तो वह उसका कोई लाभ न कर हानि ही करता है। परन्तु यदि उसके इस व्यवहार को उसने क्षमा कर दिया तो वह उसे अपना आजीवन मित्र बना लेता है।

उक्त लेखक आज समाज का बड़ा उपयोगी समाज सेवक बन गया है। उसके व्यवहार से न केवल उसके सहपाठी ही वरन् घर, परिवार और गाँव के लोग प्रसन्न है। उसकी स्वास्थ्य प्राप्ति और पढ़ाई में उन्नति देख कर उसके दूसरे सम्बन्धी भी लेखक के पास आये और उन्हें भी मैत्रीभावना के अभ्यास से लाभ हुआ। आज यह व्यक्ति बड़ा आशावादी और शीलवान नागरिक बन गया है।

निश्चय हो गया कि मुझे दमा है और यह रोग पैतृक है, राजरोग है, अतः बिलकुल ठीक नहीं हो सकता।

इन्हीं निराशापूर्ण विचारों को लेकर मैं अपने असफल जीवन को ढो रहा था। यद्यपि मैं पढ़ने में बहुत तेज था, सदा अपने साथियों को पढ़ाता ही था, फिर भी दमा उभड़ आने के भय से मैं खेल कूद में भाग न ले सका, व्यायाम भी बिलकुल नहीं किया। इस प्रकार एक ओर तो मैं सामाजिक व्यवहारों की दृष्टि से बहुत पीछे रह गया दूसरे मेरा भविष्य का कल्पना-चित्र भी निराशा के अंधकार से धूमिल हो गया। मैं निराशावादी हो गया और येन केन प्रकारेण जीवन व्यतीत करने लगा। मन में यह विचार आता था कि मैं जीवन में कुछ भी नहीं कर पाऊँगा और दूसरी ओर मां पर क्रोध कि उन्होंने इलाज क्यों नहीं कराया। अब मैं १८ वर्ष का हो चुका था।

एक वर्ष बाद बी० ए० पास करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने गया। वहाँ भी एक वर्ष साधारणतया कटा। दूसरे वर्ष कालेज की ओर से डाक्टरी परीक्षा हुई। डाक्टर ने फेफड़ों को देख कर नार्मल बताया। मुझे उसकी अज्ञता का आभास मिला, फिर भी मैंने विश्वास के साथ कहा कि फिर देखिये, मेरे फेफड़े कमजोर हैं, मेरा दिल कमजोर है। पुनः परीक्षण पर भी जब उसने नार्मल बताया तो मैंने उसे अपने दमा के सम्बन्ध में और साथ ही उसके पैतृक रोग होने की बात बतलायी। पुनः फेफड़ों और गले का अच्छी तरह परीक्षण करने के बाद उसने केवल गले की खराबी और टोन्सिल का रोग बताया। फिर जब पहले का सा दमा उठा तो केवल

टोन्सिल के लिये पेन्ट लगाया और महीने भर परेशान करने वाला वह भीषण रोग मामूली सा जुकाम और टौन्सिल का रोग होने के कारण एक दिन में ही अच्छा हो गया। फिर तो जब कभी दमा का हमला हुआ, गले की सफाई वगैरह की और सब ठीक हो गया।

उसी दिन से जीवन को एक नयी स्फूर्ति मिली। सदा का रोगी मैं एक स्वस्थ युवक की भाँति टहलने और व्यायाम करने लायक हो गया। इस प्रकार रोग की ठीक से परीक्षा न होने से और गलत सन्देह के कारण बहुत से नवयुवको का जीवन नष्ट हो जाता है। बचपन में ही हमारे पिचारों में घुन लग जाता है। इस प्रकार एक मानसिक भ्रम जीवन को नष्ट कर देता है। अतः बच्चों के विकास और स्वास्थ्य में मनोवैज्ञानिक तत्वों का वहुत महत्वपूर्ण स्थान है। घरवालों को भरसक प्रयत्न करना चाहिये कि रोग की अच्छे डाक्टर या वैद्य द्वारा जाँच हो और किसी प्रकार के पैतृक रोग आदि का सन्देह वच्चों के मन में न जम पावे।

हृदय का रोग

हृदय का रोग एक व्यापक रोग है। यह बूढ़े लोगों को हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उस समय उसका कारण बाहरी परिस्थितियों की जटिलता होती है। इससे मनुष्य को चिन्ता हो जाती है और इस चिन्ता के कारण हृदय की गति में रुकावट पड़ती है। किसी प्रबल मानसिक धक्के के लगने पर हृदय की गति एकाएक बन्द हो जाती है। यह वास्तविक हृदय रोग है। इसके अतिरिक्त झूठा हृदय रोग भी होता है। इसमें भी रोगी को वैसी ही परेशानी होती है जैसे वास्तविक रोग से

पीड़ित व्यक्ति को। वह कभी-कभी बिस्तर पर इस प्रकार पड़ जाता है मानो वह मर रहा है। फिर एकाएक यह रोग बिना दवा के चला भी जाता है। ऐसे रोग को फन्कशन बीमारी कहा जाता है। वह मुतैला रोग है। इससे मुक्त होने के लिए झाड़ फूक भी की जाती है। कभी-कभी इसे टिकेकारडिया भी कहा जाता। हमारे यहां ऐसे कुछ रोगियों का उपचार हाल में हुआ है। उनके इस विषयक अनुभव उल्लेखनीय है। रोगी लिखता है—

"मैं कालेज का एक विद्यार्थी हूँ। गत अगस्त माह में एकाएक मेरी माँ का स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के उपरान्त ही मैं भी अचानक बीमार पड़ गया। बीमारी शारीरिक तथा मानसिक दोनों थी। मैं किस कारण वश बीमार पड़ा इसका मुझे उस वक्त ज़रा भी पता न था। इस बीमारी के पहले मेरा मन बहुत ही अहंकारी हो गया था। किसी भी वस्तु का मुझे जरा भी डर नहीं होता था, चाहे वह बुरी से बुरी चीज हो। मैं उसका उपभोग करने को तैयार हो जाता था। गत चौदह पन्द्रह वर्षों से मैंने मांस छोड़ दिया था उसे भी खाने लगा, तथा विषय-वासना में भी लिप्त हो गया था।

एक तरफ तो मैं बहुत ही निर्भीक बन रहा था कि अचानक ही माता जी की मृत्यु के ठीक तेरह दिन बाद ही मैं यह सोचने लगा कि मेरा हार्ट न फेल हो जाय। इसी बात की धुन मुझे हर वक्त सताने लगी तथा नींद भी नहीं आती थी। दो-दो तीन-तीन दिन के बाद कभी २ एक या आधे घन्टे के लिए जरा सी नींद आ ज़ाया करती थी, जो मुझे शायद पागल होने से बचा देती थी। जब नींद आने में काफ़ी देर हो जाती थी तो मैं बहुत अधिक घबड़ा जाता था, तथा अपने प्रेमियों से भी चिढ़

जाया करता था। मेरा मन बहुत ही निर्बल हो गया था और मैं सोचता था कि अब मरा तब मरा। मृत्यु का भय मुझे हमेशा सताया करता था। प्रायः थोड़ी-थोड़ी देर बाद मुझे यह मालूम होने लगता था कि अब मेरे हृदय की गति धीमी होती जा रही है, नाड़ी सुस्त हो रही है और प्राण निकल रहा है। यह सब मन की सोची हुई वस्तु थी। मन बहुत ही विक्षिप्त रहता था। स्वप्न भी कभी-कभी भयानक सा मालूम देता था। जिससे नींद खुल जाती थी। निराशा ने मेरे मन में घर कर लिया था। इसके अतिरिक्त शारीरिक रोग भी हो गया था। सबसे बड़ी चीज तो उस वक्त यह थी, कि खाना बिल्कुल ही नहीं पचता था। जिससे मैं बहुत ही निर्बल हो गया था। शरीर बिल्कुल पीला पड़ गया था।

उपरोक्त बातें होने के पूर्व मुझे एक रोज कुछ बुखार आया। इसके बाद ही ये सब उपरोक्त बातें होने लगीं। मैं इस पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अस्पताल में अपना उपचार एक आयुर्वेद के वैद्य से कराने लगा, परन्तु उससे मुझे जरा भी सन्तोष नहीं हुआ। मैं कुछ-कुछ टहला भी करता था। इसके अलावा एलोपैथिक के डाक्टर से भी उपचार कराया, इन सब के होते हुए भी मन विक्षिप्त ही रहा करता था। अतः मैं प्रो० लालजी राम शुक्ल की शरण में आया। इनसे मुझे उचित लाभ होना शुरू हो गया तथा थोड़े दिन बाद मैं फिर पूर्ण स्वस्थ हो गया और फिर अपने कार्य को करने लगा।

सर्व प्रथम शुक्ल जी के यहाँ आकर मैंने अपना सारा जीवन चिट्ठा कह सुनाया तथा कुछ स्वप्नों को लिख कर दिया, इसके

अतिरिक्त अपनी कामवासना की विकृतियों को भी कहा। इन सब बातों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने शान्त भावना तथा मैत्री भावना का अभ्यास बतलाया।

शान्त भावना के लिए तो उन्होंने बतलाया कि शाम या सुबह स्नान करने के पश्चात् शरीर को सभी प्रकार से स्वच्छ करके समतल जमीन पर चित्त लेटना तथा यह कहना कि मैं शान्त हूँ...मैं शान्त हूँ——इस अभ्यास से मेरे विक्षिप्त मन पर काफी प्रभाव पड़ा।

इसी प्रकार मैत्री भावना को सोते वक्त हमेशा करता रहा। जिसका मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा, कि मैं अपने खिलाफ़ व्यक्तियों को भी अच्छा कहने लगा तथा मेरा मन स्वस्थ होने लगा। यह सब क्रम मैं कई बार आ-आ कर शुक्ल जी से कह सुनाता था, और वे हमें हर बार कुछ न कुछ उपदेश दे दिया करते थे, जिससे मन दृढ़ होता जाता था।

इस वक्त मैं फिर उसी उत्साह से काम करने लग गया हूँ। अध्ययन का कार्य भी शुरु हो गया क्योंकि बीमारी की दशा में मैं यह निर्णय कर चुका था कि अब न पढ़ूँगा। इसका कारण यह था कि बीमारी ने मुझे बहुत जबरदस्त धक्का दिया था, जिससे सम्हलना असम्भव समझता था। परन्तु ये सारी बातें अब बिल्कुल समाप्त हो गई हैं। अब मुझे पूर्ण शान्ति है। मेरा मन पढ़ने में खूब लगने लगा है। इन सब अभ्यासों ने मेरे जीवन में नया परिवर्तन उपस्थित कर दिया है।

[इस लेख के लेखक को अपनी चाची के प्रति कामवासना उत्तेजित होने पर अत्यन्त आत्मग्लानि हुई थी। इस प्रकार उसकी यह काम प्रवृत्ति

दबकर अन्तर मनमें चली गई। उसे जब काम उत्तेजना हुई थी तब हृदय की धड़कन का अनुभव भी हुआ था। फिर अकारण ही हृदय की धड़कन होती थी। पर वास्तव में आत्मग्लानि के कारण घटना के विस्मृत होनेके कारण ही वह अकारण दिखाई देती थी। जब शान्तभावना के अभ्यास स्वरूप पुरानी स्मृति याद आई तब रोग समाप्त हो गया। पुराने दमित भाव के रेचन से रोग समाप्त होता है।]

यहाँ एक दूसरे के रोगी का अनुभव भी उसी के शब्दों में दिया जाता है—

मैं नेपाल की एक तराई प्रदेश का रहने वाला हूँ। मेरे पिता एक सम्पन्न पुरुष हैं, घर में खेती बाड़ी होती है। हमलोग ६ भाई और तीन बहन हैं। मेरे बचपन का जीवन बड़े सुख में गया। मेरे पिता-माता दूसरे भाई बहनों की अपेक्षा मुझे अधिक प्यार करते थे। मैं अपने भाई बहनों पर रोब भी जमाया करता था। छोटे भाई बहन मुझसे डरते रहते थे।

मेरा बचपन का जीवन खूब आनन्द से व्यतीत हुआ। १७ साल की अवस्था तक मुझे कोई रोग न था। यदि कोई रोग हुआ भी तो थोड़े दिन में चला जाता था। मैं खूब खेल कूद करता था। १७ साल की अवस्था तक खूब तगड़ा था। सब लोग मुझे सुन्दर गठन का व्यक्ति मानते थे। मुझे सब प्यार करते थे। मेरा दुख का जीवन तब से शुरू हुआ जब से मेरा हृदय का रोग शुरू हुआ।

मुझे पहले पहल हृदय की धड़कन तब हुई, जब मैंने एक लाश को ले जाते हुये कुछ लोगों को देखा। कुछ लोग लाश लिये सड़क पर जा रहे थे। मुझे मालूम नहीं था कि उनके साथ लाश है। उनमें से एक व्यक्ति से मुझे धक्का लग गया।

पीछे मुझे मालूम हुआ कि वह मुर्दा ले जानेवालों का साथी है। मुर्दा को देखते ही मुझे एकाएक भय हो गया, हृदय में भारी धड़कन हुई। मैंने एक दफा चारों ओर मुर्दा देखा और घर में आने पर १०४ डिग्री का बुखार हो गया। मैं सोचता था कि अब मैं मर जाऊँगा। इसके बाद मुझे चक्कर आने का रोग हुआ, मैं अकेला बाहर नहीं निकल सकता था। बाहर निकलते ही मैं मूर्छित हो जाता था।

हृदय की धड़कन होने का दूसरा समय तब था, जब मैं अपने एक साथी के साथ अपने गाँव के नजदीक के एक कसबे में गया। वहाँ पर हमारे गाँव के आदमी जाते रहते थे और रात को सिनेमा देखते थे। हमने भी विचार किया था कि उस रात हम वहीं रह जायँगे। उस गाँव का एक आदमी हमारे गाँव के लोगों को अपने घर में ठहराया करता था। वह अपने घर में एक नौकर के साथ अकेला रहा करता था। उसकी दूकान बाजार में थी। मगर उसका मकान एक एकान्त सुनसान जगह में था। वह रात को हमें अपने मकान पर ले गया। उसका मकान तीन मंजिले का था। वह जैसे-जैसे हमें ऊपर लेते जाता था अपने सब किवाड़ बन्द करते जाता था। जैसे हम दोनों उसके साथ मकान के ऊपर जाते थे, मेरे मन में घबड़ाहट और भय होता जाता था। मन में आता था कि कहीं ऐसा न हो कि यह व्यक्ति हमें मार डाले। तीसरे मंजिले में पहुँचने पर देखा कि उसके कमरे में बहुत से चाकू, छूरा और बन्दूक की गोलियाँ रखी हुई हैं। उसके पास एक बन्दूक भी थी। ये सब देख के मुझे बहुत घबड़ाहट हुई। हम लोगों ने भागने का विचार किया परन्तु डर के मारे कुछ न कर सकते थे। इस व्यक्ति ने हम दोनों को अलग-अलग कमरे में रक्खा और उसके

हाव-भाव से पता चलता था कि वह हमसे व्यभिचार करना चाहता है। इससे बड़ी घबड़ाहट हुई। हृदय की धड़कन बेहद बढ़ गई। इसी से हमें एक सूझ आई। मैंने उस व्यक्ति से कहा कि अभी हम सिनेमा देखना चाहते हैं। हम सिनेमा से लौटकर आवेंगे तब यहाँ रहेंगे। मैं अपने कमरे से बाहर आया, यहाँ पर अपने साथी को भी घबड़ाया हुआ देखा। मैंने उससे कहा कि चलो सिनेमा देखने चलें। उसने तुरन्त चल दिया। हमलोग जल्दी-जल्दी घर के बाहर निकले। परन्तु इस बात से भी सावधान थे कि वह दुष्ट आदमी हमारी सच्ची भावना को न जान ले। धीरे-धीरे घर के बाहर निकल कर हम जल्दी-जल्दी थोड़ी दूर तक चले। जब हम उस व्यक्ति की नजर के बाहर चले गये तो खूब जोर से दौड़ने लगे। हमें डर था कि कहीं वह हमारा पीछा न कर रहा हो। दौड़ते-दौड़ते हम एक मील दूर स्टेशन पर आये और रात को रेल में बैठकर किसी प्रकार घर आये। इस घटना की चर्चा हमने आज दिन तक किसी से नहीं की। पहली बार इसे हमने मनोविज्ञान शाला के संचालक को सुनाया।

मेरे हृदय की धड़कन दो बार और हुई थी। जब मैं अकेला एक सुनसान घर में सोया था तो बहुत डर लग गया था। वह १८ वर्ष की अवस्था में हुआ। तब से हृदय की धड़कन कम अथवा अधिक होती ही रहती थी।

मेरे पिता ने इस धड़कन को कम करने के लिये बहुत रुपया खर्च किया। मुझे कई डाक्टरों के पास ले गये। मुझे कलकत्ता और पटना के कई डाक्टरों को दिखाया गया। उन्होंने कहा कि इसे हृदय का रोग है। दवाइयाँ और इन्जेक्शन दिये गये। परन्तु रोग घटने के बदले दिन-प्रति-दिन बढ़ते ही

गया। अन्त में मैं काशी आया और अपने भाई के साथ रहने लगा। मेरी यहाँ चिकित्सा होती रही। जब मैं इन्जेक्शन ले रहा था उसी समय मैंने काशी मनोविज्ञानशाला का नाम सुना। मेरे एक सम्बन्धी ने कहा कि संभव है कि तुम्हारे रोग का कारण मानसिक हो और उसका उपचार भी मानसिक चिकित्सा-विधि से हो सकता हो।

मैं एक दिन अपने भाई के साथ काशी मनोविज्ञानशाला आया। मुझे मनोविज्ञानशाला में आते समय एक विशेष प्रकार का भय भी था। मैं सोचता था न जाने कैसे प्रश्न मुझ से पूछे जायेंगे? प्रोफेसर साहब न जाने कैसे रोबवाले व्यक्ति होंगे? मुझे ऐसे सब लोगों के सामने आने में डर लगा करता था। जब मैं मनोविज्ञानशाला पहुँचा तो शुक्लजी से ही पूछा था कि प्रोफेसर साहब कहाँ हैं। उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया और चुपचाप हम दोनों को ऊपर ले आये। उन्होंने मनोविज्ञान पत्रिका पढ़ने को दी और हमलोगों के बारे में जानकारी के लिये बातचीत की और दूसरे दिन आने को कहा। मुझ से यह भी कहा गया कि भाई के साथ न आकर किसी मित्र के अथवा नौकर के साथ आना।

मैं फिर दो दिन बाद आया। भाई ही साथ में थे। भाई साहब को एक अलग कमरे में बिठा दिया गया और मुझसे अनेक प्रकार की बातचीत की गई। जब शुक्लजी प्रश्न पूछते थे तो मेरे हृदय की धड़कन बढ़ जाती थी। परन्तु वे इतने शान्त भाव से पूछते थे और बीच-बीच में पीठ पर हाथ फेरते रहते थे, जिससे मेरी घबराहट बढ़ नहीं पाती थी। उन्होंने पहले तो अपने संबंधियों और पढ़ाई के विषय में प्रश्न पूछे। फिर कामवासना संबंधी प्रश्न पूछे। मैंने कामवासना सम्बन्धी

उनसे कोई बात न कही। उन्होंने मुझसे अपना स्वप्न लिखने को कहा। मैंने उनसे कहा कि मुझे स्वप्न नहीं आते और स्वप्न आते हैं तो याद नहीं रहते। परन्तु उन्होंने मुझसे कहा कि जो तुम्हें याद रहते हैं उन्हीं को बताना। उन्होंने मुझसे यह भी कहा कि तुम्हें स्वप्न अब आयेंगे। सचमुच में मैंने इस प्रकार का स्वप्न देखा—

"पहाड़ से कहीं जा रहे थे। जब नीचे आये तो नदी मिली, उस नदी को तैर कर पार किये; इसके बाद बहुत कीचड़ वाला रास्ता मिला। न जाने कहाँ से हमें एक काला घोड़ा मिला। उस काले घोड़े पर चढ़कर हमने कीचड़ को पार किया और एक स्टेशन में आ पहुँचा। भाई साहब भी हमारे साथ थे, लेकिन वह रात्रि में कहीं छूट गये। उनके लिये हम उस स्टेशन पर ठहरे।

एक सीढ़ी से कहीं आ रहे थे। वह पत्थर की लम्बी सीढ़ी थी। उस समय हमारा हृदय धड़क रहा था। फिर हमारी बहिन हमें खोजने आई। हम सीढ़ी से ऊपर आ रहे थे। वहाँ मुँह से खून गिरने लगा। हमने पिता जी को बीमारी की खबर पहले ही दे दी थी। जब खून गिराते-गिराते सीढ़ी से ऊपर आये तो दो जीप मोटरें देखीं। हम समझे कि उसमें पिताजी आये। लेकिन पिताजी उसमें नहीं थे। तब हम हताश हो गये।" इन स्वप्नों को हमने शुक्लजी से दूसरे दिन आकर कहा और उन्होंने इन दो स्वप्नों का अर्थ बताकर कहा कि रोग का कारण वासना का दमन है।"*

* अपना अनुभव लिखने वाले रोगी से अनापानसति का और शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया था। इसके कई स्वप्न सुने गये।

क्षय रोग का उपचार

प्रत्येक प्रकार का मानसिक क्लेश जब तक मनुष्य की चेतना के समक्ष रहता है शारीरिक रोग का रूप धारण नहीं करता।

इस रोगी की उम्र केवल १८ वर्ष की थी। अपने जीवन के अनुभव सुनाने से और स्वप्न सुनाने से रोगी का रोग हलका हुआ। यह रोगी कभी-कभी पूरे स्वस्थ व्यक्ति जैसा हो जाता था और कभी-कभी एकाएक बीमार बन जाता था।

रोगी के स्वप्नों से पता चलता है कि उसके मन में कामवासना सम्बन्धी अनेक प्रकार के भय हैं। नदी और पहाड़ कामवासना के प्रतीक हैं। इसी प्रकार सीढ़ी पर चढ़ना भी कामवासना का प्रतीक है। बहिन को सीढ़ी पर देखना बहिन से व्यभिचार की इच्छा का द्योतक है। पिता नैतिक भावना का द्योतक है। कामवासना को उत्तेजना होने पर हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। यदि अनैतिक स्थिति में यह उत्तेजना हुई तो वह और भी अधिक बढ़ती है। यदि कामवासना के समय की हृदय की धड़कन किसी ऐसी अनैतिक अथवा आत्म-सम्मान के विरुद्ध परिस्थिति में हो कि मनुष्य उसके विषय में सोचना भी न चाहे तो यह अकारण ही हृदय का रोग उत्पन्न कर देती है। किसी प्रकार का दमित आवेग रोग का जनक होता है।

रोगी की जीवनी से पता चलता है कि उसे दो बार हृदय की धड़कन पहले हुई। पहली बार मुर्दे को देखकर और दूसरी बार अकेले मकान में रहने पर। मुर्दे देखकर असाधारण भय कामवासना में लिप्त व्यक्ति को होता है। यह भय काम-वासना का दमन कर देता है और उससे रोग का प्रारंभ हो जाता है। दूसरी घटना ने भी युवक के मन में भय और हृदय की धड़कन पैदा की। यह अनुभव रोगी के मन में दमित अवस्था में रह गया। जब रोगी ने इन अनुभवों को लेखक से कह सुनाया तो उसकी धड़कन कम हो गई।

जब हम किसी मानसिक क्लेश को भुलाने की चेष्टा करते हैं, तभी वह शारीरिक रोग का रूप धारण करता है। यह रोग दमित मनोभाव को प्रतीक रूप से व्यक्त करता है। दमित स्मृति के जागरण से रोग की समाप्ति हो जाती है। इस प्रसंग में निम्न लिखित क्षय रोग से त्रस्त एक महिला का अनुभव उल्लेखनीय है।

लेखक की एक छात्रा को, जो आज एक महिला कालेज की अध्यापिका है, आज से कुछ समय पूर्व क्षय रोग की बीमारी हुई। यह बीमारी सूरेसी से बढ़कर हो गई थी। यह महिला भुवाली के सेनीटोरियम में साल भर रही और फिर वहाँ से स्वास्थ्य लाभ करके आई। इस महिला का रोग उसी प्रकार था जो उसके पिता को हुआ था।

महिला का पिता सत्तर साल की अवस्था में सूरेसी रोग से मरा। महिला उस समय ट्रेनिंग कालेज काशी में पढ़ रही थी। वह पिता की सेवा के लिये एक महीना की छुट्टी ले कर गई। पिता की सूरेसी से मृत्यु हो गई इससे महिला को भारी दुःख हुआ। महिला पिता की वृद्धावस्था में उसकी सेवा करना चाहती थी। परन्तु यह सम्भव न हुआ। वह अपने पिता की मृत्यु के लिये अपने आपको किसी प्रकार दोषी भी मानती थी। वह पिता की मृत्यु के दृश्य को भुलाना चाहती थी परन्तु वह दृश्य भुलाये नहीं भूलता था। परन्तु उसके भुलाने के प्रयत्न करते-करते स्वयं उसे ही वही रोग हो गया। जो उसके पिता को था।

महिला से प्रति दिन बातचीत करके उसका शोक-भार उतारा गया। उससे शैथिलीकरण का अभ्यास भी कराया गया। पिता की मृत्यु के लिये अपने आपको जिम्मेदार मानना एक भारी भूल है, यह बात महिला के मन में बैठाई गई। इससे

महिला की सूरेसी से पीड़ा जाती रही। पीछे उसे क्षय रोग से भी मुक्ति हो गई। उसके जीवन में निराशा आ गई थी उसके बदले आशा लाना भी आवश्यक था। अतएव अपने जीवन का नया लक्ष्य बनाना आवश्यक है—यह बात मन में बैठाई गई। परिस्थितियों के प्रति मैत्री भावना के अभ्यास के परिणाम स्वरूप महिला का मानसिक परिवर्तन हुआ और वह क्षय रोग से मुक्त हो गई।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि क्षय रोग के लिये जो भौतिक उपचार होते हैं उनको रोकना मानसिक बनावट को बदलने के लिये आवश्यक नहीं है। भौतिक चिकित्सा से लाभ अवश्य होता है। परन्तु यह लाभ मानसिक बनावट के बदले बिना स्थायी नहीं होता। जब रोगी का भीतरी मन रोग से मुक्त नहीं होना चाहता तब रोगी की चाहे जितनी चिकित्सा क्यों न की जाय रोगी रोगमुक्त नहीं होता।

मानसिक चिकित्सा शास्त्र का यह अटूट सिद्धान्त है कि मनुष्य के अधिक शारीरिक रोगों की जड़ उसके गम्भीर मन में रहती है। यह सामान्य चेतना के परे है। इस मन का मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता। इस मन की इच्छायें बाहरी मन की इच्छाओं के कभी-कभी अनुकूल होती हैं और कभी-कभी उसके प्रतिकूल भी होती हैं। मनुष्य बाहरी मन से किसी विशेष प्रकार के रोग से परेशान रह सकता है, परन्तु भीतरी मन से वह उस रोग को चाहता है, कितने ही शारीरिक रोग मनुष्य को अपनी कटु जिम्मेदारियों से बचा लेते हैं, और कितने ही प्रायश्चित्त के रूप में आते हैं। रोगी को रोग तब तक नहीं छोड़ता जबतक रोगी अपनी कठिन जिम्मेदारी को वहन करने के लिये तैयार नहीं हो जाता, अथवा जब तक वह नहीं

सोच लेता कि उसकी भूल का प्रायश्चित्त हो चुका है अथवा जिस भूल को वह भारी पाप समझता था उसके लिये वह जिम्मेदार ही न था।

मूर्छा से मुक्ति

मूर्छा का रोग कई कारणों से होता है। कुछ लोगों को मूर्छा मिर्गी के कारण होती है, कुछ को भारी धक्का लग जाने से और कुछ को मानसिक द्वन्द्व के कारण। हमने जिन रोगियों का उपचार किया है वे तीसरे प्रकार के थे। परन्तु ऐसे रोगियों के भी बाहरी लक्षण मिर्गी रोग के रोगियों के सदृश ही होते हैं। जिस प्रकार झूठे और सच्चे हृदय के रोगी एक से ही होते हैं इसी प्रकार सच्ची और झूठी मिर्गी के रोगी भी एक-से व्यवहार करते हैं। इन रोगियों की प्रबल वासनायें नैतिक प्रतिबन्धों अथवा सामाजिक मान्यताओं के कारण दमित अवस्था में रहती हैं। जब इनका समन्वय उसके प्रधान व्यक्तित्व से हो जाता है तो रोग चला जाता है। यहाँ हम एक हमारे बड़े ही परिश्रमी और प्रतिभावान् विद्यार्थी का इस रोग से मुक्त होने का अनुभव उल्लिखित कर रहे हैं। विद्यार्थी लिखता है—

"आज दो वर्ष पूर्व मैं पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति था। मैं अपने घर से आकर काशी विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ रहा था। इसी बीच मुझे मूर्छा का रोग हुआ। मैं इस रोग से अत्यन्त भयभीत हो गया। मेरे समक्ष संसार की तथाकथित असारता मूर्तिमान होकर नाचने लगी। जो जीवन कुछ समय पूर्व एक उल्लास, आनन्द और प्रसन्नता की मधुर कल्पना में विभोर था; जिसकी मधुमय कल्पना अभी उषा की तरह यौवनाकाश में उठ ही रही थी, कि अंधकार छा गया; निराशा की कालिमा कुहरा-सी घनीभूत होकर फैल गयी।

यद्यपि उसकी कल्पना सुखद तो नहीं मालूम पड़ती, पर फिर भी कहता हूँ। यह मेरे जीवन में आने वाली एक बीमारी थी, जिसने मुझे कुछ का कुछ बना दिया।

इसका आगमन मेरे लिए एक अजीब निराशा उत्पन्न करने-वाली घटना थी। बीमारी के प्रथम काल में तो उसकी भयंकरता उतनी नहीं थी, किन्तु समय के साथ विभीषिका भी बढ़ती ही गयी। प्रथम तो मूर्छा के आने का पता ही नहीं लगता था। मूर्छा के बाद सचेत होने पर सिर में दर्द होने लगता था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, बीमारी भी बढ़ती गयी। धीरे-धीरे इसके विषय में चिन्ता बढ़ने लगी। समाज में अपमान की भावना के भय ने मुझे समाज से दूर भगाया। पहले छात्रावास में रहता था। बीमारी के आरम्भ से चार माह बाद मैंने छात्रावास छोड़ दिया। कहीं रहूँ, इस बीमारी का चक्कर महीने में एक बार हो ही जाता था। एक बार तो रास्ते में सायकिल पर जाते समय ही गिर गया। कुछ लोगों ने मुझे उठाया। इस भय के कारण कि कभी भी चक्कर आ सकता है, मैंने एक साथी के पास रहना उचित समझा। इस दृष्टि से कि मुझे इस प्रकार का रोगी जानते हुए भी उन्होंने मुझे अपने पास रख लिया, मेरा हृदय अब भी उनका कृतज्ञ है और जीवन भर रहेगा।

एक दिन प्रातः मैं पढ़ने जा रहा था कि तीन मंजिले के ऊपर से गिर कर मेरी इहलौकिक यात्रा ही समाप्त हो गई होती, किन्तु मेरे मित्र ने मुझे बचा लिया। अब तो धीरे-धीरे मेरा यह विचार दृढ़ होने लगा कि मैं समाज से दूर जाकर रहूँ, क्योंकि जीवन में निराशा के साथ ही साथ सामाजिक भाव भी बढ़ता जाता था। उस समय मेरी अवस्था १८ वर्ष की थी। उच्च माध्यमिक विद्यालय में पढ़ता था। पढ़ने में मन तो कभी

लगता न था, सदा जीवन के अन्धकारमय भविष्य की कल्पना मेरी निराशा को और बढ़ाती ही जाती थी। अन्ततोगत्वा विवेक कुण्ठित हो गया; निराशायुक्त भावना ही बढ़ी और जंगल की ओर ले गयी—पलायनवादी मनोवृत्ति घर कर गयी और सन्यासी होने की प्रबल भावना से मैं एक सन्यासी महात्मा की शरण में गया। वैसे धार्मिक भावना तो पहले से भी थी, किन्तु रोग के कारण और बढ़ गयी। महात्माजी ने मुझे कहा—"जाओ अपना अध्ययन करो", साथ ही कुछ पूजा पाठ करने को भी कहा। मैं ग्रीष्मावकाश समाप्त कर जुलाई में काशी द्वितीय वर्ष आर्ट्स कालेज में पढ़ने के लिए आया।

मैं सदा इस चिन्ता में पड़ा रहता था कि किसी प्रकार मुझे बीमारी से छुटकारा मिल जाय। इसलिए मैं वैद्यों और डाक्टरों के पास जाता और निराश होकर लौट आता था। एक दिन मैंने अपने एक साथी से काशी मनोविज्ञानशाला की प्रशंसा सुनी। साथ ही यह भी सुना कि वहाँ मानसिक चिकित्सा होती है। मेरे मन में आया कि मैं भी चलूँ तो मेरी भी बीमारी छूट सकती है। यह विचार बार-बार मेरे मन में आने लगा, और मैं अपने को वहाँ जाने से रोक न सका। एक दिन जाड़े में रविवार को मैं ग्यारह बजे के लगभग मनोविज्ञानशाला पूछता पूछता आया। प्रथम बार ही तो मैं यहाँ आया था, किन्तु जो व्यवहार की सरसता तथा उदारता शुक्लजी से मिली, उसने मुझे सदा के लिए उनका ही बना दिया। उस दिन तो मैं चला गया, यह कहकर कि प्रतिदिन आया करूँगा, किन्तु परीक्षा के सन्निकट होने के कारण न आ सका। परीक्षा समाप्त करके मैं घर गया और वहाँ जब चक्कर आया तो मुझे पुनः श्री शुक्लजी की स्मृति आयी और उसके दूसरे दिन ही मैं घर से

बनारस के लिए चल दिया। यहाँ आने पर मुझे एक आशा सी हो गयी और यहीं रहकर चिकित्सा कराने लगा। यहाँ मुझे आनापानसति और मैत्रीभावना का अभ्यास कराया गया। मुझे इससे धीरे-धीरे आनन्द आने लगा और जहाँ रोग के प्रति यह भाव थी कि वह मेरा सबसे बड़ा शत्रु है वह मेरे लिए क्रमशः मित्र तो नहीं, सबसे बड़ा हितैषी ज्ञात होने लगा। इन सबके साथ जो उपचार का साधन था, वह था अपूर्व स्नेह और उदारता का भाव। उसने न केवल मुझे बीमारी के प्रति सहनशील बनने का मार्ग प्रदर्शित किया, वरन् जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी सहिष्णुता और शान्ति लाने का अपूर्व मार्ग प्रदर्शित किया।

मैंने आनापानसति के अभ्यास को किया। उसने न केवल मुझे मूर्छा रोग से सदा के लिए मुक्त किया अपितु वह सम्पूर्ण जीवन में एक नव प्रकाश दे गया। इससे मैंने दीन बालकों के साथ विशेषतया समाज से अछूत कहे गये बालकों के साथ खेलना तथा उनको कुछ शिक्षा देना सीखा। यह मुझे अत्यन्त ही लाभप्रद प्रतीत हुआ। बीमारी के समय मैं संसार की बातों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखता था, अब मेरे विचार उससे सर्वथा भिन्न हैं। मैं पहले जंगल में जाकर योगाभ्यास के द्वारा रोग को हटाना चाहता था, अब समाज के उपेक्षित लोगों के विकास के लिए मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। पहले समाज के अधिकांश लोगों के प्रति मेरे हृदय में घृणा का भाव था, आज अधिकांश लोगों के प्रति मेरा प्रेम का भाव है। मुख्य बात तो यह है कि जहाँ पहले मैं समाज से दूर शान्ति में रहना चाहता था, जब कि मन अशान्त था, अब मन शान्त है, और मैं समाज में ही शान्ति

प्राप्ति का अभ्यास करता हूँ। एक बात और—पहले मैं व्यक्तिगत सुख चाहता था, वहाँ अब सब का सुख चाहता हूँ। अब मेरे अन्दर बहुत-सी ऐसी बातें आ गई हैं कि जिनसे मेरा ही नहीं, अधिकांश लोगों का कल्याण होगा। मेरा तो होगा ही, इसमें संदेह नहीं है। मुझमें चित्त की एकाग्रता आ गई है। इन दिनों अपने शान्ति भाव को बढ़ाने के हेतु बच्चों के साथ प्रेम का व्यवहार करना तथा उनको कुछ शिक्षा देने का कार्य मैंने प्रारम्भ किया है। मैं अपने सभी कामों का परिणाम भला ही देखता हूँ। मैं अपने जीवन को संसार के लिये बड़ा मूल्यवान मानता हूँ। मेरे दुःखद अनुभव ही मेरे सच्चे कल्याणकर्त्ता सिद्ध हुए। अब मैं दिखाऊ बड़प्पन का इच्छुक नहीं रहा और न निराशावादी ही हूँ।❀

निराशा और हृदय-रोग का उपचार

मनुष्य का अचेतन मन किसी प्रकार की गन्दगी को अपनी

❀ लेखक बड़ा ही होनहार नवयुवक है। इसके रोग की सफल चिकित्सा नई मानसिक चिकित्सा का एक महत्व का प्रयोग है। इस रोगी से पहले-पहल आनापानसति का अभ्यास कराया गया, फिर उससे शान्तभावना का, मैत्रीभावना का तथा शिवभावना का अभ्यास कराया गया। इसने अपने कामवासनासंबंधी दूषित अनुभव कह सुनाये और इस प्रकार उसके अप्रिय भावों का रेचन किया गया। यह कामवासना को शत्रु के रूप में देखता था और उसे विनाश करने की चेष्टा करता था। आज वह उसे अपना मित्र मानता है और उसकी शक्ति को समाज-सेवा में सदुपयोग करता है। इसे बच्चे बहुत ही प्यार करते हैं। यह छोटे बच्चों को नई नई कहानियाँ गढ़कर सुनाते रहता है। इससे उसकी मानसिक शक्ति का सदुपयोग रचनात्मक कार्य में हो जाता है। उसकी प्रसन्नता दूसरों के लिये भी कल्याणप्रद सिद्ध हो रही है।

भीतर नहीं ठहरने देता। अपने नैतिक संस्कारों के प्रतिकूल यदि कोई व्यक्ति आचरण करे तो पहले उसे आत्म-ग्लानि होती है। वह इसे भुलाने की चेष्टा करता है अथवा भूल को स्वयं के समक्ष स्वीकार ही नहीं करना चाहता। वह झूठी युक्तियों द्वारा उसका औचित्य सिद्ध करना चाहता है। इससे मनुष्य का अचेतन मन रुष्ट हो जाता है और वह रोग उत्पन्न कर देता है। ये रोग प्रायश्चित्त के रूप में होते हैं। जिस पाप का प्रायश्चित्त मनुष्य का अहंकार स्वेच्छा से नहीं करता उसका प्रायश्चित्त उसे जबरन करना पड़ता है। हम संसार की नजर से अपने पाप को छिपा सकते हैं, उसे अन्तरात्मा की नजर से नहीं छिपा सकते।

एक नवयुवक की स्त्री घर के अत्याचार से क्षय रोग से पीड़ित होकर मर गई। वह उसे प्यार करता था, परन्तु उसे घर के अत्याचार से नहीं बचा सका। उसके मरने के छः महीने के भीतर उसका दूसरा विवाह हुआ। यह स्त्री न तो इतनी रूपवान और शीलवान थी जितनी पहली स्त्री थी और न उसमें उतने विद्वत्ता के गुण थे। अतएव युवक का मानसिक संतोष उससे होना सम्भव न था। अब पुरानी स्त्री उसे याद आने लगी और उसके प्रति किये गये अत्याचार कटु स्मृति के रूप में उसे बार-बार वेदना देने लगे। परन्तु वह करे क्या? वह तो बेचारी स्वर्ग में जा बसी। युवक ने अपनी प्रेयसी की स्मृति भुलाने की चेष्टा की। परन्तु इससे उसे जीवन से निराशा और हृदय की धड़कन उत्पन्न हो गई। उसकी स्मृति का ह्रास हो गया। वह अब साधारण-सी बातें भूलने लगा।

युवक का कथन है कि वह अपनी पहली स्त्री की स्मृति में रोना चाहता है, परन्तु उसके आँखों से आँसू भी नहीं निकलते। मालूम होता है कि हृदय भाव-हीन हो गया है और जीवन भार

रूप प्रतीत हो रहा है। इस युवक की दुःख-गाथा को कई बार सुना गया इससे उसका विषाद और हृदय की पीड़ा जाती रही। वह हमारे सामने रोया। उससे अपनी भूल के प्रायश्चित्त स्वरूप अनेक भले काम कराये गये। इससे उसका हृदय का रोग और विषाद रोग जाता रहा। उसकी स्मरण शक्ति ठीक हो गई।

कल्पित क्षय रोग का उपचार

आज से एक वर्ष पूर्व लेखक के पास एक पुराना शिष्य जिसकी अवस्था चौबीस वर्ष की है, आया। इसे क्षय रोग हो जाने का भ्रम हो गया था। उसने अपने शरीर की अनेक डाक्टरों से परीक्षा कराई। उसे कुछ-न-कुछ शारीरिक रोग बना ही रहता था। उसे खाँसी और कुछ बुखार भी रहता था। इसके कारण उसने खाने पीने में काफी परहेज प्रारम्भ कर दिया। इनके परिणाम स्वरूप वह शरीर से कृषकाय हो गया। वह ठीक से चल फिर भी नहीं सकता था।

इस युवक ने लेखक के कुछ व्याख्यान शारीरिक रोगों पर सुने थे। अतएव जब कई दिनों के डाक्टरी इलाज से उसे अपने स्वास्थ्य में सुधार होते न दिखाई दिया, तो वह लेखक के पास इस आशा से आया कि सम्भव है कि उसके रोग का कोई मानसिक कारण हो। जब स्वयं रोगी किसी मानसिक चिकित्सक के पास इस उद्देश्य से आता है कि उसके रोग का उपचार किया जाय, तो उसकी चिकित्सा में बड़ी सहूलियत हो जाती है। रोगी का इस प्रकार चिकित्सक के पास आना यह दर्शाता है कि रोगी का आन्तरिक मन अब रोग को छोड़ना चाहता है। उसकी भूल का प्रायश्चित्त हो चुका है। ऐसी अवस्था में रोगी को रोग से मुक्त होने में पूरा सहयोग मिलता है। बिना इस सहयोग के किसी भी रोगी को रोगमुक्त करना असम्भव है। ऐसी अवस्था

में उसके स्वप्न भी स्पष्ट होते हैं और उनमें रोग का मार्ग लक्षित रहता है।

रोगी के मानसिक अध्ययन से पता चला कि वह अपने आप को भाग्यहीन मान बैठा था। उसकी जिम्मेदारियाँ भारी थीं। वह कई परीक्षायें पास कर चुका था। परन्तु उसे उचित आजीविका प्राप्त नहीं हो पाई थी। गाँव के लोग उसके पुरुषार्थ की भर्त्सना करने लगे थे। घर के काम के भार से उसकी स्त्री लद गई थी। कभी-कभी माता और स्त्री में झगड़ा भी हो जाता था। इससे स्त्री बहुत दुखी रहती थी। वह अपने पति की ओर ताकती, परन्तु पति भी लाचार थे। उसकी आमदनी कुछ नहीं के बराबर थी। अतएव स्त्री की मूक भर्त्सना भी उसे सुननी पड़ती थी। जिन लोगों से वह नौकरी दिलाने की आशा करता था उन्होंने कोई सहायता न दी। वह अपने भाग्य को कोसने लगा। जब मनुष्य अपने भाग्य को कोसने लगता है तो उसकी मानसिक दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसका आन्तरिक मन किसी ऐसे रोग का आवाहन करता है जो उसकी इस दयनीय अवस्था पर आवरण डाल सके और जो उसे अपने जीवन की दुरूह जिम्मेदारियों से मुक्त कर सके। रोगी जीवन की जिम्मेदारियों का भार न उठा सकने के लिये अपने आपको नहीं कोसता। उसकी धर्म बुद्धि उसकी भर्त्सना नहीं करती। अतएव उक्त नवयुवक के लिये रोगी होना आवश्यक था। यह उसके अचेतन मन की माँग थी। यदि उक्त युवक रोगी न होता तो उसका मन उसे और अधिक त्रास देता और वह आत्महत्या की ओर अग्रसर हो जाता। कितने ही व्यक्तियों को शारीरिक रोग चाहे कल्पित हों अथवा वास्तविक आत्महत्या की भावना से बचा लेते हैं। अतएव ये रोग प्रकृति की कठोरता के प्रतीक न होकर उसकी दया के प्रतीक हैं।

आज इस नवयुवक का मानसिक सुधार हो चुका है। अब वह एक ट्रेनिंग कालेज में शिक्षा प्राप्त कर रहा है। उसका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। आज वह अपनी आर्थिक अवस्था के लिये अपने आपको दोषी नहीं ठहराता। वह भगोड़ेपन की मनोवृत्ति से मुक्त होकर आज पुरुषार्थवान् बन गया है।

पिछले साल इस नवयुवक ने एक विद्यालय में साल भर तक अवैतनिक कार्य किया। वह अपने काम की कीमत समझने लगा। उसकी पढ़ाई से लड़के बहुत प्रसन्न रहते थे जिससे उसने उन लड़कों के हृदय पर विजय प्राप्त कर ली। उसे अपनी नई शक्ति का बोध हो गया। जिस गाँव में अनेक लोग उसकी निंदा करते थे उसी गाँव में उसके अनेक प्रशंसक पैदा हो गये। वह समाजवादी दल का एक प्रमुख संगठन-कर्ता बन गया। उसकी सचाई के कारण संस्था की भी प्रतिष्ठा बढ़ गई। वह गाँव के सुधार के काम में अब हाथ बटाने लगा। वह जानता है कि यदि वह अधिक पैसा पाने वाले लोगों के समान जीवन की सुविधायें प्राप्त नहीं कर पाता, तो दूसरे धनी लोगों के समान निकम्मा नहीं है। समाज की सेवा करना सभी के हाथ में है। दूसरे प्रत्येक व्यक्ति समाज का सम्मान प्राप्त कर लेता है। यह उसके जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है। वह आज आशावादी है और उसका क्षय रोग अब उससे कोसों दूर हो गया है।

लेखक की चिकित्सा में आये अनेक रोगियों की जीवनी के अध्ययनों से पता चलता है कि अधिकतर उनका रोग उनकी मानसिक व्याधि का आवरण मात्र होता है। जो लोग अपनी मानसिक झंझट को सुलझाने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं, उन्हें शारीरिक रोग भी देर तक नहीं सताते। इसके लिये मनुष्य को अपने दृष्टि-

कोण को परिवर्तित करना पड़ता है। यह दृष्टिकोण का परिवर्तन होना एक बड़े भाग्य की घटना है। मनुष्य अनेक प्रकार का कष्ट उठाने के पश्चात् ही अपने दृष्टिकोण का परिवर्तन करता है। स्वयं रोग उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने में सहायक होता है।

स्मरण-शक्ति का सुधार

जब किसी व्यक्ति के मन में प्रबल मानसिक द्वन्द्व हो जाता है तो वह पहले अपनी नींद खो देता है। उसे भारी थकावट हो जाती है। इसके कारण वह अपना चित्त किसी काम में नहीं लगा पाता। यह मनोदशा देर तक रहने पर उसकी स्मरणशक्ति नष्ट होने लगती है। कभी-कभी ऐसी अवस्था में उसे शारीरिक रोग हो जाता है। इस प्रकार की मनोदशा से कितने ही विद्यार्थियों को गुजरना पड़ता है। उनके अन्तर्द्वन्द्व का कारण या तो आदर्शों के प्रतिकूल आचरण होता है अथवा आत्म-सम्मान को ठेस लगना। हाल में ही कुछ ऐसे रोगियों का हमें उपचार करना पड़ा। उनके उपचार का वृत्तांत यहां उल्लेखनीय है।

आज से कुछ दिन पूर्व इन्टर कक्षा का एक विद्यार्थी जिसकी उम्र १६ वर्ष की थी, अपने चित्त की एकाग्रता की कमी की व्याधि लेकर आया। यह विद्यार्थी सदा प्रथम श्रेणी में पास होता रहा। अपने स्कूल में वह कक्षा में सर्व प्रथम रहा। पिता ने आन्ध्रप्रान्त से उसे काशी विश्वविद्यालय इसलिये भेजा कि वह प्रथम श्रेणी में पास होने पर सरलता से इञ्जीनियरिंग कालेज में भरती हो सकेगा। उसने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में ही पास की। अब दूसरी साल वह बहुत परिश्रम करता था। परीक्षा का समय समीप आया, परन्तु उसने अचानक चित्त

की एकाग्रता खो दी। उसे परीक्षा में फेल हो जाने की कल्पना इतना त्रास देने लगी कि वह मृत्यु तक का आवाहन करने लगा। उसकी नींद जाती रही। वह रात भर जगता और पुस्तक पढ़ने का प्रयत्न करता, परन्तु वह पुस्तक के वाक्यों का अर्थ ही न समझ पाता। उसकी भूख भग गई और भय के मारे वह पीला पड़ गया।

मनोविज्ञानशाला में आने पर उसकी मानसिक स्थिति का अध्ययन किया गया। उसके मन की सभी बातों को सहानुभूति-पूर्वक सुना गया। उसकी कामवासना-सम्बन्धी और प्रेम-संबंधी सभी बातों का अध्ययन किया गया। उसका जीवन बड़ा ही पवित्र था। परन्तु उसके जीवन में प्रेम की कमी थी। स्वप्नों का अध्ययन करने से पता चला कि वह अपनी ही कक्षा में एक मित्र के व्यवहार से दुखी हो गया था। वह अपने स्वप्न में दूसरे लोगों द्वारा पीछा किया जाना और उनसे बचने की चेष्टा करना अकसर देखता था।

इस व्यक्ति से शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया। इस पर उसे नींद आ गई। इससे यह निश्चित हो गया कि वह स्वास्थ्यलाभ शीघ्र ही कर लेगा। उसे बताया गया कि वह इस अभ्यास को प्रतिदिन करे। इसके अतिरिक्त उसे मैत्री-भावना का अभ्यास करने को कहा गया। उसे बताया गया कि वह अपने से छोटी कक्षा के किसी विद्यार्थी को पढ़ाने लगे। वह अपने मित्रों को चाय-पानी पिलाए। सोते समय सभी मित्रों के प्रति शुभ कामना के भाव भेजे।

दो दिन के पश्चात् इस विद्यार्थी ने बताया कि वह अपने एक पुराने साथी के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास नहीं कर पा रहा है। वह साथी बड़ा ही स्वार्थी है। वह उसे सदा

चिढ़ाने की चेष्टा करता है। हाल ही की बात है कि उसने एक पत्र लिखने के पैड के ऊपर, जिसे इस विद्यार्थी ने अपने एक दूसरे मित्र को उपहार में दे दिया था, एक व्यंग चित्र बनाया। इस चित्र में इस विद्यार्थी और उसके मित्र को बेडमिंटन खेलते हुए दिखाया गया था। उसके नीचे लिखा था Badminton is an indoor game अर्थात् बेडमिंटन घर के भीतर खेलने का खेल है। इस बात को पढ़कर इसे बड़ा क्रोध आया।

इस विद्यार्थी को बताया गया कि चिढ़ानेवाला उक्त व्यक्ति उसे हृदय से प्यार करता है। वह केवल इस बात का ईर्ष्यालु है कि वह दूसरे मित्र को अधिक प्यार करने लगा है। उसका व्यंग चित्र बनाना ही इस बात का द्योतक है कि वह उसे हृदय से प्यार करता है, अन्यथा वह उस चित्र को बनाने में इतना परिश्रम क्यों करता। उसने आपत्ति की कि यदि वह उक्त मित्र के प्रति भला व्यवहार भी करेगा, तो वह उसकी खिल्ली उड़ावेगा, और उसका मन इस विद्यार्थी के प्रति नहीं बदलेगा। उसकी आपत्ति के उत्तर में उससे कहा गया कि तुम अपने प्रेम के विचारों को भेजते जाओ। ये विचार रेडिओ की लहरों के समान दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में टकराते हैं और उसके अनजाने ही उसके स्वभाव में परिवर्तन कर देते हैं। जो व्यक्ति इस बात में जितना अधिक विश्वास करता है, वह उतना ही अधिक अपने विचारों का बल बढ़ा लेता है। फिर दूसरे लोग उसी प्रकार सोचने और आचरण करने लगते हैं जिस प्रकार वह चाहता है।

उक्त विद्यार्थी के मन में यह बात बैठ गई और रात को सोते समय उसने मित्र के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास किया। उसने उसी रात एक स्वप्न देखा। उस स्वप्न में उसने देखा

कि उसके घर पर उक्त मित्र आया है। घर पर कोई उत्सव है और दावत दी गई है। दावत में उसका मित्र शामिल है। वह स्वयं परोस रहा है। उसकी नींद खुल गई। वह फिर नहीं सो सका। वह विस्मयपूर्वक भाव से इस घटना को सोचते रहा। सवेरे ६ बजे ही उसका उक्त मित्र वास्तव में उसके घर आया और उसने उससे गणित की एक पुस्तक माँगी। यह देखकर उसे आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह मित्र दूसरे लोगों से भी उस पुस्तक को प्राप्त कर सकता था। वह अपने अभिमान को इस प्रकार खोकर उसके पास आ जावेगा, इसकी कल्पना वह नहीं करता था। इसके बाद दोनों मित्रों की घनिष्ठता बढ़ती गई और फिर विद्यार्थी का मन पढ़ाई में खूब लगने लगा।

———

प्रकरण १५

मानसिक थकावट का निवारण

मानसिक थकावट का कारण

किसी प्रकार के परिश्रम से मनुष्य को थकावट होती है। थकावट का अनुभव होना शक्ति के ह्रास का सूचक है। जब मनुष्य अधिक शारीरिक परिश्रम करता है तो उसे शारीरिक थकावट होती है और जब अधिक मानसिक परिश्रम करता है तो उसे मानसिक थकावट होती है। अधिक शारीरिक परिश्रम से मानसिक थकावट भी होती है और अधिक मानसिक परिश्रम से शारीरिक थकावट हो जाती है। जब मनुष्य शारीरिक कार्य करता है तो शरीर के कुछ अणु ध्वस्त हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जाने से दो प्रकार की हानि होती है। एक तो शरीर के एक हिस्से का विनाश होना और दूसरे ध्वस्त भाग का जहर के रूप में परिणत हो जाना। आराम के समय नये हिस्सों की पूर्ति हो जाती है और पुराने अवयवों से उत्पन्न जहर दूर हो जाता है। जब मनुष्य लगातार परिश्रम करता जाता है तो उसकी शक्ति कम होती है परन्तु उसकी पूर्ति नहीं होती। ऐसी अवस्था में मनुष्य रोगी बन जाता है।

मानसिक थकावट का कारण केवल परिश्रम नहीं होता। यदि मानसिक थकावट का करण परिश्रम होता तो संसार में सभी लोग एक ही बराबर उन्नति कर पाते। किन्हीं दो मनुष्यों के बीच शारीरिक बल की अधिक असमानता नहीं रहती। एक

मनुष्य से दूसरा दुगना अथवा तिगना शारीरिक बल रख सकता है, परन्तु एक मनुष्य से दूसरे में सैकड़ों गुना मानसिक बल होता है। जितना शारीरिक कार्य एक मनुष्य कर सकता है उससे कुछ ही अधिक दूसरा मनुष्य शारीरिक कार्य कर सकता है; परन्तु मानसिक कार्य एक मनुष्य की अपेक्षा दूसरा सैकड़ों गुना विना थकावट के कर सकता है। इसका कारण क्या है? इतना परिश्रम कर के भी मनस्वी लोगों को मानसिक थकावट क्यों नहीं होती?

इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिये मन की शक्ति के गुप्त स्रोत जानना और उसके ह्रास के गुप्त कारणों को जानना आवश्यक है। मनुष्य की शक्ति का गुप्त स्रोत मनुष्य के आवेग हैं। यही मनुष्य की रुचियों के कारण होते हैं। जो काम जिस मनुष्य को प्रिय होता है उसके करने में उसे शीघ्रता से थकावट नहीं होती। जैसे-जैसे काम करने से शक्ति खर्च होती जाती है, नई शक्ति मनुष्य को मिलती जाती है। काम में सफलता मनुष्य के मन में प्रसन्नता उत्पन्न करती है और यही प्रसन्नता नई शक्ति को उत्पन्न कर देती है। जिस मनुष्य की प्रसन्नता जितनी अधिक होती है उसकी काम करने की शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। प्रसन्नता उस कार्य से होती है जिससे मनुष्य अपनी किसी प्रकार की पूर्णता का अनुभव करे। किसी प्रकार की अपूर्णता का अनुभव दुःख-जनक होता है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। मनुष्य की मानसिक शक्ति का मूल स्रोत उसका उत्साह और कल्पनायें हैं। आशा और उत्साह कल्पनातीत शक्ति उत्पन्न कर देते हैं इसके प्रतिकूल निराशा और भय मन की सारी शक्ति को क्षण भर में समाप्त कर देते हैं।

मनुष्य को जितनी थकावट चिन्ता से आती है उतनी

कठिन से कठिन काम करने से नहीं आती। काम के पूरे होने पर जो आत्म-प्रसाद मनुष्य को होता है, उससे उसकी खोई शक्ति फिर से पूरी हो जाती है। इतना ही नहीं उसमें और भी वृद्धि हो जाती है। जब मनुष्य देखता है कि उससे अधिक महत्त्व का काम कुछ भी नहीं हुआ तो उसे भारी मानसिक क्लेश होता है। यह क्लेश मानसिक शक्ति का विनाशक है। चिन्ता भययुक्त चिन्तन है। जब मनुष्य के भय का भाव दब जाता है तो वह चिन्ता का रूप धारण कर लेता है। अतएव चिन्तायुक्त विचारों का वही परिणाम होता है जो भय का परिणाम होता है। भय के भाव से जब मनुष्य भर जाता है तो वह दो-चार दिन में ही बूढ़ा हो जाता है। एनीविसेन्ट के पिता एक भारी संकट में पड़ गये थे। उनके सभी बाल एक ही दिन में सफेद हो गये। इसी प्रकार जिन लोगों को मृत्यु का भय हो जाता है वे इस भय के कारण सफेद बाल के हो जाते हैं। फाँसी की सजा सुन लेने पर कई कैदियों के बाल सफेद हो जाते हैं।

कितने ही लोग थोड़ा ही काम करने पर थक जाते हैं। इसका कारण उनका अपने काम को प्रिय न मानना है। जब हम किसी काम को भार रूप मानकर करते हैं तो वह शीघ्र ही थका देता है। जिन लोगों के जीवन के आदर्श निम्नकोटि के होते हैं वे थोड़े ही काम से शीघ्रता से थक जाते हैं। बालक गण दिन भर खेलते हुए भीं नहीं थकते। वे पढ़ने-लिखने के काम से शीघ्र ही थक जाते हैं। इसका कारण खेलने में आनंद की अनुभूति का होना और पढ़ने-लिखने में आनंद की अनुभूति न होना है। यदि कोई व्यक्ति अपने काम को उसी आत्म-स्फूर्ति के साथ और आनन्द के साथ करे, जिस आत्म-स्फूर्ति और

आनंद से बालक अपना खेल खेलता है तो वह कई घंटे काम करके भी न थके। थार्नडायक महाशय ने थकावट पर एक जापानी महिला पर प्रयोग किया। उसमें चौदह घंटे काम करने पर भी थकावट के होने के कोई चिन्ह नहीं थे। इससे बहुत कुछ स्पष्ट होता है कि मनुष्य का काम उसे नहीं थकाता वरन् काम में रुचि का अभाव ही मनुष्य को थकाता है।

कहा जाता है कि काम से मनुष्य थकता है और आराम अथवा निद्रा से वह शक्ति-सम्पन्न होता अथवा हरा-भरा होता है। परन्तु यह कथन सब समय सत्य नहीं होता। कितने ही लोग बिना काम के ही अधिक थकते हैं। काम का अभाव उनमें अनेक प्रकार के दुश्चिन्तन को उत्पन्न कर देता है। वे अपने आप की भर्त्सना करने लगते हैं। इससे वे हरे-भरे न बनकर बीमार हो जाते हैं। देखा गया है कि सरकारी नौकर पेन्शन पाकर उसका उपभोग बहुत दिन तक नहीं कर पाते। वे पेन्शन पाने पर रोगग्रस्त हो जाते हैं और शीघ्र ही कालके कवल बन जाते हैं। निकम्मा मन शैतान की प्रयोगशाला होता है। अतएव जब मनुष्य को कोई रचनात्मक काम नहीं रहता तो वह दूसरों की बुराइयाँ ही सोचा करता है। जब इस ओर मन को काफी चारा नहीं मिलता तो वह अपनी भर्त्सना ही करने लगता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के रोग निकम्मे व्यक्ति को पकड़ लेते हैं। यदि ये लोग समाज की सच्ची सेवा में लग जावें, छोटे बच्चों की शिक्षा में अपना मन लगावें तो वे बहुत दिन तक स्वस्थ बने रहें। इससे उनका और समाज दोनों का ही कल्याण हो।

जिस प्रकार आराम सभी लोगों को हरा-भरा नहीं बनाता, इसी प्रकार निद्रा भी सभी लोगों को थकावट से मुक्त नहीं

करती। कितने ही लोग कई घंटे सोते हैं पर जब वे सोकर उठते हैं तो अपने आपको थका ही पाते हैं। सोकर उठने पर उन्हें ज्ञात होता है मानों वे किसी प्रकार के मल्लयुद्ध में लगे थे और उससे थक कर उठ रहे हैं। जिन लोगों के मन में अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है वे सोने पर आराम का अनुभव न कर थक कर ही उठते हैं। लेखक के एक मित्र बारह घंटे सोकर भी थके-मादे उठते थे। उन्हें घर से बाहर जाने की इच्छा ही नहीं होती थी। प्रत्येक कार्य उन्हें भाररूप दिखाई देता था। सभी दुनियाँ निराशा से भरी दिखाई देती थी। जो लोग चिन्ता करते हुए सोते हैं वे भी थककर उठते हैं। सोने से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिये आवश्यक है कि सोने के पूर्व मनुष्य अपनी सभी चिन्ताओं को दूर कर दे और भले विचार लेकर सोवे। न्यूरेसथेनिया का रोगी सोता है पर थका रहता है।

थकावट से बचने के चार उपाय

थकावट से बचने के निम्नलिखित चार सरल उपाय हैं जिनका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को लाभकारी होता है।

(१) अपनी अचेतन भावनाओं का ज्ञान करना और उनके अनुसार अपने जीवन को बनाना।

(२) अपने आपको रचनात्मक कार्य में लगाये रखना।

(३) समय समय पर शैथिलीकरण का अभ्यास करना।

(४) आत्म-निर्देश द्वारा थकावट को हटादेना।

जिस मनुष्य को अपनी अचेतन भावनाओं का जितना अधिक ज्ञान रहता है वह उन्हें उतना ही अधिक अपने काबू में रख सकता है।

वह मानसिक द्वन्द्व में खर्च होने वाली शक्ति को संचित करने में समर्थ होता है। काम करने में जो शक्ति खर्च होती है उससे कहीं अधिक शक्ति व्यर्थ के मानसिक संघर्ष में खर्च होती है। जो व्यक्ति इस शक्ति का संचय कर सकता है वह संसार के महान् कार्यों को करने में भी समर्थ होता है। मानसिक शक्ति के एकमुखी होने में ही मनुष्य के व्यक्तित्व का बल निहित है। परन्तु मानसिक शक्तियों का ज्ञान हुए बिना उनको एकमुखी बना सकना भी अत्यन्त कठिन है। कितने ही लोगों की नैतिकता अथवा समाज में प्रतिष्ठा का भाव उनकी अन्य वासनाओं को इतना दवाये रखता है कि इस दवाव में ही उनके व्यक्तित्व का सभी वल खर्च हो जाता है और वे संसार में कुछ भी काम करने में समर्थ नहीं होते। कभी-कभी दो प्राकृतिक इच्छाओं का निरोध भी मानसिक शक्ति को खा जाता है। इन विरोधों को मिटाना संसार में उपयोगी कार्य करने के लिये नितांत आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने आप को जानने में अधिक समय देता है वह अपने आन्तरिक विरोध को समाप्ति करने में भी समर्थ होता है। ऐसा ही व्यक्ति मौलिक कार्य करने में समर्थ होता है।

अचेतन मन का ज्ञान न केवल भावनाओं के आपसी विरोध मिटाने के लिये आवश्यक है वरन् अचेतन मन की अनन्त शक्ति को जानने के लिये भी आवश्यक है। मनुष्य अपने वल का ज्ञान न रखने के कारण ही अपने आप को दुःखी बनाये रखता है। जिस प्रकार लाखों असर्फियों का मालिक सेठ का वेटा अपने पिता की सम्पत्ति का ज्ञान न रखने के कारण गरीवी से रहता है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने अचेतन मन में उपस्थित शक्ति का ज्ञान न होने के कारण थोड़ा काम करने पर ही थक जाता है। उसकी वहुत सी शक्ति भय,

संशय और चिन्ताओं में ही खर्च हो जाती है। अचेतन मन की शक्ति का ज्ञान होने पर ये सरलता से नष्ट हो जाते हैं।

मानसिक थकावट को मिटाने का दूसरा उपाय अपने आप को सदा रचनात्मक कार्य में लगाये रखना है। रचनात्मक कार्य वह है जिसे किसी व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से नहीं किया जाता, जिसका हेतु समाज का कल्याण होता है। रचनात्मक कार्य से मनुष्य को रचनात्नक आनन्द की अनुभूति होती है और इस आनन्द की थोड़ी सी भी अनुभूति मानसिक थकावट का निराकरण क्षण में कर देती है। रचनात्मक कार्यों में मनुष्य अपनी शक्ति को पहचानता है। प्रत्येक मनुष्य में विशेष प्रकार की योग्यता होती है। जबतक कोई मनुष्य अपनी इस विशेष योग्यता को प्रदर्शित नहीं करता और संसार को अपनी विशेष विभूति से उपकृत नहीं कराता वह आत्म-प्रसाद का अनुभव नहीं करता। हम संसार में दूसरों जैसा बनकर आत्मगौरव का अनुभव नहीं कर सकते। हमें अपने जैसा बनना ही श्रेयस्कर है। दूसरों की नकल करने में मनुष्य अपनी प्रतिभा को खोदेता है। उसकी गुलाम की मनोवृत्ति उसके मानसिक शक्ति को दबाकर उसका विनाश कर देती है। गुलाम मनोवृत्ति के मनुष्य को न तो अधिक मानसिक शक्ति की आवश्यकता है और न प्रकृति उसे अधिक शक्ति देती है। अतएव जो व्यक्ति किसी काम को नये ढंग से करता है अथवा किसी नई रचना अथवा खोज में अपने आप को लगाता है वह मानसिक थकावट से बचा रहता है।

संसार का सबसे ऊँचा कार्य पैसे कमाने की मनोवृत्ति से नहीं हुआ है। सबसे ऊँची कविता, कला, साहित्य आदि स्वान्तःसुखाय की मनोवृत्ति से हुए हैं। इसी प्रकार विज्ञान

के ऊँचे ऊँचे आविष्कार व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से नहीं हुए, वरन् समाज-भावना से प्रेरणा पाकर हुए हैं। मनुष्य जब रचनात्मक कार्य में पूरे मन से लग जाता है तब उपयोगिता की मनोवृत्ति उससे दूर छूट जाती है। वह काम के लिये ही काम करने लगता है। वह तब सच्चा कर्मयोगी बनजाता है और ऐसी स्थिति में उसकी मानसिक शक्ति अपार हो जाती है।

समय-समय पर शैथिलीकरण का अभ्यास करना भी मानसिक थकावट के निराकरण के लिये लाभकारी होता है। शैथिलीकरण की अवस्था में यह आवश्यक है कि मनुष्य केवल शरीर से ही शान्त न हो, वरन् मन से भी शान्त हो। इसके लिये विशेष प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। जो लोग शरीर से तो स्थिर हो जाते हैं और मन को चलायमान बनाये रखते हैं वे शैथिलीकरण से मानसिक आराम का अनुभव नहीं करते हैं। ऐसी अवस्था में किसी एक काम में अपने आपको लगाये रखना ही मानसिक शैथिलीकरण का सर्वोत्तम उपाय होगा। कहा जाता है मनुष्य को अपना समय खेल, काम, प्रेम और प्रार्थना, इन चार बातों में बराबर बराबर बाँट देना चाहिये। यह सलाह बड़ी उपयोगी है। सदा काम करते रहना उसी प्रकार हानिकारक है जिस प्रकार सब समय काम से जी चुराना हानिकारक है। इसी प्रकार प्रेम और प्रार्थना को भी उचित समय देना मानसिक थकावट को रोकने के लिये आवश्यक है। जिस मनुष्य का जीवन संतुलित है वही संसार का उपयोगी व्यक्ति बनता है।

मानसिक थकावट को रोकने का सबसे महत्त्व का और सबसे कम काम में लाया गया उपाय आत्म-निर्देश का अभ्यास है। जो लोग सोचते हैं कि उनका मन चैतन्य अणु है और

यदि जड़ अणु में इतनी शक्ति है कि उसके विस्फोट से एक बड़ा शहर उड़ जाता है तो चैतन्य अणु क्या नहीं कर सकता, वे बहुत काम करने पर भी थकावट की अनुभूति नहीं करते। निकम्मेलोग ही कहा करते हैं कि वे काम करते-करते थक गये। अधिक काम करने वाले लोगों को अधिक फुरसत भी मिलती है। महाराज अशोक ने अपने मंत्रियों को कहा था कि उन्हें जनता की सेवा करने का पर्याप्त मौका नहीं मिलता। वे चाहते थे कि वे सदा ही जनता की सेवा करते रहें। अतएव उन्होंने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे चाहे जहाँ हों और चाहे जो कुछ कर रहे हों, जब कभी जनता उनकी सेवा की याचना करे तो वे तुरन्त ही बुलाये जायँ। सदा जनता की सेवा करने पर ही उन्हें संतोष होगा। उन्होंने अपनी यह आज्ञा शिलालेखों में अंकित कर दी ताकि आगे आने वाले राजा भी इसी प्रकार अपनी प्रजा की सेवा करें।

यहाँ हम देखते हैं कि महाराज अशोक का आत्म-निर्देश उन्हें किसी काम से थकने नहीं देता था। इसीप्रकार जूलियस सीज़र, नेपोलियन, लेनिन आदि नेता दिन रात काम करते रहते थे, परन्तु थकावट की अनुभूति नहीं करते थे। यदि उनका पतन हुआ तो अपने काम की थकावट से नहीं, वरन् उनके अभिमान की वृद्धि के कारण। अभिमान आने पर मनुष्य अपना आत्म-विश्वास खो देता है। फिर उसकी आत्म-निर्देश की शक्ति नष्ट हो जाती है। इससे उसके मन में अनेक संदेह आने लगते हैं और फिर उसका विनाश हो जाता है।

मानसिक थकावट और मानसिक रोग

फ्रांस के सुविख्यात मानसिक चिकित्सक एने के अनुसार सभी प्रकार के मानसिक रोगों का कारण मानसिक थकावट ही

है। मानसिक थकावट की अनुभूति मानसिक शक्ति के अपव्यय से होती है। मानसिक रोगी शक्ति-हीनता की अनुभूति करता है और स्वस्थ पुरुष शक्तिसंचय की। सभी प्रकार के मानसिक रोग मानसिक संगठन की शिथिलता के परिणाम हैं। जिस प्रकार जब किसी राज्य का संगठन दुर्बल हो जाता है तब उसके भीतर रहनेवाले असंतुष्ट तत्व खुलकर राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने लगते हैं अथवा बाहरी शत्रुओं को राज्य पर आक्रमण के लिये आमन्त्रित करते हैं, उसी प्रकार जब मनुष्य के व्यक्तित्व का संगठन दुर्बल हो जाता है, तभी अनेक प्रकार की असंतुष्ट वासनायें रोग का रूप धारण कर प्रकट होती हैं और बाहर से भी अनेक प्रकार की विपत्तियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व पर आती हैं। अतएव एने के अनुसार स्वास्थ्य-रक्षा का एकमात्र उपाय अपने मानसिक संगठन को दृढ़ बनाये रखना है। यदि मानव-व्यक्तित्व में शक्ति है तो उसे कोई भी रोग—चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, नहीं होता।

मनुष्य के व्यक्तित्व की शक्ति अथवा उसका संगठन क्यों कम होता है? इस प्रश्न के उत्तर में एने महोदय ने बताया है कि इसका कारण उचित आहार की कमी, शारीरिक रोग की उपस्थिति और चिन्तायें हैं। देखा गया है कि मानसिक रोग शारीरिक रोगों के बाद अचानक प्रकट हो जाते हैं, अथवा किसी बाहरी चिन्ता में फँस जाने से मनुष्य जब अपनी मानसिक शक्ति खो देता है तब उसे मानसिक रोग हो जाते हैं। टायफायड या चेचक के बाद मानसिक रोग प्रायः पैदा हो जाते हैं। परीक्षा के विषय में अधिक चिन्तित रहने से अथवा परीक्षा के लिये अत्यधिक परिश्रम करने से जब विद्यार्थी बेहद थक जाता है तब उसे मानसिक रोग हो जाता है।

डा० फ्रायड ने रोग के उपर्युक्त कारण को अधूरा बताया। मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य को थकावट की अनुभूति अवश्य होती है, परन्तु इस थकावट का कारण प्रधानतः बाहर नहीं अपितु भीतर होता है। बाहरी चिन्ता और शारीरिक रोग मनुष्य को तभी परेशान करते हैं, जब वे भीतरी मानसिक असंतोष से अपना बल प्राप्त करते हैं। जब किसी व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था बनी रहती है, तब उसकी मानसिक शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय हो जाता है। मनुष्य की शक्ति एकमुखी होने से अपार काम कर सकती है। यही शक्ति जब बहुमुखी अथवा पारस्परिक विरोधी धाराओं में प्रवाहित होने लगती है, तब वह नगण्य हो जाती है। मनुष्य के व्यक्तित्व की दृढ़ता इन आन्तरिक शक्तियों के सहयोग से ही उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति के अन्तर्मन में द्वन्द्व की अवस्था रहती है, तभी मानव-व्यक्तित्व दुर्बल हो जाता है। जो मानसिक शक्ति, प्रतिकूल हो जाने पर रोग के रूप में प्रकट होती है, वही अनुकूल होने पर मनुष्य के व्यक्तित्व को अपार बल देती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मानसिक शक्ति की वृद्धि के लिये आहार में सुधार, काम की कमी, शारीरिक स्वास्थ्य सुधार आदि उपाय, जिन्हें अन्यथा ठीक समझा जाता है, पर्याप्त उपाय नहीं है, वरन् अन्तर्द्वन्द्व को मिटाना ही प्रधान उपाय है। मानसिक थकावट का निराकरण इसी से होता है।

न्यूरोस्थेनिया के रोग में रोगी रात भर सोता है परन्तु उठने पर वह थकावट की अनुभूति करता है। वह काफी भोजन करता है और फिर भी भूख की शिकायत करता है। उसे एक जगह बैठने में चैन नहीं मिलती। वह किसी भी काम को देर तक नहीं कर पाता। सभी काम में उसकी

अरुचि रहती है। उसे कोई शारीरिक रोग नहीं रहता परन्तु जिस रोग का भी वह नाम सुनले उसी के हो जाने की उसे आशंका होती है इसलिये न्यूरोस्थेनिया का रोगी प्रायः रोग के उपचार पर कोई पुस्तक ही नहीं पढ़ता। उसे इन पुस्तकों से डर लगता है। न्यूरोस्थेनिया एक ऐसा रोग है जिसमें स्नायुओं का बेहद दौर्बल्य हो जाता है और चिन्तन काबू में नहीं रहता। इस रोग का कारण बाहरी बीमारी नहीं रहती वरन् आन्तरिक संघर्ष रहता है। इस रोग की उपस्थिति देर तक रहने वाली आत्मभर्त्सना से होती है, जिसकी स्मृति भी मनुष्य भुला देना चाहता है। रोगी नहीं जानता है कि उसके भीतरी मन में आत्मग्लानि के भाव हैं। अज्ञात, अर्थात् अचेतन मन में उपस्थित आत्मग्लानि के भाव उसकी मानसिक शक्ति को समाप्त कर देते हैं। जब ये व्यक्ति के अचेतन मन से चेतन मन में आते हैं, तब वे सहज में ही सुलझ जाते हैं। इससे मानसिक संघर्ष समाप्त हो जाता है और मनुष्य की मानसिक शक्ति का संचय होने लगता है। इस शक्ति का संचित होना ही स्वास्थ्य-लाभ है।

मानसिक थकावट का निराकरण

मानसिक थकावट का निराकरण मानसिक संघर्ष की समाप्ति से होता है। मानसिक संघर्ष को समाप्त करना सरल कार्य नहीं है। यह संघर्ष मनुष्य के चेतन मन में जब तक चलता है, तब तक उसको सुलझा लेना उसके पुरुषार्थ के भीतर की बात रहती है, परन्तु सामान्यतः इस संघर्ष को भुलाने की चेष्टा ही मनुष्य करता है। मानसिक संघर्ष की मनोस्थिति बड़ी ही दुःखद होती है; अतएव उसे चेतना की सतह के नीचे दबा दिया जाता है। फिर वह मानव-मन के भीतरी भाग में चलने लगता है।

इससे मानसिक शक्ति का अपव्यय पहले से भी अधिक होता है। दूसरे अब मनुष्य के पुरुषार्थ की बात नहीं रहती कि वह इस संघर्ष को रोक सके। जब तक उसे फिर से चेतन मन पर न लाया जाय वह समाप्त नहीं होगा और वह सदा रोग के रूप में प्रकट होता रहता है। मैत्री भावना और शैथिलीकरण का अभ्यास, जिनकी चर्चा हम पहले कर आये हैं, इन दबे संघर्षों को ऊपर लाने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। संघर्ष की समाप्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवन की संपूर्ण समस्याओं के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करे। हमारी बहुत सी समस्यायें इसलिये समस्यायें बनी हुई हैं कि ठीक और गलत के विषय में हमारी मान्यतायें ही उचित नहीं हैं। हम कभी-कभी अपने आप को ऐसी बातों के लिये भी कोसते हैं जिनके लिये कोसना आवश्यक ही नहीं। जब मनुष्य का विवेक जागृत होता है, तब वह अपनी सभी समस्याओं के प्रति साक्षी भाव को अपना लेता है फिर उसकी सभी समस्यायें सरलता से हल हो जाया करती हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मानसिक थकावट के निवारण के लिये जितनी आराम, उचित आहार और नींद की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक उचित ज्ञान की तथा भावनाओं में परिवर्तन की आवश्यकता है। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य के जीवन में नये मूल्यों का निर्माण होता है और इन मूल्यों की उपस्थिति की अनुभूति जब व्यक्ति अपने मन में करता है तब वह अपार शक्ति और स्फूर्ति का भी अनुभव करता है।

प्रकरण १६

जटिल बालकों का सुधार

मानसिक रोगी और जटिल बालक में समानता

पिछले प्रकरण में अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों के सफल उपचार की चर्चा की गई है। इस प्रकार के उपचार की आधारशिला रोगी के प्रति सहानुभूति और स्नेह के भाव का रहना है। प्रत्येक रोगी भीतरी मन से स्वयं से घृणा करता है। वह समाज के दूसरे लोगों के प्रति भी घृणा के भाव रखता है जिन्हें वह शिष्टाचार के आवरण में दबाये रखता है। रोगी में आत्म-विश्वास का अभाव रहता है। वह आत्महीनता के भाव से पीड़ित रहता है। वह दूसरों से सहानुभूति खोजता है, परन्तु उसे कुछ नहीं मिलता।

जो मनोदशा प्रौढ़ मानसिक रोगी के भीतरी मन की रहती है वही जटिल बालक के बाहरी मन की रहती है। प्रौढ़ व्यक्ति बाहरी आवरण से अपने भीतरी मनोभावों को छिपाये रखता है, फिर ये मनोभाव मानसिक अथवा शारीरिक रोगों में फूटकर निकलते हैं। रोग सांकेतिक रूप से दबे मनोभावों को प्रकट करता है। जटिल बालक में अपने मनोभावों पर आवरण डालने की क्षमता नहीं रहती, अतएव उसका आचरण वैसा शिष्टाचारी नहीं रहता जैसा प्रौढ़ व्यक्ति का होता है। उसमें स्वाभाविकता रहती है। वह जिन लोगों से दुखी हुआ है उनसे बदला लेना चाहता है; चाहे वे कितने ही नजदीक के सम्बन्धी

क्यों न हों। इस बदला लेने की भावना में नादानी अवश्य है, क्योंकि इससे अन्त में नुकसान उसी का होता है, परन्तु बालमन इन बातों की परवाह नहीं करता। दमित अवांछनीय मनोभाव मानसिक रोग में प्रकट होता है और अदमित अपराधी आचरण में। अपराधी अथवा जटिल बालक अपने बाहरी मन में वैसा ही होता है जैसा मानसिक रोगी अपने भीतरी मन में रहता है। यदि मानसिक रोगी अपनी चिकित्सा स्वयं करना चाहे तो बालमनोविज्ञान के जानने से और बालकों की शिक्षा के कार्य करने लग जाने से उसे भारी लाभ हो। बालक के मन को जानने और उसे रचनात्मक कार्य में लगाने के प्रयत्न से हमें अपने ही मन की विलक्षणता का ज्ञान होता है और हम अपने आपको रचनात्मक कार्य में लगाने में सफल होते हैं। जटिल बालकों के सुधार में अनेक प्रकार के प्रयोग हुए हैं। उनमें डाक्टर होमरलेन के रिफर्मेटरी के अपराधी बालकों के आचरण का प्रयोग सबसे अधिक महत्व का है। इस प्रयोग में जटिल बालक को प्रेम के वातावरण में रखकर, उसे रचनात्मक काम देकर, तथा उसका आत्म-विश्वास बढ़ाकर सुधारा जाता था। यहाँ इसी प्रेम चिकित्सा की प्रणाली पर आधारित हमारे किये गए जटिल बालकों के सुधार के प्रयोग उल्लेखनीय हैं—

जटिल बालक का आचरण

आज से कुछ वर्ष पूर्व हमारे एक मित्र बड़ी परेशानी की अवस्था में हमारे पास आये। उनकी परेशानी का कारण उनके बड़े लड़के का व्यवहार था। यह लड़का स्थानीय स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ता था; वह इस समय अपनी पढ़ाई से बिलकुल उदासीन हो गया था और वह बुरे लड़कों की संगत करने लग गया था। उनके साथ वह घूमता-फिरता और सिनेमा को

जाता था। वह सिगरेट भी पीता था। इसके लिये वह पैसा पिता-माता से नहीं पाता था। अतएव किसी-न-किसी प्रकार घर से चोरी कर लेता था। इसके लिये उसके पिता ने उसे बहुत मारा-पीटा परन्तु उसमें सुधार नहीं हुआ। उसका आचरण और भी जटिल होता गया। पिता लड़के को हमारे पास लाये कि हम उसे सुधार दें। इसके कारण उसका ११ वर्षीय छोटा भाई भी बिगड़ रहा था।

दूसरा एक तेरह वर्षीय लड़का पैर में बेड़ी डाले हुए हमारे यहाँ लाया गया। उसका बड़ा भाई और उसके वृद्ध पिता भी उसके साथ थे। लड़के की अनेक प्रकार की बुरी आदतों की चर्चा की गई। उसमें बुरे लड़कों की संगत करना और सिनेमा देखने की आदत लगी हुई थी। पिता बड़े ही आदर्शवादी व्यक्ति हैं, अतएव इन बातों से उन्हें बड़ी परेशानी हुई। उन्होंने लड़के को बहुत-कुछ समझाया परन्तु इससे कोई लाभ न हुआ। फिर उसे खूब मारा-पीटा। इससे उसने घर से भागने की आदत डाल ली। वह बिना टिकट रेल पर चढ़ जाता और किसी दूर के शहर में किसी दूकानदार के यहाँ नौकरी करके अपनी आजीविका कमाता था। वह कभी-कभी अपने छोटे भाई को भी अपने साथ भगा ले जाता था। एक बार दोनों भाई बिना टिकट के बम्बई-मेल ट्रेन से चल दिये। बीच में इटारसी के पास बड़ा भाई कुछ खाना खरीदने के लिये उतरा और रेल छूट गई। छोटा भाई रेल में ही रह गया। अगली स्टेशन पर वह उतर गया। इधर बड़े भाई ने दूसरी गाड़ी आगे जाने को पकड़ी और अनायास छोटे भाई को स्टेशन पर पा लिया। इस प्रकार दोनों भाई मिल गये, परन्तु दोनों के छूट जाने की भी संभावना थी।

पिता को इन सब बातों को जानकर बड़ा ही दुःख होता था। वे बड़े लड़के को जितना ही पीटते उसकी घर से भागने की इच्छा उतनी ही बलवती होती जाती थी। वह घर से कई बार भाग चुका था। किसी ने सलाह दी कि कुछ दिनों तक उस लड़के को बेड़ी डाल कर रखा जाय, तो उसकी इस प्रकार की आदत चली जायगी। हमें बताया गया कि उसके एक मित्र के लड़के की घर से भागने की आदत इसी प्रकार छूट गई है।

एक तीसरा चौदह वर्ष का बालक हमारे एक मित्र लाये थे। वह सिगरेट पीता, सिनेमा जाता, बुरे लड़कों की संगत करता, चोरी करता और जिस काम से उसे रोका जाता उसी काम को छिपकर करता था। मित्र ने लिखा कि उसमें और भी अनेक बुरी आदतें आ गई हैं और उसका जीवन बड़ा दूषित हो गया है। संभवतः उसमें काम-कुटेवें भी लग गई हों। मित्र बड़े ही आदर्शवादी तथा दृढ़व्रती व्यक्ति हैं और उन्होंने बालक को सुधारने की अनेक प्रकार का यत्न किया—बालक को समझाया-बुझाया, उसे मारा-पीटा, परन्तु उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। अतएव उन्होंने हमसे मनोवैज्ञानिक परामर्श लिया। हमारा यह कर्तव्य होता है कि उक्त प्रकार के सभी बालकों के सुधार के लिये हम कुछ मनोवैज्ञानिक परामर्श सामान्य जनता को दें। हम सभी को थोड़े न थोड़े रूप में ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अतएव इस विषय पर थोड़ा भी विचार करना लाभदायक होगा।

जटिलता का कारण

जटिल बालक अपने अनजाने ही अपने प्रति किये गये अत्याचार का बदला अपने माता-पिता, बड़े भाई, अन्य सम्ब-

न्धियों तथा पूरे समाज से लेता है। वह इस तरह उन लोगों को परेशान किये रहता है। यह भी प्यार प्राप्ति का विकृत मार्ग है। जटिल बालक अपने माता-पिता को दुखी बनाता है। वे उसे भुला नहीं सकते। वह कुछ-न-कुछ समस्यायें उनके सामने उपस्थित किये ही रहता है। जब ऐसे बालक को दण्ड के द्वारा सुधारने की चेष्टा की जाती है, तब उसका मानसिक विकार और भी बढ़ जाता है। फिर दण्ड पाना ही बालक का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। विकृत मनोवृत्ति का बालक माता-पिता से दण्ड पाने के लिये ही कोई न कोई अनुचित बात करते रहता है।

जटिल अथवा उद्दण्ड बालक के जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि स्नेह-हीनता के साथ-साथ उसकी प्रबल सहज-प्रवृत्तियों का कठोरता से दमन हुआ है। ऐसे बहुत से बालकों में आत्म-प्रकाशन तथा काम-प्रवृति का दमन पाया जाता है। जिस बालक की आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति दमित होती है, वह दूसरे बालकों के प्रति ईर्ष्या का भाव मन में रखता है। उसके मन में आत्म-हीनता की भावना रहती है। यह आत्म-हीनता की भावना बालक को ऐसे काम करने की प्रेरणा देती है, जिससे वह अपने को दूसरों से अधिक बली समझ सके। इसके कारण वह दूसरे बालकों को मारता-पीटता और उनकी वस्तुयें चुरा लेता है। विकृत काम-प्रवृत्ति के दमन के कारण भी बहुत से बालकों में उद्दण्डता की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण कितने ही बालकों को चोरी की आदत लग जाती है।

प्रत्येक जटिल व्यक्ति में उसी प्रकार आत्म-विश्वास का अभाव रहता है, जिस प्रकार मानसिक रोगी में आत्म-विश्वास

का अभाव रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको भला सिद्ध करने की चेष्टा करता है। सभी व्यक्तियों में भले बनने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही हम बुरे से बुरे व्यक्ति का सुधार कर सकते हैं। अतएव जितना ही अधिक हम किसी व्यक्ति का अपने आपकी भलाई कर सकने की योग्यता में विश्वास बढ़ाते हैं, उतना ही हम उसे भलाई की ओर ले जाते हैं। यदि किसी बालक में कोई कमजोरी है, तो उसका ढिंढोरा पीटना उसे बिगाड़ने का सबसे बड़ा साधन होता है। जो व्यक्ति बदनाम हो चुका है, उसका सुधरना कठिन होता है। अतएव किसी भी व्यक्ति के सुधारने का पहला कदम यह है कि उसके प्रति स्नेह दिखाकर उसकी भलाइयों के प्रति उसकी दृष्टि ले जाई जाय। इस प्रकार उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है। जो व्यक्ति अपराधी बालक को उसका अपराध जानते हुए भी प्यार करता है, वह बालक का स्नेह-पात्र बन जाता है। फिर वह उस पर विश्वास करने लगता है। फिर यह दूसरे में किया गया विश्वास अपराधी बालक का आत्म-विश्वास बन जाता है।

जो व्यक्ति दूसरों की भलाई में विश्वास करता है, वही अपनी भलाई कर सकने की योग्यता में विश्वास करता है। ऐसे व्यक्ति की इच्छाशक्ति बलवती होती है। उसकी कल्पना रचनात्मक होती है। दूसरे के प्रति किये गये प्रेम से उत्पन्न विश्वास आत्माविश्वास बन जाता है। यही आत्मविश्वास परमात्मा में विश्वास बनता है। इससे मनुष्य की कल्पनायें आशावादी अथवा रचनात्मक हो जाती हैं। इससे इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। आशावादी कल्पना का जब इच्छाशक्ति से संयोग होता है, तो मनुष्य अनेक प्रकार के लोक-कल्याण के कार्य करता

है। उसमें अनेक सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे उसके चरित्र का नवनिर्माण हो जाता है।

अपराधी बालक का सुधार

मनोवैज्ञानिकों ने अपराधी बालक के सुधार के लिये वे ही उपाय बताये हैं, जो मानसिक रोगी के उपचार के लिए बताये हैं। स्नेह का भाव उनमें प्रथम है। दूसरा उपाय बालक का मनोविश्लेषण है। इसके लिये कोई भारी ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं। इसके लिये केवल इतनी ही आवश्यकता है कि हम किसी भी हालत में बालक के प्रति निराशावादी न बनें। उसके मन की हर एक बात को धैर्यपूर्वक सुनें, उसे अपने आपको खोलने का पूरा अवसर दें, और उसे निराशावादी न बनने दें। जैसे-जैसे बालक अपनी पुराने दुःख की गाथा सुनाता है तैसे-तैसे उसके दमित भावों का रेचन होता है। फिर उसमें अपने आपको सम्हालने की शक्ति आ जाती है।

अपराधी बालकों के सुधार के लिये पहली आवश्यकता बालक को सच्चा स्नेह देना है। प्रत्येक सुधारक को चाहिये कि वह बालक के हृदय की बात को जानने की चेष्टा करे। उद्दण्ड बालक के मन में भी कहीं-न-कहीं भलाई बैठी रहती है। वह प्रेम का भूखा रहता है। वह एक प्रकार का मानसिक रोगी है और जिस प्रकार प्रत्येक मानसिक रोगी किसी ऐसे व्यक्ति की हार्दिक खोज में रहता है, जो उसके मन की बात को सुने, उसी प्रकार प्रत्येक उद्दण्ड बालक भी सहानुभूति से सुननेवाले व्यक्ति की खोज में रहता है। अपराधी बालक के मन में यह विश्वास ही नहीं होता कि कोई भी व्यक्ति उससे सहानुभूति दिखा सकता है। यदि ऐसा व्यक्ति उसे मिल जाय, तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जावे।

अपने मन को खोलने की प्रणाली को ही मनोविश्लेषण कहा जाता है। मनोविश्लेषण स्नेह के वातावरण में सरल हो जाता है। स्नेह के वातावरण में व्यक्ति को मानसिक शैथिली-करण अपने आप ही हो जाता है। ऐसे ही वातावरण में मनुष्य अनायास उन बातों को कह डालता है, जो अन्यथा वह नहीं कहेगा। साधारणतः मनुष्य अपने विचार प्रकाशन के विषय में सतर्क रहता है। यह सतर्कता मूर्छा में, बीमारी में, स्वप्न में और स्नेह की अवस्था में कम हो जाती है। मनो-विश्लेषण में इन सभी अवस्थाओं के भावों को जाना जाता है। इस प्रकार के भाव प्रकाशित करने से मानसिक खिंचाव अपने आप ही कम हो जाता है। अपराधी बालक को सुधारने का यह उपाय डा० विलियम ब्राऊन ने बड़ा ही सफल पाया है। इसके लिये बीस से लेकर तीस घंटे देने पड़ते हैं।

जटिल बालक को सुधारने का दूसरा उपाय निर्देश-विधि का उपयोग है। इसके लिये बालक को बिस्तर पर लिटा देना चाहिये और उसे अपने अङ्गों को शिथिल करने का उसी प्रकार का निर्देश देना चाहिये, जिस प्रकार का निर्देश व्यक्ति को संमोहन करते समय दिया जाता है। उसे आराम से आँख मूँदकर धीरे-धीरे साँस लेने के लिये कहा जाना चाहिये। इतना करने पर अंगों की शिथिलता आ जाती है। फिर जब वह सोने की अवस्था में हो जावे, तो उससे कहना चाहिये कि उसकी इच्छा-शक्ति बलवान हो रही है और वह प्रतिभावान बन रहा है। यह याद रहे कि किसी भी मानसिक कमज़ोरी का इस समय नाम न लिया जाय। निर्देश नकारात्मक नहीं होना चाहिये। उद्दण्ड बालकों में चित्त की एकाग्रता की कमी होती है और उनकी स्मरण-शक्ति कमजोर होती है। प्रतिदिन

की निर्देश-चिकित्सा से इन शक्तियों में सुधार हो जाता है और फिर इस सुधार के कारण बालक का आत्म-विश्वास बढ़ जाता है।

डाक्टर विलियम ब्राऊन ने निर्देश चिकित्सा-विधि को अपराधी बालकों के सुधार में बड़ा ही उपयोगी पाया है। आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक निर्देश चिकित्सा-विधि के स्थायी लाभ पहुँचाने की उपयोगिता में विश्वास नहीं करते। वे न तो इसे मानसिक रोगों की चिकित्सा में उपयोगी मानते हैं और न अपराधियों के सुधार में। परन्तु डाक्टर ब्राऊन इसे दोनों कार्यों के लिये उपयोगी मानते हैं। यह अवश्य ध्यान में रखना होगा कि निर्देश चिकित्सा के पूर्व रोगी का अथवा अपराधी व्यक्ति का मनोविश्लेपण होना भी नितांत आवश्यक है। मनोविश्लेषण से जब ऐसे व्यक्ति के दमित भावों का रेचन हो जाता है और चिकित्सक और जटिल अथवा अपराधी बालक के बीच की दीवार हट जाती है तभी निर्देश चिकित्सा-विधि अपना काम ठीक से करती है। निर्देश चिकित्सा वास्तव में मनुष्य के गहरे सत्त्व को क्रियमाण करती है। वह उसके अचेतन मन में उपस्थित अपार शक्ति को जगा देती है और इसी से जटिल बालक अथवा रोगी का कल्याण हो जाता है।

मनोविश्लेषण और निर्देश के उपयोग के अतिरिक्त बालक को रचनात्मक कार्य में लगाये रखना भी नितान्त आवश्यक है। रचनात्मक कार्य में लगे रहने से मनुष्य का उपयोगी कार्य कर सकने में आत्मविश्वास बढ़ता है। जैसे-जैसे यह आत्म-विश्वास बढ़ता है तैसे-तैसे अपराधी बालक अपने आप सुधरने लगता है। उद्दण्डता और अपराध ध्वंसात्मक मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। ये रचनात्मक प्रवृत्तियों के अभाव में बढ़ जाती हैं। जब

रचनात्मक रूप से बालक की मानसिक शक्ति प्रकाशित होने लगती है, तब ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ अपने आप कम हो जाती हैं।

किशोरावस्था और मानसिक जटिलता

किशोरावस्था जीवन का वसंत माना गया है। यह काल मानसिक जटिलता का भी काल है। बालक में इस काल में एक ओर भावों की प्रबलता रहती है और दूसरी ओर आदर्शों की। बालक के मन में दोनों का संघर्ष होता है। इसी के कारण बालक को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं।

विगत दो माह में हमारे यहाँ ऐसे कुछ किशोर बालक आये, जिनका मन पढ़ाई से ऊब गया था और जो अनेक प्रयास करने पर भी अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर सकते थे। इन बालकों की मनोदशा का अध्ययन करने से पता चला कि उनके घर में प्रेम और प्रोत्साहन का अभाव है। इन सभी बालकों के माता-पिता सुशिक्षित व्यक्ति हैं और उनमें से कुछ के पिता अच्छे विद्यालयों के अध्यापक हैं। वे यह भी जानते हैं कि बालकों को किस प्रकार से रखा जाय ताकि उनका मानसिक-विकास अधिक से अधिक हो। हमने इन बालकों की वेदनायुक्त बातें बहुत धैर्य के साथ सुनीं। उन्होंने अपने सभी भावात्मक अनुभवों को कह सुनाया। फिर इनसे आनापानसति का अभ्यास कराया गया। इससे उनके जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन हुआ।

उपर्युक्त किशोर बालकों में से एक आठवें दर्जे का विद्यार्थी है। यह अपने पिता का इकलौता पुत्र है। इसके पिता एक बड़े विद्वान व्यक्ति हैं, इसकी माता भी विदुषी है। इसकी उम्र अठारह वर्ष की हो चुकी है, परन्तु वह एक मिडिलस्कूल की सातवीं कक्षा में पढ़ रहा है। कभी-कभी बीमार होने के कारण

उसकी पढ़ाई रुक जाती है। शाला में आने पर उसके साथ प्रेम का व्यवहार किया गया और उसे आने के दिन ही आनापानसति (शांतभावना) का अभ्यास कराया गया। इसके परिणाम-स्वरूप यह लड़का दो घण्टे तक सोता रहा। इससे सवेरे शाम दोनों समय यह अभ्यास कराया जाता था और दोनों समय वह दो-दो घण्टे सोया रहता था। सोकर उठने के तुरन्त बाद अपने मन में आई हुई सभी बातों को कहने के लिए उसे प्रोत्साहित किया जाता था। उसने अपनी काम-वासना सम्बन्धी सभी बातों को बताया और यह भी बताया कि उसे वीर्य-स्खलन करने की आदत पड़ गई है। हमने उससे कहा कि यह आदत नहीं है, यह तो एक प्रकार का रोग है। यह रोग उन लोगों को होता है, जो माता-पिता के प्रेम से वंचित रहते हैं। जब यह प्रेम मिलने लगता है तब यह आदत छूट जाती है। उसे यह भी बताया गया कि आनापानसति के अभ्यास से मनुष्य की आत्म-विश्वास और आत्म-नियन्त्रण की शक्ति बढ़ती है। इससे चित्त की एकाग्रता आती है और स्मरण-शक्ति भी बढ़ जाती है। इस बालक ने श्रद्धापूर्वक इस अभ्यास को किया। उसके पिता-माता से भी संपर्क बढ़ाया गया। उन्हें बताया गया कि वे बालक का आदर पहले से अधिक करें। पिता से मालूम हुआ कि बालक की माँ बालक को कभी-कभी अधिक डाँट-फटकार देती है। ऊपर से देखने से यह कभी पता नहीं चलता था कि वह बालक भीतरी मन से दुःखी है। हमसे बिदा होते समय उसने अपने मन में बैठी बहुत सी बातें कहीं। उनमें एक बात थी "जब कभी मुझे माँ डाँटती फटकारती हैं तब मेरा मन करता है कि मैं चलती रेल के सामने पटरी पर लेट कर अपने प्राणान्त

कर दूं।" इस बालक का घर ऐसी जगह पर है जहाँ रेलगाड़ियों की भीड़ रहती है।

एक दूसरा अठारह वर्षीय किशोर बालक यहाँ आया। यह गणित में एम० एस्-सी० की कक्षा में पढ़ रहा था। इस कक्षा का प्रथम वर्ष पूरा करते-करते उसका मस्तिष्क इतना विकृत हुआ कि पढ़ना-लिखना तो दूर रहा, वह जीवन के सामान्य व्यवहार करना भी भूल गया। वह कभी-कभी मृत आत्माओं को अपने सामने देखता था और कभी-कभी ऐसी बातें करता मानों कोई दूसरा ही व्यक्ति उसमें समा गया हो। सौभाग्य की बात है कि मनोविज्ञानशाला में आते ही उसके स्वभाव और बर्ताव में चमत्कारिक परिवर्तन हुआ। उसकी प्रेत-बाधायें बहुत कुछ शान्त हो गईं। इस बालक के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसकी महत्वाकांक्षायें वेहद बढ़ गई थीं। माता-पिता ने इन्हें और प्रोत्साहित किया। इसने बारह साल की अवस्था में ही मैट्रिक पास कर ली। वह अपने बड़े भाइयों से सदा उच्चतर परीक्षाफल दिखाने की चेष्टा करता रहा। पिता भी उसे सदा पढ़ाई में लगाये रहते थे। इन्टर की परीक्षा देते समय तक तो यह सब काम समझ बूझकर करता था, परन्तु बी० एस-सी० में आने पर वह रटकर अभ्यास करने लगा। बी० एस-सी० उसने प्रथम श्रेणी में पास की। एम०एस-सी० में आने पर उसका आत्मविश्वास जाता रहा। अब वह अपने से निराश हो गया। ऐसी अवस्था में वह रोग का आह्वान करने लगा। कई दिनों के आह्वान के बाद उसे सचमुच में उसका चाहा हुआ मानसिक रोग हो गया। इस व्यक्ति को भी काम-कुटेवें उत्पन्न हो गई थीं जिन्हें लाख यत्न करने पर भी वह छोड़ नहीं पाता था।

यहाँ हम देखते हैं कि जब हम किसी बालक से उसकी योग्यता से अधिक आशा करते हैं, तब हम उसे रोगी बनने के लिये विवश करते हैं। किशोर बालकों में काम-कुटेवों की आदतें तो सहज में होती ही हैं। जब तक बालक को जीवन में सफलतायें मिलती हैं; ये जटिल नहीं होतीं। जब बालक असफलता के विचार मन में लाने लगता है तो उसकी काम-कुटेवें जटिल हो जाती हैं। वह जितना ही इन्हें छोड़ने का यत्न करता है, वे और भी बढ़ जाती हैं। फिर इन पर लिखी हुई पुस्तकें बालक को और भयभीत कर देती हैं। इससे वह अपनी स्मरणशक्ति, चित्त की एकाग्रता, सहनशीलता व आत्मविश्वास सभी खो देता है। इस प्रकार वह न केवल मानसिक वरन् शारीरिक रोगी भी हो जाता है।

एक तीसरा बालक भी अपनी कुछ जटिल आदतों के कारण पढ़ाई में पिछड़ने लगा। वह दो बार मैट्रिक परीक्षा में फेल हो चुका था। परीक्षा के पहले उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते थे। कभी कभी बुखार की अवस्था में ही उसे परचा देना होता था। उसका मन पढ़ाई में न लगता था, परन्तु पढ़ाई विना दूसरा चारा नहीं था। एक बार उसके घर के ट्यूटर ने उसे कान में कह दिया कि जो लोग वीर्य-स्खलन करते हैं उन्हें हृदय का रोग हो जाता है और इससे उसकी मृत्यु हो जाती है। फिर क्या था, उसके कहने के दो घण्टे के बाद ही उसे मालूम हुआ कि उसके हृदय की गति रुक रही है और वह मरने जा रहा था। कई प्रकार की दौड़ धूप हुई, कुछ दवाइयाँ दी गयीं, इनसे कुछ सामयिक लाभ हुआ। परन्तु रोग नहीं गया। यह बालक जब हमारे पास आया तो उसने अपने सभी

काम-सम्बन्धी अनुभवों को कहा। उससे आनापानसति का अभ्यास कराया गया। उसने निष्ठा के साथ वह सब किया। इस बार वह परीक्षा के समय बीमार भी नहीं हुआ और मैट्रिक की परीक्षा में भली प्रकार से उत्तीर्ण हो गया। फिर उसका रोग अब सब समय के लिये जाता रहा।

इस बालक के घर के वातावरण के अध्ययन से पता चला कि जहाँ उसकी माँ एक ओर घर के सभी बालकों पर कठोर नियन्त्रण रखती हैं वहाँ उसके पिता परिवार के सभी कामों से उदासीन रहते हैं। उसे अपने अभिभावकों से उचित प्रेम नहीं मिला। प्रेम के अभाव में बालक की इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है। इच्छाशक्ति के दुर्बलता की अवस्था में बालक अपने प्रबल आवेगों पर नियन्त्रण नहीं कर पाता। इसीसे वह काम-कुटेवों में फँस जाता है। यदि बालक की इच्छाशक्ति बलवती रहे तो वह किशोर अवस्था के प्रबल काम-आवेगों को अपने वश में करने में समर्थ होता है अन्यथा वह एक बड़े प्रवाह में बह जाता है। जब बालक अपना आत्मविश्वास खो देता है तो उसकी बुद्धि का ह्रास हो जाता है।

किशोर बालकों की जटिलता का उपचार

किशोर बालकों की जटिलता के उपचार के लिये डा० विलियम-ब्राउन ने दो बातें बताई हैं, प्रथम 'मनोविश्लेषण' और दूसरा 'निर्देशन'। मनोविश्लेषण बालक से प्रतिदिन सहानुभूतिपूर्वक बातचीत करने से सहज ही में हो जाता है। बालक की बातें हमें केवल धैर्य के साथ सुनना चाहिये। उससे ऐसे प्रश्न कभी न पूछे जायँ जिससे उसके स्वाभिमान में ठेस पहुँचे। जब भी वह अपने भूलों की आत्म-स्वीकृति करे तो उसे प्रोत्साहित करना चाहिये। उसे बता देना चाहिये कि ऐसी भूलें सभी से होती हैं।

निर्देश के लिये बालक को अचेतावस्था में लाना अत्यन्त आवश्यक है। यह अवस्था आनापानसति अथवा शान्त भावना के अभ्यास से अनायास आती है। डा० ब्राडन का कथन है कि मनुष्य जब शान्त भावना का अभ्यास करता है तब वह एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता के सम्पर्क में आता है, जो उसे सभी प्रकार की कमजोरियों से मुक्त कर देती है। अतएव जो रोगी, चाहे वह किशोर हो अथवा प्रौढ़, शांत भावना का अभ्यास लगन से करता है, वह अपने सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार के वातावरण में बालक रहता है, उसी प्रकार के उसके विचार हो जाते हैं। यदि किसी बालक के विषय में कहा जाय कि वह कुन्द बुद्धि का है, तो वह इसी गुण को चरितार्थ करने लगेगा। यदि कहा जाय कि उसकी स्मरण-शक्ति कमजोर है, तब उसकी स्मरण-शक्ति उसी प्रकार हो भी जाती है। उक्त बालक के पुराने अशुभ संस्कारों को मन से हटाने के लिये उसे उसकी योग्यता के अनुसार काम दिया गया। इस काम को उसने बड़ी लगन से पूरा किया। उससे फिर शान्तिभावना और आनापानसति का अभ्यास भी कराया गया। इस प्रकार के अभ्यास से बालक की इच्छाशक्ति बली होती है और आस-पास के वातावरण से आये हुए दुर्निर्देशों के संस्कार समाप्त होते हैं। बालकों में उचित मानसिक परिवर्तन करने के लिये कई दिनों तक हमें उनसे रचनात्मक कार्य कराना पड़ता है, एकान्त में बातचीत करनी पड़ती है, और अभ्यास भी कराना पड़ता है। किसी व्यक्ति का एकाएक मानसिक परिवर्तन नहीं होता।

एक जटिल बालिका का सुधार

एक पन्द्रहवर्षीय बालिका, जिसे हिस्टीरिया का रोग हो गया है, हमारे पास लाई गई। यह बालिका कई मानसो-

पचार गृहों में जा चुकी थी और उसे रोग से मुक्त करने के लिये बिजली के झटके लगाये जा चुके थे। इसमें अपने विषय में बातचीत करने की कोई क्षमता नहीं है। यह बीच-बीच में अकारण ही हँसती रहती है। इसके प्राथमिक उपचार के लिये हमने उसके पेट पर गीली पट्टी बाँधकर सवेरे आधा घंटा तक लेटाए रखने की सलाह दी। इससे लड़की की बहुत-सी अकारण चिन्ताएँ सहज में समाप्त हो गई हैं। इस लड़की को मानसोपचार करते समय की स्थिति का एक चित्र दिया गया। उससे उस पुस्तक को कभी-कभी पढ़ने के लिये कहा गया।

जब यह लड़की एक सप्ताह बाद हमारे सामने फिर से लाई गई, तो उसकी मुखाकृति दूसरे ही प्रकार की थी। अब उसका अकारण हँसना बहुत कुछ जाता रहा। वह कुछ सार्थक बात-चीत भीं करने लगी। उसने एक ड्राइङ्ग कापी पर बनाए हुए अनेक चित्र दिखाये। उसके अभिभावक से हमें ज्ञात हुआ कि उसके स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ है। इस लड़की को आनापानसति का अभ्यास कराया गया। वह कुछ देर तक आराम से पड़ी रही। इस प्रारम्भिक उपचार से ही रुग्णा में पर्याप्त मानसिक परिवर्तन हुआ।

मानसिक चिकित्सा और बालमनोविज्ञान

प्रत्येक मानसिक चिकित्सक के लिये बालमनोविज्ञान जानना आवश्यक है। मनुष्य के मानसिक रोग की जड़ उसके अचेतन मन में रहती है। चेतन मन से तो रोगी रोगमुक्त होना चाहता है, किन्तु जबतक उसका अचेतन मन रोग को छोड़ना नहीं चाहता तबतक रोग नहीं जाता। अचेतन मन से रोग

छुड़ाना वैसा ही कठिन कार्य है जिस प्रकार बालक से उसका हठ छुड़ाना। अचेतन मन का ज्ञान करना कठिन है इसकी अपेक्षा बाल-स्वभाव को जानना सरल है। अतएव यदि किसी व्यक्ति ने बाल-स्वभाव को जाना है, यदि वह उन्हें किसी कुमार्ग पर चलने से रोकने में समर्थ हुआ है तो वह किसी मानसिक रोगी की सफल चिकित्सा में भी समर्थ होगा।

ध्यान देने की बात यह है कि जिन लोगों को अचेतन मन की जटिल कार्यप्रणाली का सर्वथा ज्ञान नहीं है वे बालक के सभी समय शुभचिन्तक बने रहकर और उसके सुधार का अनेक प्रकार का प्रयास करने पर भी इस कार्य में असफल होते नहीं। देखा गया है जिन लोगों के सामान्य दैनिक जीवन में किसी प्रकार की नैतिक त्रुटि नहीं देखी जाती, जो लौकिक व्यवहार में बड़े ही कुशल माने जाते हैं, जिनकी कार्यक्षमता बहुत अधिक है, कभी-कभी ऐसे ही लोग अपने ही बच्चों को विनयशील अथवा योग्य नहीं बना पाते। कभी-कभी सदाचारी विद्वान् और संयमी व्यक्तियों की सन्तान दुराचारी, मूर्ख और व्यभिचारी होती है। इस प्रकार की स्थिति का कारण यह है कि इन सिद्धान्तवादियों ने अपने आचरण के सिद्धान्त को बिना मनोविज्ञान के ज्ञान के बनाया। वे अपनी ही मनोस्थिति अर्थात् अपने अचेतनमन के भावों को न जान सके। ऐसे लोगों में बालमनोविज्ञान जानने की क्षमता ही नहीं रहती। फिर उनमें बाल-सुधार की योग्यता आही कहाँ से सकती है। कठोर नैतिक जीवन बितानेवाले लोग अपने आश्रितों को भी कठोर नैतिक नियंत्रण में रखना चाहते हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि मनुष्य की स्थायी नैतिकता अथवा किसी दूसरे प्रकार की योग्यता का विकास धीरे-धीरे होता है। वही

नैतिकता मनुष्य के जीवन में ठहरती है जो अन्तरात्मा से आती है और जिसकी नींव बाहरी संस्कारों में न रहकर मनुष्य की अन्तरात्मा में रहती है। प्रौढ़ व्यक्ति, बालक के पिता-माता, अभिभावक अथवा शिक्षक बालक को बरबस भला नहीं बना सकते। भलाई ऊपर से लादी जानेवाली वस्तु नहीं है। संसार में मानसिक रोग लदी भलाई अथवा कृत्रिम नैतिकता के कारण ही होते हैं। कितने ही सुशिक्षित माने गए माता-पिता अपने बालकों का जीवन उन्हें सुधारने के प्रयास में नारकीय बना देते हैं। वे जितना ही बालकों के दुर्गुणों के प्रति सतर्कता दिखाते हैं बालकों में वे दुर्गुण उतने ही अधिक बढ़ते हैं। इन दुर्गुणों के बढ़ने का प्रमुख कारण अभिभावकों की उनके प्रति सतर्कता और आलोचना की मनोवृत्ति रहती है। ये लोग बालकों की आलोचना करते-करते उनका आत्मविश्वास समाप्त कर देते हैं।

बालक के सुधार की कुञ्जी उसे सीधे नैतिक शिक्षा देने में नहीं है, वरन् उसे स्नेह के वातावरण में रखने में है। स्नेह में वह बल है कि वह मनुष्य के स्वभाव में आमूल परिवर्तन कर सकता है। सभी अपराधी बालकों में आत्म-विश्वास का अभाव रहता है। वे अपने आपसे निराश रहते हैं। इसलिये ही वे अपराधी बनते हैं। जिस व्यक्ति को आत्म-विश्वास है, वह अपने आपको रचनात्मक कार्यों में ही लगाये रखता है। बालकों में आत्म-विश्वास की वृद्धि उसके प्रति स्नेह व्यवहार से होती है। बालक स्वयं का मूल्यांकन उसी प्रकार करने लगता है जिस प्रकार का मूल्यांकन उसके अभिभावक तथा शिक्षक उसका करते हैं। यदि ये लोग उसे भला और योग्य समझते हैं तो वह वैसा ही बन जाता है।

प्रकरण १७

आत्म-निर्देश चिकित्सा

आत्म-निर्देश चिकित्सा विधि की मौलिकता

मानसिक चिकित्सा की दो विधियाँ प्रचलित हैं—एक इमील कूए महाशय की आत्मनिर्देश चिकित्सा विधि और दूसरी फ्रायड महाशय की मनोविश्लेषण विधि। फ्रायड महाशय की विधि रेचन विधि है और कूए महाशय की विधि पाचन विधि है। फ्रायड महाशय की विधि के अनुसार दलित मानसिक भाव का खोजा जाना और उसे रोगी की चेतना के समक्ष लाना परमावश्यक है; कूए महाशय की विधि के अनुसार रोगी की चेतना के समक्ष रोग के कारण को लाना आवश्यक नहीं है। इसके अनुसार पुरानी स्मृतियों को जगाने और उन पर मन को लगाने से रोग का विनाश नहीं होता वरन् और भी बढ़ जाने की संभावना रहती है। जो मनुष्य जितना ही कम अपने रोग के विषय में चिंतन करता है वह उतना ही स्वास्थ्य लाभ के लिए अपने आपको योग्य बनाता है। फ्रायड महाशय की विधि के द्वारा आत्म-चिकित्सा संभव नहीं। यह साधारण डाक्टरों की विधि है। जिस प्रकार डाक्टर लोग रोगी को अनेक प्रकार की औषधियाँ देकर निरोग बनाने की चेष्टा करते हैं, इसी तरह मानसिक चिकित्सक मनोविश्लेषण द्वारा रोगी की चिकित्सा करता है। इस प्रकार की चिकित्सा में रोगी की सहायता की आवश्यकता अवश्य होती है पर वह

अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर सकता। कूये महाशय के विचार पुस्तकों में से ही पढ़ कर बहुत से रोगी उन विचारों के अनुसार अभ्यास करके स्वास्थ्य लाभ करने में समर्थ हुये हैं। फ्रायड महाशय की विधि के प्रयोग के लिए बड़े योग्य मनोविश्लेषक की ही आवश्यकता होती है और कई दिनों तक उसके समक्ष रोगी को उपस्थित रहना पड़ता है। कोई फ्रायड महाशय की विधि को जान कर आत्मचिकित्सा करना चाहे तो यह संभव नहीं।

सन्निर्देश और चरित्र

आत्म-निर्देश द्वारा चिकित्सा के लिये धार्मिक विचार और भावनायें परमावश्यक हैं। पहले तो धार्मिक विचार स्वयं चिकित्सक में होना चाहिए। मनोविश्लेषण विधि को मनुष्य अपने जीवन का रोजगार बना सकता है, पर कूए की विधि से काम लेने वाला व्यक्ति इसे रोजगार नहीं बना सकता। जो व्यक्ति जितना ही अधिक निःस्वार्थ भाव से इस विधि से काम लेता है वह उतना ही रोगियों को रोगों से मुक्त करने में सफल होता है। रोगी के विचार विकृत रहते हैं। इन विचारों में परिवर्तन करना उसे स्वस्थ बनाने के लिये परमावश्यक होता है। इन विचारों की जड़ रोगी के अचेतन मन में रहती है। जो व्यक्ति रोगी के मन को प्रभावित कर सकता है वही रोगी को आरोग्य प्रदान करने में सहायक हो सकता है। रोगी के अचेतन मन को प्रभावित करने के लिये उसके हृदय पर अधिकार करना परमावश्यक है और इस कार्य के लिये त्याग और तपस्या तथा प्रेमभाव की वृद्धि की आवश्यकता होती है। बिना प्रेम के हम किसी व्यक्ति के हृदय पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकते और प्रेम की परख त्याग और कष्ट सहने में है। अस्तु जो व्यक्ति रोगी के लिए जितना ही त्याग करता है

और उसके लिए जितना ही अधिक कष्ट सहता है वह रोगी को चंगा करने में उतना ही सफल होता है। स्वयं कूए महाशय हजारों रोगियों को अपने चरित्र से प्रभावित करके निरोग बनाते थे। उनके भेजे निर्देश इसलिए प्रभावकारी होते थे कि वे अपने काम के लिए रोगियों से कुछ भी नहीं लेते थे और धर्म बुद्धि से ही सब काम करते थे। जिन रोगियों को आर्थिक कष्ट रहता था उन्हें आर्थिक सहायता भी देते थे। इस प्रकार जिन रोगियों का आत्मविश्वास छूट जाता था, वे उनका आत्मविश्वास फिर से ले आने में समर्थ होते थे।

प्रत्येक मनुष्य के विचार उसके आस पास के लोगों को प्रभावित करते हैं। सभी प्रकार के रोगों का कारण मनुष्य के कलुषित विचार होते हैं। इस प्रकार के विचारों का उदय स्वार्थ भाव की वृद्धि के साथ साथ होता है। स्वार्थ भाव की वृद्धि से मनुष्य के मन में चिड़चिड़ापन, अकारण भय और आत्म-भर्त्सना की भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं। इन भावनाओं के परिणाम स्वरूप वह अपने आपको अनेक प्रकार के दुर्निर्देश देते रहता है। इन विचारों में परिवर्तन लाने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं कि हम रोगी को यह समझा दें कि उसके विचार उसकी क्षति करते हैं तथा उसे अपने विचारों को भला वनाना चाहिए। इस प्रकार के समझाने का कभी कभी उलटा ही प्रभाव पड़ता है। पहले तो रोगी के मन में हमारे कथन के ऊपर विश्वास पैदा करना ही कठिन होता है, दूसरे यदि हमारे कथन से भी वह प्रभावित हो जाय और इसके परिणाम स्वरूप अपने विचारों को भला बनाने की चेष्टा करने लगे तो वह अपने आपको इसमें बिल्कुल असमर्थ पाता है। वह अपने बुरे विचारों और कल्पनाओं को मन से बाहर निकालने

का जितना ही प्रयत्न करता है वे और भी तीव्रता के साथ उसके मन में आती हैं। जब तक मनुष्य उन बुरी कल्पनाओं का कारण नहीं जानता तब तक कल्पनाओं में परिवर्तन करना असंभव है। बुरी कल्पनाओं का कारण दबे मानसिक उद्वेग रहते हैं। इनका या तो रेचन किया जाय अथवा इनको हजम कर लिया जाय तभी कल्पनाओं में परिवर्तन होना संभव है। रोगी की घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, आदि की भावनाओं में परिवर्तन करने के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी भी व्यक्ति के सद्गुणों पर विचार करे। रोगी के हृदय में प्रेम और उदारता के भावों की कमी रहती है, इन भावों का संचार होने से रोग का विनाश हो जाता है। पर इन भावनाओं का संचार करने के लिये किसी ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में देर तक रहना आवश्यक है जो कि स्वयं उदार और प्राणि-मात्र से प्रेम करता हो और निःस्वार्थ भाव से उनकी सेवा करता हो।

मनोविश्लेषण से भेद

मनोविश्लेषण और आत्म-निर्देश द्वारा चिकित्सा करने वाले मनोवैज्ञानिक के दृष्टिकोण में भेद होता है। मनोविश्लेषक मनुष्य के स्वभाव को भला अथवा देव रूप नहीं मानता। उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक रहता है। उसे रोगी के प्रति उतनी सहानुभूति दिखाना भी आवश्यक नहीं होता जितना कि आत्म-निर्देश की विधि को काम में लाने वाले के लिये आवश्यक है। निर्देशक को रोगी के साथ आत्मसात् करना पड़ता है, मनोविश्लेषक को यह करना आवश्यक नहीं। निर्देशक पहले से ही यह धारणा बनाकर चलता है कि मैं रोगी को निरोग नहीं बना सकता, स्वयं रोगी ही अपने आपको नीरोग बना सकता है। वह साफ साफ कहता है "मैं तुम्हारी कुछ भी सहायता

करने में समर्थ नहीं हूँ, तुम्हीं अपने आप की सहायता कर सकते हो। मैं सिर्फ अपने आप से सहायता लेने की विधि मात्र तुम्हें बताता हूँ। मार्ग का बताना मेरा काम है, उसपर चल कर लाभ उठाना तुम्हारा काम है"। निर्देशक जितने ही विनम्र भाव से और श्रद्धा पूर्वक रोगी की चिकित्सा करने की चेष्टा करता है वह उसे आरोग्य प्रदान करने में उतना ही अधिक समर्थ होता है। निर्देशक का विश्वास रहता है कि सभी मनुष्यों के अचेतन मन में अमित शक्ति है। इस शक्ति के किंचिन् मात्र कार्य करने से ही मनुष्य के सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। इस शक्ति को जाग्रत करनामात्र उसके सहायक का काम है। जिस निर्देशक की इस भावना में जितना अधिक विश्वास है वह रोगी को उतना ही अधिक लाभ पहुँचाता है।

डा० होमर लेन और डा० ब्राउन महाशयों ने अपने चिकित्सा-विधि में निर्देश और मनोविश्लेषण दोनों ही विधियों से काम लिया है। दोनों ही विद्वान मनुष्य के स्वभाव को दैविक मानते हैं। उनके कथनानुसार रोग का प्रधान कारण किसी स्वार्थमयी भावना का दमन नहीं है वरन् अपने दैविक स्वभाव के प्रतिकूल आचरण है। जब मनुष्य अपने दैविक स्वभाव के अनुसार आचरण करने लगता है तो उसे स्वराज्य लाभ हो जाता है। फ्रायड महाशय के अनुसार मनुष्य की स्वार्थमयी भावनावों के दमन के कारण ही सभी मानसिक रोग होते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य को अपनी सुख की इच्छाओं को तृप्त करने देने से ही स्वास्थ्य लाभ हो सकता है। पर इसका मनुष्य के जीवन में अन्तिम परिणाम बुरा ही होता है। यही कारण है कि फ्रायड महाशय अन्त तक निराशावादी ही रहे। यदि मनुष्यों की वासनाओं का दमन किया जाय तो मानसिक रोगों की

उत्पत्ति होगी और यदि उन्हें उभड़ने दिया जाय तो समाज का विनाश होगा। मनुष्य के स्वभाव को भला मान लेने पर इस प्रकार की समस्या हमारे सामने नहीं आतीं।

डा० होमरलेन को जो विस्मयजनक सफलता अपनी चिकित्सा में मिली उसका प्रधान कारण उनका रोगियों के प्रति दृष्टिकोण और प्रेम भाव ही था। वे रोगियों को आदर की दृष्टि से देखते थे और उनके साथ बड़े ही प्रेम से व्यवहार करते थे। रोगी डाक्टर होमरलेन को इतना प्यार करते थे कि उनका साथ छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं रहते थे। डा० होमरलेन विश्लेषण विधि के द्वारा रोग के कारणमात्र जानने की चेष्टा करते थे, पर उन्हें आरोग्य प्रदान करने में प्रायः निर्देश की विधि से ही काम लेते थे। रोगी के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना अथवा उसकी पुनः शिक्षा करना यह उनकी विधि का मुख्य अंग था। उनका कथन है कि जबतक इस प्रकार का परिवर्तन नहीं होता रोगी को स्थायी लाभ होना असंभव है। रोगी सदा आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति से पीड़ित रहता है। वह किसी ऐसे कार्य की स्मृति को दबाने की चेष्टा करता रहता है जिसे उसने बुरा समझ लिया है। उसके स्मरण होते ही उसे भारी मानसिक क्लेश होता है। रोगी के दृष्टिकोण में परिवर्तन करने पर आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति का अन्त हो जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन होने पर विस्मृत भाव चेतना की सतह पर सरलता से आ जाता है और उससे उस भाव का रेचन भी हो जाता है। होमरलेन महाशय दलित भाव का रेचनमात्र ही नहीं करते थे, वे उसके प्रति रोगी का दृष्टिकोण भी बदल देते थे। यही कारण है कि जो लोग नैतिक शिक्षा पर अधिक जोर देते हैं वे उन्हें भला व्यक्ति नहीं समझते थे।

आत्म-निर्देश और नैतिकता

नैतिक शिक्षा का एक परिणाम आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति उत्पन्न करना होता है। नैतिक शिक्षा से मनुष्य का मानसिक बल नहीं बढ़ता, अपितु उसके मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होता है जिससे मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है। इस तरह मनुष्य की अमित शक्ति संसार के किसी रचनात्मक कार्य में न लगकर व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। रचनात्मक कार्य बिना आत्मप्रसाद के होना संभव नहीं। आत्म-प्रसाद शक्ति का वर्धक है; आत्मभर्त्सना शक्ति की विनाशक है। आत्मप्रसाद से मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ता है, आत्मभर्त्सना से आत्मविश्वास की क्षति होती है। आत्मविश्वास के नष्ट होने पर मनुष्य में सभी प्रकार के दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी ही अवस्था में उसे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग घेर लेते हैं।

उपर्युक्त कथन का अर्थ यह नहीं कि होमरलेन महाशय अनैतिक आचरण के समर्थक थे। इसका अर्थ इतना ही है कि मनुष्य को कोरा नैतिक उपदेश देना व्यर्थ ही नहीं अपितु हानिकारक है। उसे किसी रचनात्मक काम में लगाये रखना चाहिए। रचनात्मक कार्य उसके जीवन में नैतिक विकास अपने आप करता है। यह विकास स्थायी रहता है। रचनात्मक कार्य करने से मनुष्य में आत्मविश्वास बढ़ता है और जिस मनुष्य में आत्मविश्वास है वही अपने आप को काबू में रख सकता है। आत्मविश्वास और आत्मनियंत्रण एक ही वस्तु के दो रूप हैं। जहाँ आत्मनियंत्रण है वहीं सभी प्रकार के सद्गुण अपने आप प्रगट हो जाते हैं। आत्मनियंत्रण की शक्ति उत्पन्न करने के लिये रोगी के प्रति प्रेम प्रदर्शन करना तथा उसमें आत्म-भर्त्सना की प्रवृत्ति को रोकना परमावश्यक है।

आत्म-निर्देश के द्वारा न केवल शारीरिक और मानसिक रोगियों को अपने रोगों से मुक्त किया जा सकता है वरन् दुराचारी को सदाचारी बनाया जा सकता है। होमरलेन महाशय ने अपने प्रयोग में कूयें महाशय के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को कार्यान्वित किया और उन्हें जो उद्दण्ड बालकों को प्रेम और शुभ निर्देश द्वारा सुधारने में सफलता मिली, उसे जानना संसार के सभी शिक्षा-विशेषज्ञों के लिये महत्व की बात है। प्रेम के वातावरण में रहकर दुष्ट आचरण करनेवाले बालक सदाचारी ही नहीं बने वरन् वे स्वभाव से परोपकारी हो गये। कूये और होमरलेन दोनों ही व्यक्ति मनुष्य के दैविक भाव को अपने आचरण से बढ़ाते थे और इस प्रकार उन्हें सुखी और स्वस्थ बनाने में समर्थ होते थे। आत्मनिर्देश का प्रभाव धीरे-धीरे होता है। प्रत्येक भला काम धीरे-धीरे होता है। इसलिए ही बहुत से उतावले लोग आत्म-निर्देश की विधि को अपने जीवन को उठाने में काम में नहीं लाते। इस विधि का सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिये जितने त्याग की आवश्यकता है उतना त्याग करने की योग्यता अधिक चिकित्सकों में नहीं रहती। चिकित्सक गण प्रायः पैसा कमाने के लिये या रोजी के लिए चिकित्सा का रोजगार करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के विचार न तो उतने उच्च होते हैं जितने की निर्देशक को होना चाहिए और न उन्हें मनुष्य की दैविकता में विश्वास होना ही संभव है। ऐसी अवस्था में वे अस्वस्थ व्यक्ति में कैसे सद्भावों का संचार कर सकते हैं। मनुष्य जैसे व्यक्ति के सम्पर्क में आता है वैसा ही उस समय के लिये बन जाता है। यदि स्वयं चिकित्सक के मन में भले विचार हैं तो ये ही विचार रोगी को प्रभावित करेंगे। यदि उसके मन में स्वार्थ भाव से प्रेरित विचार हैं तो

वह रोगी के विचारों में सुधार कदापि न कर पावेगा और विचारों में सुधार न होने पर रोगी को स्थायी लाभ नहीं होता।

मानसिक रोग का रहस्य

जब मनुष्य किसी प्रकार के रोग से पीड़ित रहता है तो उसके विचार और कल्पनायें उसके वश में नहीं रहते। उसकी इच्छा एक प्रकार की होती है और उसकी कल्पनायें दूसरे प्रकार की होती हैं। वह चाहता है कि मैं रोग से मुक्त हो जाऊँ, पर उसका आंतरिक मन उससे कहता है कि तुम रोग से मुक्त हो नहीं सकते। उसे अपने अच्छे हो जाने में विश्वास ही नहीं होता। मनुष्य के विचारों का उसके रोग से कोई सम्बन्ध है—ऐसे मत को वह कोरी वाग्-विडम्बना मात्र मानता है। लेखक को बहुत से रोगी ऐसे ही मिले जिन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मनुष्य के विचार उसकी शारीरिक दशा पर निर्भर करते हैं। यदि उसकी शारीरिक दशा ठीक हुई तो उसके विचार स्वतः ठीक हो जावेंगे। वे सोचते हैं कि शारीरिक दशा किसी प्रकार के उपचार से ही ठीक हो सकती है। बहुत से रोगी डाक्टरी उपचार की सार्थकता में विश्वास नहीं करते, वे प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास करते हैं। ऐसे रोगियों को यदि यह कहा जाय कि आपके विचार आपके रोग के कारण हैं तो वे या तो आप पर हँसेंगे अथवा आप से चिढ़ जाँयगे। विचारों को रोग का कारण मान लेना रोग की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेना है। जिसने रोग को पैदा किया वह रोग को नष्ट भी कर सकता है। वास्तव में बहुत से रोगी ऐसे होते हैं जिन्हें रोग ने नहीं पकड़ा वरन् जिन्होंने रोग को पकड़ लिया है। ऐसे रोगी अपने निकम्मेपन का बहाना चाहते हैं और वे अपनी असफलता का दोष रोग के माथे मढ़ देना पसन्द

करते हैं। इससे जो आत्म-संतोष होता है वह अपने विचारों को रोग का कारण मान लेने से नष्ट हो जाता है। अतएव रोगी किसी बाहरी कारण को ही रोग का मूल मानता है। यह मनोवृत्ति आरोपण की मनोवृत्ति कही जाती है। ऐसे व्यक्ति को किसी भी प्रकार की मानसिक चिकित्सा के द्वारा लाभ पहुँचना कठिन होता है।

कितने ही रोगी अपने रोग का मानसिक कारण मानने को तैयार रहते हैं पर वे अपने विचारों पर नियंत्रण नहीं कर सकते। वे जितना ही विचारों पर नियंत्रण करने की चेष्टा करते हैं उनके विचार और भी विनाशक हो जाते हैं। जब मनुष्य का मन किसी प्रकार की जिद करने लगता है तो उसको काबू में लाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जिस प्रकार हम पतंग को जितना ही अपनी ओर खींचते हैं वह उतना ही धरातल से ऊपर की की ओर जाता है, इसी तरह हमारा मन भी जितना ही उसे हम काबू में लाने की चेष्टा करते हैं वह उतना ही काबू के बाहर जाता है। किसी अभद्र विचार को भुलाने की अधिक चेष्टा करने पर वह विचार मन से जाता ही नहीं। रोगी के मन में रोग की भयंकरता के विषय में अनेक विचार आते रहते हैं और वे दृढ़ हो जाते हैं। जब ऐसी अवस्था में कोई सन्निर्देश रोगी को दिया जाता है तो उसका उसमें विश्वास ही नहीं होता। उसका आन्तरिक मन उसे ग्रहण नहीं करता। ऐसी अवस्था में सन्निर्देश के अनुसार अभ्यास करने से रोग की भयंकरता बढ़ती ही जाती है। अतएव विचारों में वास्तविक परिवर्तन करने के लिए पहली यह आवश्यकता है कि बाहरी और भीतरी मन के बीच खींचातानी की स्थिति का अन्त किया जाय। जिस प्रकार पतंग को नीचे गिराने के लिये एकाएक डोरी में ढील

देना आवश्यक है, इसी तरह भीतरी मन की विघटनात्मक क्रिया को रोकने के लिये बाहरी मन के विरोध को रोकना परम आवश्यक है, अर्थात् मनुष्य को किसी प्रकार की इच्छा को ही मन में न लाना उचित है। यदि हमारा मन रोग के विचारों को नहीं छोड़ता तो उससे उन विचारों को छुड़ाने की चेष्टा ही न की जाय, वरन् अपने आपको यह समझाया जाय कि रोग का उपस्थित रहना हमारे भले के लिये है। रोग हमारा बैरी नहीं, हितैषी है। जो मनुष्य जितना ही अधिक रोग के विषय में उक्त प्रकार के विचारों को दृढ़ करेगा वह रोग से उतना ही शीघ्र मुक्त होवेगा।

सन्निर्देश को सार्थक बनाने का उपाय

साधारणतः हम अपनी चेतनावस्था में रोग के प्रति मानसिक विरोध को रोक नहीं सकते और न हम अपने आप को किसी प्रकार का सन्निर्देश दे सकते हैं। इसके लिये चेतना की क्रिया को रोकना आवश्यक होता है। चेतनावस्था में मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के संदेह उत्पन्न होते रहते हैं जिसके कारण किसी प्रकार की मन की रचनात्मक क्रिया सफल नहीं होती। इसलिये रोगी को अचेतन अवस्था में लाना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसीलिये कूये महाशय कभी कभी रोगी को संमोहित अवस्था में लाते थे। इस अवस्था में चेतना की क्रिया बंद हो जाती है और मनुष्य का अचेतन मन प्रगट होने लगता है। यह मन बड़ा शक्तिशाली है और बड़ा भोला है। इस मन को जो कुछ भी सुझाया जाता है वह मान लेता है और उसी के अनुसार कार्य में लग जाता है। चेतना की क्रिया को बंद करके यदि किसी रोगी को सुझाया जाय कि वह प्रतिक्षण अच्छा हो रहा है तो वह थोड़े ही

काल में अच्छा हो जावेगा। उसका अचेतन मन उसके निर्देश के अनुसार कार्य करने लगेगा। इस मन का प्रभाव मनुष्य की ज्ञात और अज्ञात दोनों ही प्रकार की शारीरिक क्रियाओं पर रहता है। रुधिर का प्रवाह, हृदय की धड़कन, फेफड़े का काम आदि सभी कार्य इसके द्वारा संचालित होते हैं। अतएव इस मन को प्रभावित करके मनुष्य किसी भी प्रकार के शारीरिक रोग को नष्ट कर सकता है।

रोग की चिकित्सा में सभी रोगियों को सम्मोहित करने की आवश्यकता नहीं होती। रोगी को पहले यह आत्मविश्वास दिलाना आवश्यक होता है कि उसमें रोग को नष्ट करने की ताकत है। इसके पश्चात् उसे सभी विचारों को बंद करने का निर्देश दिया जाता है। जब रोगी चेतनाशून्य जैसी अवस्था में आजाता है अर्थात् जब वह सोने जैसी अवस्था में हो जाता है तब उसे सुझाया जाता है कि उसका रोग नष्ट हो रहा है, वह प्रतिक्षण अच्छा हो रहा है। रोगी धीरे धीरे अपने आप से कहता है कि मैं प्रतिक्षण अच्छा हो रहा हूँ। इस प्रकार का अभ्यास कुछ समय तक बार बार करने से रोग नष्ट हो जाते हैं। कभी कभी एक ही बार के प्रयोग से रोग एकाएक नष्ट हो जाता है।

रोगी यदि सोते समय अपने आपको सन्निर्देश दे तो वह शीघ्र ही अच्छा हो जावे। इसका कारण यह है कि सोते समय के विचार मनुष्य के अचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इन विचारों को हमारा अचेतन मन ग्रहण कर लेता है और वह रात भर उसी के अनुसार कार्य करता रहता है। मनुष्य जिस प्रकार के विचार लेकर सोता है वह वैसे ही विचार लेकर जागता भी है।

आत्म-निर्देश को सफल बनाने में आनापान सति का अभ्यास बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। रोगी को अपनी स्वांस पर ध्यान देने के लिये कहा जाय; यदि संभव हो तो चिकित्सक दूसरी आराम कुर्सी पर बैठ जाय। अब रोगी को अपने अंगों को शिथिल करने को कहा जाय। चिकित्सक स्वयं भी अपने अंग शिथिल कर दे। इसके उपरांत रोगी को स्वांस-प्रश्वास पर ध्यान देने को कहा जाय और धीरे धीरे सोते हुये मनुष्य के समान साँस लेना आरंभ कराया जाय। इस प्रकार के थोड़े काल के अभ्यास से ही आन्तरिक शांति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में जो भी सन्निर्देश मनुष्य अपने आपको देता है वह अवश्य फलित होता है। मनुष्य की अभद्र कल्पनायें उसे तुरन्त छोड़ देती हैं और वह अपने अंदर नई आत्म-स्फूर्ति की अनुभूति करता है। बुद्ध भगवान ने इस अभ्यास को सम्यक् स्मृति का एक अंग माना है। इसे "आना-पान सति" कहा जाता है। यह प्राण और अपान की स्मृति है।

निर्देश की विधि के शीघ्रातिशीघ्र फलित होने के लिए धार्मिक भावना बड़ी सहायक होती है। अहंकार और स्वार्थ की वृद्धि ही मनुष्य के विचारों में विकार उत्पन्न करती है और रोग पैदा करती है। जब मनुष्य अपने आप को किसी बड़ी सत्ता के हाथ में छोड़ देता है और अपने अभिमान को त्याग देता है तो उसके विचार बिना प्रयत्न के अपने आप ही ठीक हो जाते हैं। मनुष्य अपनी अहंकारमयी चेतना के द्वारा अपनी कल्पना का नियंत्रण नहीं कर सकता। कल्पना के नियंत्रण के लिये अपने आप में निवास करने वाले सर्वात्मा की शरण में जाना आवश्यक होता है। यही

कारण है कि लोकसेवा का संकल्प मनुष्य की आयु को बढ़ाता है और उसे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों से मुक्त कर देता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने विचारों को सब लोगों में समान भाव से उपस्थित रहने वाली सत्ता पर केन्द्रित करता है वह अपने विचारों को उतनी ही सरलता से नियंत्रित कर सकता है। दूसरे लोगों की सेवा में सदा तत्पर रहना भी विचारों के नियंत्रण में उसी प्रकार सहायक होता है जिस प्रकार सर्व व्यापी सत्ता पर विचारों को केन्द्रित करना सहायक होता है।

अस्तु जो व्यक्ति अपने सभी कामों का अहंकार छोड़ देता है और संसार के नियामक को ही भला समझ कर अपने आप को उसी के ऊपर छोड़ देता है, उसके विचार स्वतः ही बिना प्रयत्न के कल्याणकारी हो जाते हैं। वह निराशावाद के चंगुल में नहीं फँसता। निराशावादी होना शैतान के जीत में विश्वास करना है। जो सभी प्रकार के दुख सहने को तैयार रहता है उसे दुखों से भय नहीं होता और भय के अभाव में उसके अनेक दुख अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। किसी प्रकार के शुभ निर्देश देने के पूर्व चिकित्सक के लिये आशावादी विचारों का रोगी के मन में उदय करना आवश्यक होता है। आशावादी विचार रोगी से वार्तालाप करके ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसके लिये रोगी के प्रति सच्चा प्रेम प्रदर्शन करना उसकी भलाइयों को अपने मन में स्मरण करना आवश्यक है। हम जिस प्रकार की भावनायें लेकर रोगी के पास जाते हैं वैसे ही विचार हम उसके मन में उदय करते हैं। यदि हम रोगी के विषय में आन्तरिक मन से यह सोचते हैं कि रोगी बड़ा ही भला व्यक्ति है और उसका चंगा होना समाज के लिए वरदान है तो रोगी भी

अपने विषय में भला सोचता है और वह शीघ्र ही रोग से मुक्त हो जाता है।

जिस व्यक्ति के बाहरी और भीतरी मन में एकता रहती है और जो अपने आप में एक भारी चैतन्य महान् शक्ति के उपस्थिति की भावना करता है, वह जितने शीघ्र रोगों से मुक्त हो जा सकता है उतने शीघ्र दूसरा व्यक्ति नहीं होता। वह अपने अचेतन मन को सरलता से चेतन मन के विचारों से प्रभावित कर सकता है। उसके चेतन मन के विचार भले होते हैं इसलिए उसका अचेतन मन भी सदा रचनात्मक कार्य में ही लगा रहता है। अपने अचेतन मन की शक्ति में जिस व्यक्ति को विश्वास है वह यदि किसी प्रकार की शारीरिक व्याधि होने पर अपने आपको शिथिल करके धीरे धीरे निर्देश दे कि मेरा अमुक अंग अच्छा हो रहा है तो उसका उक्त अंग अवश्य अच्छा हो जावेगा।

मानलीजिये किसी का पेट दर्द कर रहा है। वह शांत मन होकर चित्त लेट जावे और धीरे धीरे अपने विचारों को दर्द होने वाले स्थान पर ले जावे और सोचे कि उसकी मानसिक शक्ति पेट के दर्द को नष्ट कर रही है तो पेट का दर्द अवश्य बंद हो जावेगा। धीरे धीरे रोग से पीड़ित स्थान पर हाथ फेरने से भी लाभ होता है। इस तरह बहुत सी शारीरिक पीड़ाओं से मनुष्य अपने आप को आत्म-निर्देश के द्वारा मुक्त कर लेता है। जब स्वामी रामतीर्थ को पेट का दर्द होता था तो वे उसके विषय में कविता ही बनाने लगते थे। इस प्रकार की मनोवृत्ति दर्द की भीषणता को ही कम नहीं कर देती वरन् उसे समूल नष्ट कर देती है। कहा जाता है कि यदि आपको बिच्छू काट ले तो जितने कम लोगों को उसके काटने के विषय में जाहिर किया

जाय बिच्छू का जहर उतना ही कम चढ़ता है और जितना ही अधिक बिच्छू से काटा व्यक्ति रोता कराहता है उसका जहर उतना ही अधिक चढ़ता है। इस कहावत में मौलिक सत्य है। मनुष्य आत्म-निर्देश के द्वारा अपने दुख को घटा अथवा बढ़ा सकता है। जब मनुष्य अपने दुख को दूसरों के समक्ष जाहिर करता है तो वे उसके दुख की कल्पना करते हैं और उसके प्रति सहानुभूति प्रगट करते हैं। इससे वह अपने दुख को और भी भारी समझने लगता है। उसका इस प्रकार का आत्म-निर्देश उसके दुख को बढ़ा देता है। कितने ही लोग चूहों के ही काटने से इस लिए मर जाते हैं कि वे उसे सांप समझ बैठते हैं। उनका आत्म-निर्देश ही उनकी मृत्यु कर देता है।

झाड़ने फूँकने से कितने ही लोग बिच्छू के दर्द से मुक्त हो जाते हैं पर इस प्रकार का झाड़ना फूँकना जितना अपढ़ ग्रामीण लोगों को प्रभावित करता है, पढ़े लिखे लोगों को प्रभावित नहीं करता। जिन लोगों का झाड़ने फूँकने में विश्वास नहीं होता उनका आत्म-निर्देश उनकी पीड़ा से उन्हें मुक्त होने में सहायता नहीं देता। वास्तव में मनुष्य का आत्म-निर्देश ही उसकी सहायता करता है और उसे अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त करता है। जिस मनुष्य की तर्क शक्ति जितनी ही प्रबल होती है उसकी आत्म-निर्देश की शक्ति उतनी ही कम होती है। यही कारण है कि आत्म-निर्देश के द्वारा जितना गाँव के भोले-भाले लोगों को फायदा होता है, शहर के शिक्षित लोगों को नहीं होता।

निर्देश विधि का प्रयोग

निर्देश विधि का प्रयोग कैसे किया जाता है और उसकी सफलता किन बातों पर निर्भर है इन बातों को भली प्रकार से

जानना आवश्यक है। निर्देश विधि के प्रयोग के लिए रोगी की वर्तमान मानसिक अवस्था से परिचय करना ही पर्याप्त है।. इसके लिये रोगी के जीवन की अधिक खोज करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस विधि का प्रयोग करने के लिए पहली आवश्यकता यह है कि रोगी की चिकित्सक के प्रति श्रद्धा हो। इसके अभाव में इसका सफल होना संभव नहीं।

जब हमारा मन किसी कुटेव में लग जाता है तो अपनी भलाई में हमारा विश्वास ही नहीं होता। विश्वास के बिना चेतन मन के विचार अचेतन मन को प्रभावित नहीं करते और जबतक अचेतन मन प्रभावित नहीं होता तब तक रोगी को किसी प्रकार का लाभ होना कठिन है। यदि विश्वास के न रहने पर भी कोई व्यक्ति किसी विशेष प्रकार का अभ्यास करे तो उसका परिणाम उलटा ही होता है। जो मनुष्य अपने मन को नियंत्रित करने की चेष्टा करता है और उसका मन इसके विरुद्ध जब हठ करना प्रारम्भ कर देता है, तो फिर उसकी चेतन भावनाओं के प्रतिकूल विचार अपने आप उठ जाते हैं, और वह जितना ही अधिक उन्हें मन से निकालने का प्रयत्न करता है उसके वे विचार और भी दृढ़ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार का उपदेश लाभदायक नहीं होता वरन् उससे हानि ही होती है। इस लिये सन्निर्देश के देने के पूर्व चेतना को सुप्त करना पहले आवश्यक होता है।

यहाँ दो बातों को ठीक से समझ लेना चाहिए। पहले तो जिस बात को हम बुरी समझते हैं उसमें ही भलाई देखने की चेष्टा करना आवश्यक है। रोगी के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना उसे रोगमुक्त करने के लिये पहली आवश्यकता है। इससे रोगी का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बन्द हो जाता है। रोगी किसी भयानक

आत्मग्लानिजनक अथवा शोकयुक्त घटना को भुलाने की चेष्टा करते रहता है। वह जितना ही अधिक इस प्रकार का प्रयत्न करता है उसकी अप्रिय स्मृति और भी प्रबल हो जाती है। उसके मन को अन्त में हार माननी ही पड़ती है। पर हार मानने के पूर्व उसकी मानसिक शक्ति का इतना ह्रास हो जाता है कि उसमें अनेक प्रकार की नई शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ आने की संभावना हो जाती है। मानसिक थकावट, चिड़चिड़ापन आदि तो उसमें हो ही जाते हैं, कभी-कभी उसे अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। इससे बचाने के लिये रोगी को अपनी अप्रिय स्मृति को भुलाने की चेष्टा को रोकना परमावश्यक है। यह प्रयास वह तभी बंद करेगा जब कि उसके दृष्टि कोण में परिवर्तन हो जावेगा। रोगी से अपने अप्रिय अनुभव भुलाने के बदले उसे कल्पना में चित्रित करने का आदेश देना चाहिए, अर्थात् रोगी द्वारा जिस भाव का पहले अभ्यास हो चुका है उसके ठीक प्रतिकूल भाव का अभ्यास कराया जाना चाहिये। जब हम किसी अप्रिय बात को भुलाने की चेष्टा करना छोड़ देते हैं तो वह हमारी चेतना से अपने आप ही लुप्त हो जाती है। इस प्रकार जब मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बंद हो जाता है तो हमारी बची मानसिक शक्ति शरीर और मन के पोषण में लग जाती है और मनुष्य शीघ्र ही मानसिक अथवा शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेता है।

दूसरी बात हमें यह स्मरण रखना है कि अचेतन मन को हम अपनी इच्छा से प्रभावित नहीं कर सकते। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी इच्छा से आत्म-निर्देश में काम लेगा वह उतना ही अधिक उसमें असफल होगा। उतावलापन इसमें बड़ा ही हानिकारक होता है। उतावलापन प्रबल इच्छा का सूचक है। इससे

अचेतन मन का विरोध उत्पन्न हो जाता है और इस तरह मनुष्य अपना लाभ न करके हानि करने में ही समर्थ होता है। मनुष्य आत्मनिर्देश में तभी सफल होता है जब वह इच्छा से काम नहीं लेता। वह इच्छा को एकदम उठाकर एक तरफ रख देता है। पर यह करना चेतन अवस्था में संभव नहीं। इसलिए चेतनाहीन अवस्था में ही किसी प्रकार का सन्निर्देश कार्य करता है। वही निर्देश सफल होता है जो या तो सोते समय अथवा सम्मोहित अवस्था में रोगी अपने आपको देता है।

हम रोगी को सोते समय शुभ निर्देश देकर रोग से मुक्त कर सकते हैं। सोते समय रोगी का चेतन मन सुप्तावस्था में रहता है, पर उसका अचेतन मन जागता रहता है। उसे जैसा निर्देश दिया जाता है वह वैसा ही कार्य करने लगता है। यदि किसी रोगी को सोते समय बार बार यह कहा जाय कि तुम थोड़े ही काल में स्वास्थ्य-लाभ कर लोगे तो वह धीरे धीरे स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। कभी-कभी रोगी के सम्बंधी रोगी के विषय में चिंता करते रहते हैं और उसके अच्छे हो जाने में सन्देह करते हैं। यह उनके भय के भावों के उत्तेजित होने से होता है। सम्बन्धियों के इस प्रकार के अदृश्य विचार रोगी के अचेतन मन को प्रभावित करते हैं इससे उसका रोग बढ़ता जाता है। रोगी के समक्ष कहे गये विचार जितने उसे प्रभावित करते हैं उससे कहीं अधिक उसकी अनुपस्थिति में प्रकट किये गये विचार उसे प्रभावित करते हैं। इसी तरह बालकों के हृदय पर वे विचार अवश्य प्रबल प्रभाव डालते हैं जिन्हें ऐसे हम समझते हैं कि बालक समझ नहीं सकता।

अस्तु, किसी भी प्रकार के आत्मनिर्देश को प्रभावित बनाने के लिए मन को शिथिल बनाना परमावश्यक है

जिससे कि संदेह की मनोवृत्ति का उदय न हो जावे। संदेह के रहने पर हमारे विचारों का उलटा प्रभाव पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति सब तरह के संदेह की मनोवृत्ति से मुक्त हो जाय तो उसका आत्मनिर्देश अवश्य सफल होगा। पर निर्देश में भी निर्देश देने वाले व्यक्ति के प्रति रोगी की श्रद्धा होना आवश्यक है। यही कारण है कि चिकित्सक उसी रोगी का कल्याण कर सकते हैं जिसकी श्रद्धा चिकित्सक पर है।

जो व्यक्ति आत्म-समर्पण की भावना का अभ्यास नित्य प्रति करते रहता है वह भी रोग से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। सब भले के लिये है, यह आत्म-समर्पण की भावना है। इससे इच्छा का विनाश होता है और जितना ही अधिक मनुष्य अपनी इच्छा को अपने मन से हटा सकता है वह उतना ही अपने आप को सन्निर्देश देने में सफल होता है। हमारे अचेतन मन की कल्पना चेतन मन के नियंत्रण में नहीं रहती वह परम पुरुष के नियंत्रण में ही रहती है। अपने मन को परमात्मा के भरोसे छोड़ने पर उसकी सभी क्रियायें रचनात्मक और कल्याणकारी हो जाती हैं।

निर्देश से मानसिक रोगों की चिकित्सा

आत्मनिर्देश की अद्भुत शक्ति से अभी तक बहुत कम लोग परिचित हैं। आत्मनिर्देश के द्वारा फ्रांस के प्रसिद्ध मानसिक रोगों के चिकित्सक रोगियों को अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त करते थे। फ्रायड महाशय मानसिक रोगों के उपचार की विधि जानने के लिये कूये महाशय के पास गये थे। उनके यहाँ रहने पर ही उन्हें मन की विलक्षण क्रियाओं का ज्ञान हुआ। पीछे मानसिक क्रियाओं पर विचार करते हुये उन्होंने मनो-

विश्लेषण विज्ञान का आविष्कार किया। मनोविश्लेषण विधि के आविष्कार के पश्चात् मनोवैज्ञानिकों ने आत्मनिर्देश पर खोज करना बंद कर दिया है।

कूये महाशय की निर्देश द्वारा रोगों की चिकित्सा करने की विधि निम्नलिखित थी। रोगी को पहले वे सब प्रकार के विचारों को बंद करने का आदेश देते थे। कई बार के आदेशों के पश्चात् रोगी नींद आने की अवस्था में हो जाते थे। फिर वे उनके मन में आरोग्य के विचारों का प्रवेश करते थे। बार-बार आरोग्य के निर्देश दिये जाने पर रोगी उन विचारों से प्रभावित हो जाता था। उसे सुझाया जाता था कि वह नीरोग हो रहा है। जब कई दिन तक उसके मन में इस प्रकार के विचार उठाये जाते थे तो उसे आरोग्य लाभ हो जाता था।

फ्रायड महाशय ने देखा कि कुछ रोगी आरोग्य लाभ करने के पश्चात् फिर से बीमार हो जाते हैं। उनको स्थायी स्वास्थ्य-लाभ नहीं होता। इसका कारण ढूँढ़ने से पता चला कि उनके मन में जो ग्रन्थियाँ हैं जबतक रोगी उनसे मुक्त नहीं होता, स्थाई लाभ नहीं होता। स्वास्थ्य के निर्देश गुप्त मानसिक ग्रन्थियों का दमनमात्र कर देते थे, उनका निराकरण नहीं करते। इसलिये ही बार-बार रोग की उपस्थिति होती है। रोगी जबतक अपनी चेतना पर मानसिक रोग के मूल कारण को नहीं लाता तबतक उसे सम्पूर्ण स्वास्थ्य लाभ नहीं होता। निर्देश के द्वारा मानसिक रोग का दमन हो जाता है, विनाश नहीं होता।

इस धारणा को मन में रखकर फ्रायड महाशय ने रेचनविधि का आविष्कार किया। मनोविश्लेषण मानसिक ग्रंथि की खोज के लिये किया जाता है। यही रोग का प्रमुख कारण है।

सांकेतिक चेष्टाओं, स्वप्नों, भूलों आदि के अध्ययन और सम्मोहन तथा शब्द संबन्ध की प्रक्रिया द्वारा इस ग्रन्थि की खोज की जाती है। आज इसी विधि का संसार में प्रचार है।

मान लीजिये किसी व्यक्ति ने कोई ऐसा काम कर डाला जिसके लिये उसे भारी आत्मग्लानि होती है। वह इस धारणा को भूलना चाहता है। वह घटना को ही भूल जाता है। पर वह अब मानसिक रोग का रूप धारण कर लेती है। वह वमन की बीमारी में परिणत हो जाती है अथवा सभी गंदे पदार्थों के प्रति अत्यधिक घृणा के रूप में परिणत हो जाती है। मनोविश्लेषण विधि से जब इस घटना का पता चल जाता है तो इसकी आत्म स्वीकृति उस रोगी से कराई जाती है। इससे रोग की समाप्ति होती है।

प्रकरण १८

आनापानसति और आरोग्य

आनापानसति और चित्त निरोध

पिछले प्रकरण में हमने आत्मनिर्देश का मानसिक चिकित्सा में महत्व बताने की चेष्टा की है। आत्मनिर्देश के अभ्यास में रोगी अपने अशुभ विचारों के स्थान पर शुभ विचारों को दृढ़ता से पकड़ता है और उन्हें अपने अचेतन मन में बैठा लेता है। जैसे-जैसे ये शुभ विचार उसके भीतरी मन के अंग बन ज़ाते हैं, उसे आरोग्य लाभ हो जाता है। प्रारंभ में प्रत्येक प्रकार का आत्मनिर्देश परनिर्देश ही रहता है। रोगी के अपने विचार पहले से कलुषित ही रहते हैं, अतएव उसमें शुभ निर्देश देने की शक्ति ही नहीं रहती। उससे इन विचारों को हटाकर उनके स्थान पर शुभ विचार को बैठा देने का काम सर्व प्रथम चिकित्सक करता है। बाद में रोगी स्वयम् अपने आपको शुभ निर्देश देते रहता है। किसी प्रकार का निर्देश तभी सफल होता है, जब उस पर संदेह नहीं किया जाता। यदि किसी निर्देश के विषय में तर्क-वितर्क मन में उठ पड़ें, तो वह निर्देश विफल बन जाता है। निर्देश चाहे अपने द्वारा दिया गया हो अथवा दूसरे के द्वारा, उसकी सफलता के लिये उस पर विलकुल न सोचना नितान्त आवश्यक है।

सोचना बंद कैसे किया जाय? सोचना बंद करने का एक साधन श्रद्धा की जागृति है, दूसरा साधन निद्रा है, तीसरा

साधन सम्मोहन है और चौथा साधन आनापानसति तथा शान्त भावना का अभ्यास है। चित्त निरोध में आनापानसति के अभ्यास की महत्ता भगवान् बुद्ध ने बताई है। इस अभ्यास को करते-करते साधक को समाधि-लाभ होता है। भगवान बुद्ध ने बताया है कि मानव को सदा तीन प्रकार के वितर्क बाधा डालते हैं—काम वितर्क, अमैत्री वितर्क और व्यापाद वितर्क। वितर्क वे विचार हैं जिन्हें हम नहीं चाहते परन्तु हमारी इच्छा के प्रतिकूल वे हमारे मन में घुस जाते हैं और यत्न करने पर भी वे हमारे मन से नहीं निकलते। काम वितर्क यौन-सम्बन्धी विचार होते हैं। इनके निराकरण के लिये वैराग्यभाव अथवा अशुभ भावना का अभ्यास करना पड़ता है। अमैत्री वितर्क के उपशमन के लिये मैत्री-भावना का अभ्यास करना पड़ता है और व्यापाद-वितर्क अर्थात् व्यर्थ-विचार के निराकरण के लिये आनापानसति का अभ्यास करना पड़ता है।

आनापानसति का अभ्यास है क्या ?

आनापानसति 'प्राण-अपान-स्मृति' का पाली भाषा का रूप है। यह एक प्रकार का प्राणायाम है, परन्तु जहाँ प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास के व्यायाम पर ही अधिक जोर दिया जाता है, वहाँ आनापानसति में चित्त निरोध पर जोर दिया जाता है। प्राणायाम से शरीर और मन की शक्ति बढ़ जाती है और अनेक प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। आनापानसति का ध्येय शारीरिक शक्ति बढ़ाना नहीं है और न शरीर-बल बढ़ा कर मनोबल बढ़ाना ही उसका ध्येय है। प्राणायाम में चित्त को एकाग्र करने का जो अभ्यास करना पड़ता है वह आनापानसति में नहीं करना पड़ता। आनापानसति में जो मनुष्य की साधारण श्वास आती-जाती है

उसी पर चित्त को एकाग्र करना होता है। इसमें पूरक, रेचक और कुंभक क्रियायें नहीं करनी पड़ती। आनापासति करते समय केवल श्वास को छोड़ कर और कोई भी चिन्तन का विषय नहीं रहता। मंत्र, ईश्वर-ध्यान आदि सभी से मन को हटा लिया जाता है। ये सभी चिन्तनीय विषय समाधि-प्राप्ति में बाधक होते हैं। आनापानसति मनोनाश का सहज साधन है। जब तक मनुष्य का मन है, तब तक ही जीव और परमात्मा का भेद उपस्थित रहता है, जब मन शान्त हो जाता है, तो जीव स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है।

आनापानसति यौगिक अभ्यास है। इसे भली प्रकार से सजग और स्वस्थ व्यक्ति ही कर सकते हैं। इसे प्रायः बैठ कर ही किया जाता है। अधिक अभ्यास होने पर इसे चलते-फिरते और सोते समय भी साधक किया करता है। रोगी मनुष्य इस अभ्यास को करने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। स्वस्थ्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसका मन अधिक चंचल होता है। सामान्यतः मानसिक रोगी किसी स्थान पर एक घंटे तक बैठ ही नहीं सकता है। अतएव जब इस उपचार को मानसिक चिकित्सा में काम में लाया जाता है, तब रोगी को बिस्तर पर लिटा दिया जाता है और लेटकर ही उसे इस अभ्यास को करने का निर्देश दिया जाता है। चिकित्सक को रोगी के पास ही बैठे रहना पड़ता है और उसे अभ्यास में प्रोत्साहित करते रहना पड़ता है। रोगी से कह दिया जाता है कि इस अभ्यास को करते-करते उसे नींद आ जायगी। यदि रोगी की चिकित्सक पर श्रद्धा है तो उसे जल्दी से नींद आ भी जाती है। रोगी को कहा जाता है कि जैसे-जैसे तुम श्वास लोगे, तुम्हारे अंग-प्रत्यंग शिथिल होते जायेंगे। पहले हाथ और पैर की अँगुलियाँ

शिथिल होंगी फिर पैर की पिंडली और हथेली इसके बाद यह शैथिल्य-क्रम धीरे-धीरे सिर की ओर बढ़ते जायगा। जब सिर में भी शिथिलता आ जायगी, तब नींद आ जायगी। ऐसा कहने से इसी प्रकार शिथिलता आती भी है परन्तु न कहने पर भी अंग ढीले हो जाते हैं और नींद आ जाती है। किसी-किसी रोगी को पहले ही दिन अभ्यास करते-करते नींद आ जाती है। यदि किसी रोगी को पहले ही दिन नींद आ गई तो रोगी का किसी भी प्रकार का मानसिक रोग अवश्य अच्छा हो जाता है। कई रोगी अनुभव करते हैं कि पहले ही दिन उनका आधा रोग चला गया।

आनापानसति का अभ्यास रोगी यदि अपने आप ही करने लग जाय तो सफलता मिलने की बहुत कम संभावना रहती है। जिस व्यक्ति की तर्क-बुद्धि जितनी प्रवीण होती है, उसे आनापानसति का अभ्यास करना उतना ही कठिन होता है। ऐसे व्यक्ति को इस अभ्यास को करते-करते नींद नहीं आती और जब रोगी को आनापानसति का अभ्यास करते-करते नींद न आये, तो रोग के ढीले पड़ने की भी संभावना कम रहती है। आनापानसति के द्वारा मनुष्य के अचेतन मन का नव निर्माण होता है। यह निर्माण का कार्य रोगी के अन जाने ही होता है। जब किसी व्यक्ति के दमित आवेग बहुत ही प्रबल होते हैं, जब रोगी की दमित भावना अत्यंत प्रबल होती है, तब वह इस अभ्यास को कर ही नहीं सकता, अतएव आनापानसति का अभ्यास किसी व्यक्ति से कराने के पूर्व उसकी गुप्त अनुभूतियाँ लिखाई जाती हैं, उसके स्वप्न सुने जाते हैं और उससे अनेक प्रकार के अनुष्ठान कराये जाते हैं, जिससे उसकी दमित पाप-भावनायें ढीली पड़ जायँ। इस प्रकार इन कामों के करने से उसकी चिकित्सक में

और चिकित्सा-प्रणाली में श्रद्धा भी उत्पन्न हो जाती है। इस श्रद्धा के बिना रोगी के अचेतन मन पर चिकित्सा का कोई प्रभाव नहीं रहता और बिना इस प्रभाव के रोगी का भीतरी मन चिकित्सक के आरोग्य-निर्देश को ग्रहण नहीं करता। अतएव साधारणतः किसी भी रोगी को प्रारंभ में ही आनापानसति का अभ्यास नहीं कराना चाहिये।

आनापानसति और सम्मोहन

आनापान सति का अभ्यास एक प्रकार का सम्मोहन का अभ्यास है। जिस प्रकार सम्मोहन में चित्त को एक पदार्थ पर केन्द्रित किया जाता है उसी प्रकार इसमें भी चित्त को केन्द्रित किया जाता है और जिस तरह सम्मोहन में प्रयोज्य सम्मोहित होकर सो जाता है, उसी प्रकार आनापानसति में भी वह सो जाता है। जिस प्रकार सम्मोहित अवस्था की अनुभूतियाँ उसी प्रकार की होती हैं, जिस प्रकार का निर्देश प्रयोज्य को दूसरा व्यक्ति देता है अथवा वह स्वयम् अपने आप को देता है, इस अभ्यास में भी ऐसा ही होता है। सम्मोहन और आनापानसति में भेद इतना ही है कि सम्मोहन में प्रयोज्य को प्रयोगकर्ता सम्मोहित अवस्था में रखते हुये अनेक काम कराता है, वह खोई स्मृतियों को याद कराता है अथवा विशेष प्रकार के भावावेशों का अनुभव कराता है किन्तु आनापानसति में यह सब नहीं होता। सम्मोहित अवस्था में प्रयोज्य पूर्णतः सम्मोहक के वश में रहता है और वह उसे स्वावलम्बी नहीं होने देता, आनापानसति में रोगी चिकित्सक के वश में तो रहता है, परन्तु चिकित्सक उसे स्वस्थ्य तथा स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा करता है। वह उसे अपनी कठपुतली बनाकर नहीं नचाता है।

आनापानसति की सफलता के लिये रोगी को जब लिटा दिया जाता है और जब श्वास-प्रश्वास पर ध्यान देने से उसके अंग ढीले हो जाते हैं, तो सिर से पैर तक उसके ऊपर हाथ ही फेरा जाता है। यह हाथ का फेरना रोगी को स्वास्थ्य का निर्देश देना है। अपनी अर्धसुप्तावस्था में रोगी इस हाथ के फेरने का अनुभव विलक्षण प्रकार से करता है। एक रोगी को जिसको स्नायविक खिंचाव अत्यधिक बढ़ गया था, ज्ञात हुआ मानो उसकी शरीर में बिजली की लहर प्रवेश कर रही हो; एक दूसरे रोगी को जिसे पेट का शूल था, ज्ञात हुआ मानो उसके पेट के भीतर से बड़ा पत्थर निकाल कर फेंक दिया गया हो; सिर की पीड़ा से व्यस्त एक रोगी को अनुभव हुआ जैसे उसकी पीड़ा किसी यंत्र से खींच ली गई हो। सभी रोगियों को एक विशेष शान्ति भाव की इससे अनुभूति होती है और इसमें पड़ कर सो जाते हैं। जब वे सोकर उठते हैं, तब अपने भीतर नवस्फूर्ति और आत्मविश्वास की अनुभूति करते हैं।

आनापानसति का अभ्यास सम्मोहन का अभ्यास नहीं है यद्यपि उसके ऊपरी लक्षण सम्मोहन के समान हैं। सम्मोहन मनुष्य को परावलम्बी बनाता है और आनापान सति उसे स्वावलम्बी बनाता है। सम्मोहन के लिये दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति नितांत आवश्यक है, आनापानसति एक ऐसी साधना है जिसे प्रत्येक व्यक्ति एकान्त में कर सकता है। साधारणतः यह अभ्यास रोगियों से एक ही बार अपने सामने कराया जाता है और बाद में उन्हें आदेश दिया जाता है कि वे उसी प्रकार स्वयम् इसे करते रहें। हमारे यहाँ आने वाले ऐसे सभी रोगी एक दो बार इस अभ्यास के कराये जाने के बाद

स्वतः इसे अपने घर पर करते रहते हैं और इस प्रकार अभ्यास के करते रहने से वे अपने दीर्घ-कालीन मानसिक रोग से मुक्त हो जाते हैं। सम्मोहन के प्रयोग करने से प्रयोज्य का मन दुर्बल हो जाता है। उसके मन का विभाजन हो जाता है। जिन बालकों को प्रयोज्य रूप सम्मोहक अपना चमत्कार दिखाने के लिये काम में लाते हैं, वे अपनी मानसिक एकता को खो देते हैं। अतएव सम्मोहन के तमाशे को बंद करना आवश्यक है। केवल चिकित्सा के कार्य में सम्मोहन का प्रयोग करना वांछनीय है। इसका उपयोग चिकित्सक दमित स्मृतियों को चेतना के सतह पर लाने के लिये करते हैं। इसका उपयोग तभी तक किया जाता है जब तक व्यक्ति अस्वस्थ है। जैसे-जैसे रोगी का मानसिक विभाजन समाप्त होते जाता है उसका सम्मोहित होना बंद हो जाता है।

आनापानसति सब के लिये उपयोगी है। आनापानसति रोगी की अपेक्षा स्वस्थ पुरुष अधिक सफलता पूर्वक कर सकता है। इस अभ्यास का करना न केवल मानसिक रोगों से मुक्त होने के लिये उपादेय है वरन् अपनी सामान्य मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये—जैसे स्मरण शक्ति, चित्त की एकाग्रता, आत्मविश्वास, काम में लगन और जटिल आदतों से मुक्ति आदि लाभ के लिये भी यह अभ्यास उपयोगी है। आत्म-निर्देश से ये सभी मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं और आनापान-सति आत्मनिर्देश को सफल बनाने का साधन है।

आनापान सति और दमितभावों का प्रादुर्भाव

आनापानसति का अभ्यास मनुष्य की चेतना को बाहर जाने से रोक देता है और उसका प्रवाह भीतर की ओर कर देता है। इससे मनुष्य की प्रसुप्त वासनाएँ चेतनावस्था में

आजाती हैं। जो वासनाएँ अज्ञात रहने के कारण अनेक प्रकार के उत्पात मचाती हैं वे प्रकाश में आने पर शक्तिहीन बन जाती हैं। इस अभ्यास को करते समय कुछ मानसिक रोगियों को बहुत विलक्षण अनुभूतियाँ हुई हैं। उनके कुछ अनुभव इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

एक मानसिक रोगी को, जिसकी उमर ५० वर्ष की थी, जब आनापान सति का अभ्यास कराया गया तो प्रारंभ में उसके हाथ एकाएक इस प्रकार हिलने लगे जैसे वे मशीन के पुर्जे हों। फिर वह मुट्ठी बाँधकर अपनी छाती कूटने लगा। इसके बाद वह गरदन १५–२० मिनट तक मशीन के समान हिलाते रहा। कभी कभी यह रोगी अपनी गरदन इस तरह ऐंठता था कि मालूम होता था कि वह टूट जायगी। इस प्रकार की क्रियाएँ एक-डेढ़ घंटे तक होती रहतीं थीं। इनके करने से कभी कभी वह जाड़े के दिनों में भी पसीना-पसीना हो जाता था।

इस रोगी को बहुत दिन का न्युरस्थेनियाँ का रोग था। इसके कारण वह क्षण भर भी चैन से नहीं बैठ सकता था। शरीर में एक्जिमा और दमा का भी रोग था। कभी २ वायु विकार इतना बढ़ जाता था कि उसके मारे चैन नहीं मिलती थी। एक्ज़िमा के दमित होने पर मानसिक बेचैनी विशेष प्रकार से बढ़ जाती थी। इस रोगी को भूत-प्रेत से भी डर लगता था। वह पीपल, ताड़ और वेल के पेड़ से डरा करता था। ऐसे तो यह रोगी वैज्ञानिक विचार धारा का भी था तिसपर भी इसे भूत का भय त्रास देता था। इस रोगी को आनापानसति का अभ्यास करते समय जो अनुभूतियाँ होती थीं वे उसे मनोविज्ञानशाला में ही अभ्यास करने से होती थीं। इसी अभ्यास को घर पर करने से ए अनुभूतियाँ नहीं होती थीं। तीन सप्ताह तक

अभ्यास करने के बाद इस रोगी की विलक्षण प्रकार के भयावने दृश्य आनापानसति का अभ्यास करते समय अर्द्धसुप्त अवस्था में दिखाई देने लगे। एक बार उसने देखा कि एक २० फुट ऊँचा दैत्याकार आदमी उसके सामने खड़ा है। वह एक हाथ में कटा सिर, जिसमें से रक्त गिर रहा है लिये है। इस दृश्य को देखकर रोगी कुछ डरा परन्तु तिसपर भी वह घबड़ाया नहीं। दूसरे दिन भी उसने देखा कि वह उसके सामने उसी प्रकार उपस्थित है। तीसरे दिन उसने बिभिन्नप्रकार की डरावनी आकृतियों को देखा। परन्तु इनके उपस्थित होते हीं एक गदाधारी भीमकाय व्यक्ति को भी देखा जिसने अपनी गदा से उन डरावनी आकृतियों को मार मार कर भगा दिया। बाद में जब कभी भयावनी शक्लें दिखाई देतीं थीं तो रोगी उस गदाधारी देव को याद करता था और उसके आते हीं वे भयावनी शक्लें भाग जाती थीं।

जैसे जैसे रोगी को उपर्युक्त अनुभूतियाँ होती गई वैसे-वैसे उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होते गया। एक बार उसकी मनोदशा इतनी विकृत हो गई थी कि उसे सभी चीजों से डर लगने लगा था। उसे पहले लाल और सफेद रंग के कपड़ों से डर लगता था। किसी नये आदमी से बात करने से डर लगता था। बिजली के खंभों से डर लगता था। अपने पहनने के कपड़ों से डर लगता था, अतएव वह नया कपड़ा पहन नहीं सकता था। कभी कभी उसे अपने हाथों से डर लगता था और कभी शीशे में अपना चेहरा देखने से भी डर लगता था। उसे ऐसा लगता था कि मानो किसी दूसरे का चेहरा शीशे में है और उसे डरा रहा है। आनापानसति का अभ्यास करते करते उसका सभी प्रकार का डर समाप्त हो गये।

उसका वायु विकार भी घट गया। दो महीना अभ्यास करने के पश्चात् रोगी को किशोर अवस्था की काम वासना सम्बन्धी ऐसी स्मृतियाँ जागृत हुईं, जिसके कारण उसे भारी आत्मग्लानि हुई थीं। ए सभी अनुभव रोगी भूल चुका था। उसे किशोर अवस्था में भी एक बार मुर्दे को देख कर प्रवल भय उत्पन्न हो गया था। इसके बाद उसे काम वासना सम्बन्धी सभी बातों के प्रति घृणा हो गई थी। बाद में उसे नपुंसकता का भी भ्रम हो गया था। इसके कारण उसने अपना विवाह अधिक उमर होने पर कराया। विवाह होने पर भी स्त्री से उसकी हार्दिक एकता कभी न स्थापित हो पायीं।

आनापानसति का अभ्यास करते समय जो दृश्य रोगी देखता है अथवा जो स्मृतियाँ जागृत होती हैं, उन सबको रोगी चिकित्सक को कह सुनाता है। जैसे-जैसे वह सचाई के साथ अपनी सभी अनुभूतियों को चिकित्सकसे कहता है, उसके मन का भार हलका होता जाता है और रोग भी समाप्त होता जाता है। अधिक उमर हो जाने पर ये स्मृतियाँ सरलता से जागृत नहीं होती। रोगी के स्वाभिमानका भाव उन्हें चेतना की सतह पर आने में भारी अड़चन डालता है। युवावस्था में ये स्मृतियाँ बहुत ही जल्दी चेतना की सतह पर आ जाती हैं और रोग शीघ्रता से समाप्त हो जाता है।

एक १८ वर्षीय युवक को प्रमेह का रोग हो गया था। इसको सिर की घोर पीड़ा और आँखों का दर्द भी था, जिसके कारण वह पढ़ नहीं सकता था। इनके कारण वह अपना चित्त पढ़ाई में नहीं लगा पाता था। वह साधारणतः प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी था। इन्टर परीक्षा में उसने अपनी कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। परन्तु बी० ए० के प्रथमवर्ष

में वह इस रोग के कारण फेल हो गया। जब यह रोगी मनोविज्ञानशाला में आया और जब उससे शान्त भावना का अभ्यास कराया गया, तो वह पहले सो गया। पीछे वह पेशाब करने उठा और जब पेशाब से लौटकर आया तब रोने लगा। वह बहुत देर तक रोते रहा। इसके बाद उसे फिर सुला दिया गया। जब दूसरी बार वह उठा तब वह बहुत ही हँस रहा था। उसे एक कमरे में ले जाया गया। वहाँ वह बहुत जोर-जोर से चिल्लाकर उछलने कूदने लगा और कहता था, 'मैं विवेकानन्द हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। मैं सबको मार भगाऊँगा'। वह इस प्रकार हाथ पैर फटकार रहा था जैसे किसी से लड़-झगड़ रहा हो। यह सारा दृश्य एक घण्टे तक होता रहा। उसे पीछे कहा गया कि वह शान्त भाव से कुर्सी पर बैठ जाय। वह कुर्सी पर बैठकर गाना गाने लगा। गाने की एक कड़ी है—

'हम देश के वीर हैं, देश का उद्धार करेंगे'।

इस विद्यार्थी को इस प्रकार की अर्द्धचेतन अवस्था में ही भोजन कराया गया और सुला दिया गया। जब वह सवेरे उठा तो पिछली दिन की सब घटनाओं के बारे में उससे पूछा गया। उसने बतलाया कि उसने जो कुछ क्रियाएँ अपने अर्द्धसुप्त अवस्था में की वह सभी याद हैं। वह जो कुछ करता था वह सब अनिवार्य रूप से उससे होता था। अपनी क्रियाओं को वह रोक नहीं सकता था। विशेष महत्व की बात तो यह है कि इस रोगी का बहुत कुछ रोग पहले दिन ही इस प्रकार के असाधारण अनुभूति के बाद समाप्त हो गया। उसकी सिर की पीड़ा तो सब समय के लिये ही एकाएक चली गई।

इस रोगी ने नियमित रूप से आनापानसति का अभ्यास किया। आनापानसति का अभ्यास करते समय जो भी दृश्य

उसे दिखाई पड़ते थे उन्हें वह प्रतिदिन कह सुनाता था। उसने अपने जीवन की कामवासना सम्बन्धी सभी अनुभूतियाँ कह सुनाईं। ये सब बातें सुनाते-सुनाते उसकी अनेक प्रकार की कामकुटेवों का भी अन्त हो गया। यह विद्यार्थी फिर से मनोयोग के साथ पढ़ने लगा। उसने अपनी सभी परीक्षाएँ अच्छे श्रेणी में पास की और अब यह एम० ए० पास करके प्राध्यापक हो गया है।

एक तीसरे युवक को रातको सोते-सोते उठकर चलने का अथवा चिल्लाने का रोग था। इसकी उमर २३ साल की थी और वह एक कालेज का प्राध्यापक था। आनापानसति का अभ्यास करने पर उसे तीन वर्ष की अवस्था तक की ऐसी स्मृतियाँ जागृत हो गईं, जो बड़ी वेदनाकारक थीं। तीन साल की अवस्था में इस व्यक्ति के पिता के यहाँ एक भारी चोरी हुई, जिससें घर का सब माल-टाल चोरी हो गया। इस घटना के बाद पुलिस ने आकर चोरी का पता चलाने के लिये घर के बहुत से नौकरों को पीटा। पीटे जानेवाले व्यक्तियों में एक ऐसा भी व्यक्ति था जो इस लड़के को खिलाया करता था और रिश्ते में इसका मामा लगता था। इसका चिल्लाना और कराहना शिशु के लिये असहनीय था। इस स्मृति के जागृत होने पर स्वप्न में भागने अथवा चिल्लाने का रोग समाप्त हो गया।

एक दूसरे नवयुवक को मूर्छा का रोग था। यह रोग उसे पहले पहल स्वप्नावस्था में प्रारंभ हुआ। रोगी ने अपने सपने में देखा कि उसका एक मित्र, जिसकी मृत्यु क्षय रोग से हो चुकी थी स्वप्न में उसे केला देता था। रोगी केला नहीं लेता है। पीछे यही मित्र इससे सर्प बनकर लपट जाता है। वह उसके

दाहिने हाथ से लपटना शुरू करता है और जैसे वह उसकी बाँह तक पहुँचता है, वह बेहोश होता जाता है। इस तरह स्वप्न में ही वह पूरा बेहोश हो गया। बाद में उसे जब कभी मूर्च्छा का दौरा होता था तो उसका प्रारंभ अंगूठे की फनफनाहट से होता था। यह फनफनाहट ऊपर की ओर बढ़ती जाती थी और जब यह कंधे के ऊपर जाती, तब रोगी मूर्च्छित हो जाता था।

आनापानसति का अभ्यास करने पर रोगी अनेक प्रकार की ऐसी शारीरिक चेष्टाएँ करने लगा जो प्रतीक रूप से काम की तृप्ति की द्योतक थीं। उसका हाथ का हिलाना, जाँघो का हिलाना और सारे शरीर का हिलाना उसी प्रकार से होता था। ये सभी चेष्टाएँ रोगी के अर्द्ध चेतन अवस्था में होती थी और उनपर रोगी का कोई नियन्त्रण नहीं था। रोगी प्रतिदिन इस अभ्यास को करता था और प्रतिदिन ये चेष्टाएँ होती थीं। उसकी दमित-स्मृतियाँ इस अभ्यास को करते २ जागृत हुई। उसके किशोर अवस्था के काम वासना सम्बन्धी अनुभवों को जानने से पता चला कि इसके ही एक मित्र ने इसे समलिंगी कामतृप्ति का साधन बनने के लिये राजी कर लिया था। इसके कारण उसे भारी आत्मग्लानि हुई थी। यह वासना दमित होकर मूर्च्छा के रोग में उद्भूत हुई। आनापानसति के अभ्यास से जैसे-जैसे दमितस्मृति चेतना के सतह पर आई, उसका मूर्च्छा का रोग समाप्त हो गया।

आनापानसति मानसिक शैथिलीकरण प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है। इसकी उपयोगिता आधुनिक युग के कुछ मानसिक चिकित्सकों ने भली प्रकार से जानी है। डा० विलियम ब्राउन ने हजारों मानसिक रोगियों को आनापानसति के द्वारा मानसिक शैथिलीकरण कराके ठीक किया है। उनका कथन है कि यदि कोई

रोगी विस्तर पर लेटकर स्वाँस को धीरे-धीरे पूरी तरह से लेवे और छोड़े तो वह देखेगा कि जैसे २ वह श्वाँस को छोड़ता है उसकी शरीर के विभिन्न स्नायु शैथिलीकरण की अवस्था में आ जाते हैं। यदि वह बिना यत्न किये हुये अपने हाथ की पेशियों की शैथिलीकरण पर ध्यान दे, तो यह शैथिलीकरण हाथ से आगे बढ़कर भुजाओं पर और सिर की ओर बढ़ता है। इसी तरह पैर से वह शुरू होकर हाथ, गरदन और सिर तथा चेहरे पर फैल जाता है। एक घंटा तक इस अवस्था में पड़े रहने पर रोगी को भारी मानसिक आराम आरम्भ होता है और अगर वह इसी अवस्था में पड़े २ सो जाय तो भारी लाभ होता है। इस प्रकार के अभ्यास को प्रारंभ में चिकित्सक रोगी को कुछ शिक्षा देकर करा सकता है; बाद को रोगी स्वयं कर ले सकता है। इस अभ्यास से अनिद्रा और अकारण भय और चिन्ताएँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

---

* Perhaps I should emphasize here the therapentic value of mascular relexation and deep breathing exercises; whether accompanied by suggestion treatment or not. If a patient breathes slowly and regularly while lying on a couch, he will find that with every expiration his voluntary muscles tend to become more and more relaxed. If he concentrates, without effort, upon the relaxation of the small muscles of the hands and feet, he will find that the musclar relaxation which starts there tends to spread to the larger muscles of the arms and legs and on to the muscles of the trunk, neck, head and face. Rest, for an hour at a time, under these conditions is markebly recuperative, and if the patient falls deep during the process he gains still more benefit thereby. My war patients derived great help from this from of relaxation treatment, and after a little instruction from me were able to carry it out by themselves. Insomania and vague anxiety responded well to this treatment.—William Brouen—*Psychology and Psychotherapy* P. 80.

प्रकरण १९

स्वप्न और मानसिक चिकित्सा

स्वप्नों की महत्ता

मानसिक रोगों की चिकित्सा में रोगी के स्वप्नों के अध्ययन का बड़ा ही महत्व है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार रोगी के स्वप्न रोगी के गुप्त भावों को जानने के सर्वोत्तम साधन हैं। स्वप्न के द्वारा हम किसी भी रोगी के अचेतन मन से सम्पर्क स्थापित करते हैं और यदि हम उसके स्वप्नों का अर्थ समझ जायँ, तो हम उसके रोग के कारण को भली प्रकार से समझ सकते हैं।

प्रत्येक रोगी के चेतन और अचेतन मन में विरोध रहता है। रोग का कारण रोगी की कोई ऐसी दमित भावना होती है, जिसे चेतना के समक्ष आने की छूट नहीं रहती; जिसके चेतन मन के समक्ष आने पर व्यक्ति को भारी लज्जा, आत्मग्लानि, शोक अथवा भय का अनुभव होता है। अतएव यदि हम रोगी से उसके रोग का कारण जानने की चेष्टा करें, तो उसके रोग का कारण जानने में हम कभी भी सफल नहीं होंगे। रोगी स्वयं अपने रोग के कारण को नहीं जानता। रोगी का वह अंग, जो उसके रोग का कारण है, स्मृति-पटल पर नहीं आता। यदि रोगी अपने उस अप्रिय अनुभव को स्मरण कर सके, जो रोग का कारण है, तो उसका रोग ही नष्ट हो जाय।

रोगी से जब अपने जीवन की पुरानी वार्ताओं को बताने के लिये कहा जाता है, तब वह प्रायः उन्हीं बातों को कहता है,

जिनका उसके रोग से कोई संबंध नहीं है। जो घटनायें उसके रोग से विशेष संबंध रखती हैं, वे प्रकाश में आने से डरती हैं। रोगी इन्हें भुलाने का विशेष प्रयत्न करता है। इस प्रकार चिकित्सक रोग के वास्तविक कारण को, जो कुछ रोगी उससे कहता है उससे नहीं, वरन् जो वह छिपाने की चेष्टा करता है, उससे ही अनुमान लगाता है। मन की इस छिपाने की क्रिया को स्वयं रोगी नहीं जानता। रोग के कारण का छिपाना उसके अचेतन मन का कार्य है। जो व्यक्ति बुद्धि में जितना ही कुशल होता है, वह अपने मानसिक रोग का कारण उतना ही कम जानता है। ऐसे रोगी की चिकित्सा करना बड़ा ही कठिन है। अशिक्षित और भोले-भाले रोगी से बातचीत करके, उसके हाव-भाव देखकर, उसके अतीत का अध्ययन करके, उसके रोग के कारण को भले ही समझ लिया जाय, किन्तु पढ़े-लिखे, विद्वान और प्रखर बुद्धि के व्यक्ति के रोग के कारण को इस प्रकार समझना अत्यन्त कठिन है।

जब ऐसे चतुर और प्रखर बुद्धिवाले व्यक्ति को मानसिक रोग होता है, तब ऐसे व्यक्ति के अचेतन मन तक पहुँचने के लिये उसके स्वप्नों के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता। बच्चे और अपढ़ लोगों को सम्मोहित करके उनके रोग का कारण जाना जा सकता है; परन्तु आलोचनात्मक मनोवृत्तिवाले व्यक्ति को सरलता से सम्मोहित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में मानसिक रोग के अध्ययन में स्वप्न बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है।

स्वप्नों की प्रतीकता

स्वप्न में रोगी की वासना प्रतीक रूप से चेतना की सतह पर आती है। स्वप्न की भाषा विशेष प्रकार की होती है। इस

भाषा का अर्थ लगाना एक बड़ा ही कठिन कार्य है। डाक्टर फ्रायड ने स्वप्न की भाषा का, अर्थात् स्वप्न के प्रतीकों का अर्थ लगाने की चेष्टा की है। स्वप्न में मनुष्य की दबी वासना अनेक प्रकार से छिप कर चेतना के सतह पर आती है। वह अपने प्रकाशन के लिये इस प्रकार के प्रतीक चुनती है, जिनका अर्थ सरलता से रोगी के चेतन मन की समझ में न आवे और न कोई दूसरा व्यक्ति ही उसका अर्थ लगा सके। रोगी के चेतन और अचेतन में विरोध रहने पर उसे स्वप्न ही नहीं होते, और वे यदि होते भी हैं तो रोगी जागते ही उन्हें भूल जाता है। जबतक रोगी को स्वप्न होते हैं तब तक रोगी का मानसिक रोग उग्र रूप धारण नहीं कर पाता, क्योंकि स्वप्नों के द्वारा प्रकाशित होकर रोगी की अचेतन मन की दमित वासना की शक्ति क्षीण होती रहती है। जब रोगी को स्वप्न आना बंद हो जाता है तब उसका रोग बढ़ जाता है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार स्वप्न नींद का विनाशक नहीं है, वरन् नींद का रक्षक है। कभी-कभी स्वप्नों के बन्द होने से रोगी को नींद भी नहीं आती।

स्वप्न का उपयोग

मानसिक चिकित्सा की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को प्रायः स्वप्न ही नहीं होते। यदि उसे कोई स्वप्न होते भी हैं, तो वे उसे याद नहीं रहते। जब रोगी को वे याद रहने लगें तब समझना चाहिये कि रोगी और चिकित्सक के बीच सद्भावना की वृद्धि हो रही है, अर्थात् अब रोगी का अचेतनमन चिकित्सक को प्रेमपूर्वक देखने लगा है। रोगी अपने स्वप्नों को जैसे-जैसे चिकित्सक से कहता है, वैसे-वैसे उसके दमित स्नेह के भाव चिकित्सक के व्यक्तित्व पर अधिकाधिक आरोपित होते जाते हैं। किसी भी व्यक्ति के दिवास्वप्न, रात्रिस्वप्न, अथवा

मानसिक रोग जन्य प्रलापों को जो व्यक्ति रुचिपूर्वक सुनता है, वह उस व्यक्ति का प्रिय बन जाता है। इस प्रकार रोगी के मन पर दूसरे व्यक्ति का प्रभाव बढ़ जाता है। रोगी के स्वप्न प्रेम से सुनने का सबसे बड़ा महत्व का परिणाम यही होता है कि चिकित्सक रोगी का स्नेह भाजन बन जाता है और इस प्रकार वह रोगी के अचेतन मन में प्रवेश पा जाता है। इस प्रवेश के पानेपर रोगी की दमित भावनाओं को चिकित्सक जिस ओर मोड़ना चाहे, वह मोड़ सकता है। इस प्रकार रोगी के स्वप्नों का अध्ययन न केवल रोगी की अचेतन भावना के जानने का सर्वोत्तम उपाय है वरन् यह रोगी के अचेतन मन को प्रभावित करने और उसके रोग के विनाश का सर्वोतम साधन भी है।

जैसे-जैसे रोगी की चिकित्सा होती जाती है, उसके स्वप्नों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते जाते हैं। रोगी का चेतन मन उसके रोग के कारण को भले ही न जाने पर उसका अचेतन मन रोग का कारण भली प्रकार से जानता है और जब चिकित्सक से समरसता, सहानुभूति अथवा स्नेहका भाव उत्पन्न हो जाता है तब रोगी का अचेतन मन चिकित्सक को न केवल रोग का कारण वरन् रोग के समाप्त करने का उपाय भी बतला देता है।

कुछ मानसिक चिकित्सक अपने आप तटस्थ रहकर रोगी के अचेतन मन से उसके रोग की चिकित्सा का मार्ग प्रस्तुत करने का उसे सुझाव देते हैं। किसी भी रोगी के प्रति दिन के स्वप्न के अध्ययन द्वारा रोग का कारण और उसकी चिकित्सा के उपाय जाने जाते हैं। रोगी की मानसिक चिकित्सा में उन स्वप्नों का विशेष महत्व है, जो रोगी को बारंबार होते हैं और जिन्हें रोगी चिकित्सक को बताने के लिये बड़ा ही उत्सुक रहता है। बार-बार होनेवाले स्वप्न रोगी की वासना को प्रत्यक्ष करते

हैं। वे उसकी महत्वाकांक्षा और उसमें बाधा डालनेवाले तत्वको मिलाते हैं।

स्वप्ननिर्देश

कभी-कभी स्वप्न अचेतन मन द्वारा चाही हुई भावी दुर्घटना के प्रति मनुष्य को चेतावनी देते हैं। इस प्रकार के स्वप्नों में रोग का कारण अवश्य ही पाया जाता है। मनोविज्ञानशाला में आये एक हृदय के रोगी-युवक को बार-बार स्वप्न होता था कि उसके सामने ११ रत्नराशियाँ पड़ी हुई हैं और रोगी इन रत्नराशियों को जब भी छूना चाहता है, उसे तभी कोई सर्प काट लेता है या शैतान पकड़ लेता है, अथवा कोई औघड़ उसे त्रिशूल मार देता है। इस स्वप्न के देखने के पश्चात् उसकी नींद टूट जाती है और वह हृदय के रोग से पीड़ित होकर जाग उठता है। इस रोगी ने इस रोग के विशेषज्ञों से अपने रोग का पर्याप्त उपचार कराया, परन्तु कोई भी डाक्टर उसे रोगमुक्त न कर पाया। इस रोग के सर्वश्रेष्ठ डाक्टरों ने बताया कि उसके हृदय में इस प्रकार की कोई क्षति ही नहीं जिससे उसे हृदय की पीड़ा हो, अर्थात् उसका रोग वास्तव में शारीरिक नहीं मानसिक है। इस व्यक्ति का यह रोग उसे अपने पिता से मिला था। रोगी के पिता की मृत्यु इसी रोग से हुई थी। उसके पिता योगाभ्यास करते थे। उन्होंने इससे पर्याप्त मानसिक शक्ति का संचय किया था। पिता ने यह अभ्यास पुत्र को सिखाया था और वह इसके द्वारा भारी शक्तिधारी बन जाना चाहता था, परन्तु उसका हृदय इस अभ्यास का विरोधी था। अभ्यास करने से रोगी का अपने पिता के साथ आत्मसात् हो गया और वह अपने आप में उस रोग का अनुभव करने लगा, जो उसके पिता में था। रोगी की वासना उसे अपने लक्ष्य तक

पहुँचने में बाधक थी। यही उसके स्वप्न में कहीं सर्प, कहीं शैतान और कहीं त्रिशूल बनकर उपस्थित होती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बार-बार होनेवाले स्वप्न विशेष महत्व रखते हैं।

परीक्षा में फेल होने का स्वप्न, अपने प्रियजनों को संकट में पड़े देखने का स्वप्न, समीपस्थ संबन्धी की मृत्यु का स्वप्न रोगी की दमित भय की भावना का रेचन करते हैं और उसे आरोग्य-लाभ करने में सहायक होते हैं। कितने ही रोगियों को यह भय लगा रहता है कि उनके पिता की अथवा बड़े भाई की मृत्यु न हो जाय, वे किसी संकट में न पड़ जाय, कोई दुर्घटना न हो जाय। इस प्रकार के भय के अनुभव को व्यक्ति अपनी निद्रावस्था में देखता है। ऐसे व्यक्ति का अचेतन मन उन संबंधियों का विरोधी रहता है, जिन्हें वह अपना स्नेही और श्रद्धालु मानता है और जिनपर वह आश्रित भी हैं। जब ऐसे व्यक्ति के दमित भावों का बात-चीत द्वारा रेचन हो जाता है और प्रति-भावना के अभ्यास के द्वारा इनमें परिवर्तन हो जाता है तो रोगी के उक्त रोग समाप्त हो जाते हैं। फिर स्वप्न में रोगी अपने संबन्धियों को संकट में फँसे न देखकर सुखी और उन्नति करते देखता है, अथवा उसे अपने संबन्धियों के प्रति कोई स्वप्न ही नहीं होते।

जिन स्वप्नों को रोगी स्वयं चिकित्सक से कहने को उत्सुक रहता है, वे रोग की चिकित्सा में महत्व के होते हैं। ऐसे स्वप्नों की सूक्ष्म विवेचना करने से रोग का उपचार भली प्रकार से हो जाता है। जब रोगी चिकित्सक के समक्ष अपने स्वप्न का बार-बार वर्णन करता है और चिकित्सक के बताये अर्थ का मनन करता है, तब रोग का विनाश शीघ्रता से हो जाता है।

स्वप्न का अर्थ

स्वप्न की मानसिक चिकित्सा में उपयोगिता इस बातपर भी

निर्भर करती है कि किस प्रकार चिकित्सक रोगी के समक्ष उसका अर्थ लगाता है और उस अर्थ से रोगी कहाँतक सहमत है। फ्रायड महाशय की धारणा के अनुसार किसी विशेष प्रकार के स्वप्न का विशेष प्रकार का अर्थ होता है। कुछ स्वप्न ऐसे होते हैं, जिनका एक ही अर्थ होता है और जब रोगी को बताये जाने पर वह इस अर्थ को स्वीकार न करे तो हमें समझना चाहिये कि रोगी का अचेतन मन स्वास्थ्य-प्राप्ति के कार्य में बाधा डाल रहा है। युंग महाशय के कथनानुसार एक ही स्वप्न का अर्थ अनेक होता है और किसी भी स्वप्न का अर्थ लगाने के लिये न केवल देश, काल और परिस्थिति पर विचार करना पड़ता है वरन् रोगी के पिछले मानसिक संस्कार और उसके वर्तमान मनोभावों पर भी विचार करना पड़ता है। इस प्रकार एक ही स्वप्न का अर्थ भिन्न-भिन्न रोगियों के लिए भिन्न-भिन्न होता है। किसी भी स्वप्न का तब तक ठीक अर्थ लगाया गया न मानना चाहिये, जब तक कि स्वयं रोगी उस अर्थ को स्वीकार न कर ले। रोगी का स्वप्न के अर्थ को स्वीकार न करना केवल इसी बात का द्योतक नहीं है कि उसकी आन्तरिक वासना प्रकाश में नहीं आना चाहती और इस प्रकार वह रोगी द्वारा आत्मस्वीकृति कराने में बाधा डाल रही है वरन् वह इस बात का भी प्रतीक है कि चिकित्सक रोगी की वास्तविक गुप्त भावना को समझ नहीं पाया।

यहाँ इस बात को बताना आवश्यक है कि रोगी के किसी स्वप्न का ठीक अर्थ लगाने के लिए रोगी के दूसरे दिन के स्वप्नों को भी समझना पड़ता है। बाद में होनेवाले स्वप्न यदि पहले के स्वप्न के अर्थ का समर्थन करें, तभी हमें जानना चाहिये कि पहले स्वप्न का अर्थ ठीक लगाया गया है। इतना ही नहीं,

किसी विशेष स्वप्न का अर्थ अथवा एक स्वप्न माला का अर्थ ठीक से लगाये जाने की अन्तिम कसौटी रोगी का रोग से मुक्त हो जाना है। जब किसी विशेष प्रकार के स्वप्नों के अर्थ के अनुसार काम करते हुए चिकित्सक रोगी को रोगमुक्त करने में समर्थ होता है, तभी यह कहा जा सकता है कि उसने स्वप्न का अर्थ ठीक लगाया।

यहाँ हमें इस बात को बताना आवश्यक है कि स्वयं चिकित्सक के विचार उसकी अभिलाषा और आकांक्षायें रोगी के स्वप्नों में प्रकाशित होने लगती हैं। वे रोगी के लिये निर्देश बनकर उसके अचेतन मन को प्रभावित करती हैं। जब चिकित्सक किसी रोगी के स्वप्न का विशेष प्रकार का अर्थ लगाता है, और इसकी स्वीकृति वह रोगी से कराता है, तो वह इस प्रक्रिया में अपने और रोगी के अनजाने ही उसे विशेष ओर प्रवाहित कर देता है; फिर रोगी तदनुसार स्वप्न भी देखने लगता है। इस तरह अपने अर्थ की सत्यता भी चिकित्सक के निर्देश के कारण ही प्रमाणित होती है। अब यदि स्वप्न का अर्थ लगाते-लगाते किसी रोगी का रोग नष्ट हो जाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि स्वप्न का ठीक अर्थ लगाने के कारण रोग नष्ट हुआ है वरन् यह कहा जायेगा कि रोगी के स्वप्न ही चिकित्सक के विशेष प्रकार के निर्देश के कारण विशेष तरह के होने लगे हैं। अतएव रोगी को आरोग्य प्रदान करने में महत्व का कारण स्वप्न का अध्ययन अथवा उनका अर्थ लगाना नहीं है, वरन् चिकित्सक का वह सन्निर्देश है जो रोगी के प्रति प्रेम के कारण वह रोगी के मन में डाल देता है। चिकित्सक रोगी को वास्तव में इस तरह अपने सन्निर्देशों से प्रभावित करके, अर्थात् अपने प्रेम और सहानुभूति के भावों के द्वारा ही आरोग्य प्रदान करता है।

चिकित्सक के भले विचार रोगी के अनजाने उसके मन में उसी प्रकार चले जाते हैं, जिस प्रकार ऊँची टाँकी का पानी नीची टाँकी में बीच में नली लगी रहने के कारण सरलता से बह जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं चिकित्सक ऊँचे मानसिक स्तर का व्यक्ति हो, उसके हृदय में उदारता और स्नेह के भाव हों और वह सबकी भलाई करने का इच्छुक हो। यदि ऐसा व्यक्ति चिकित्सा की कोई विशेष पद्धति न जानता हो, और वह प्रतिदिन रोगी से किसी भी ऐसे विषय पर बातचीत करे जिसमें रोगी को रस मिलता हो, तो वह रोगी के विचारों को इस प्रकार प्रकाशित किये बिना न रहेगा, जिससे कि वह आरोग्य प्राप्त करे। इस प्रकार का प्रभाव रोगी के मन पर चिकित्सक के अनजाने ही पड़ जायेगा। अब यदि चिकित्सक रोगी से किसी ऐसे विषय के बारे में बातचीत करता है जिसमें चेतन मन की कुशलता को स्थान नहीं है, वरन् जो प्रधानतः अचेतन मन का कार्य है, तब रोगी के मन को प्रभावित करने की संभावना और भी अधिक होती है। रोगी से स्वप्नों के विषय में चर्चा करके रोगी के हृदय पर चिकित्सक का उसी तरह अधिकार हो जाता है, जिस प्रकार उसके जीवन की मार्मिक घटनाओं को जानने से चिकित्सक का रोगी के हृदय पर अधिकार होता है। जब एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के हृदय पर किसी प्रकार अधिकार हो जाता है तो वह उसे जिस ओर मोड़ना चाहे, मोड़ सकता है। वह उसके अचेतन मन को प्रभावित करके उसका रोग छुड़ा दे सकता है। रोगी का अचेतन मन रोग को पकड़े रहता है। जो व्यक्ति रोगी के चेतन मन से सम्पर्क रखते हैं, उनसे रोगी का अचेतन मन उसी प्रकार शत्रुता का भाव रखता है, जिस प्रकार वह स्वयं रोगी के चेतन मन से शत्रुता का भाव रखता है। अतएव रोगी के

चेतन मन को प्रभावित करके, अर्थात् रोगी को समझा-बुझाकर, उसे बौद्धिक उपदेश देकर रोग मुक्त करना असंभव है। रोगी रोगमुक्त तभी हो सकता है, जब रोगी के चेतन मन के द्वारा नहीं, वरन् सीधे अचेतन मन से सम्पर्क स्थापित किया जाय और इस सीधे सम्पर्क स्थापित करने का सर्वोत्तम साधन स्वप्न-चर्चा है।

उपर्युक्त स्वप्न अध्ययन के महत्व से स्पष्ट है कि रोगी को आरोग्य प्रदान करने में किसी विशेष प्रकार की जटिल प्रणाली महत्व का स्थान नहीं रखती वरन् महत्व का स्थान चिकित्सक का सरस, स्नेहयुक्त और उदार मन ही होता है। चिकित्सक जितनी ही ज्यादा कुशलता दमित वासना की खोज में; अर्थात् मन की छान बीन करने में दिखाता है, वह रोगी की समस्या को हल न करके उसे और भी जटिल बना देता है। सच्चे, सरल और उदार सन्त के सम्पर्क में आते ही मनुष्य की वीभत्स से वीभत्स भावनायें अनायास चेतना की सतह पर आ जाती हैं। वह उनकी आत्मस्वीकृति चिकित्सक के समक्ष सरलता से कर सकता है; उसके कलुषित विचार परिवर्तित होकर शुद्ध हो जाते हैं और वह अपने रोग से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है।

————

प्रकरण २०

बचपन के संस्कार और आरोग्य

व्यक्तित्व का गठन

प्रत्येक व्यक्ति को अपने आस-पास के वातावरण से अपना समन्वय स्थापित करना पड़ता है. उसे अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। जब कोई व्यक्ति अपने वातावरण से समन्वय स्थापित नहीं कर पाता, अर्थात् परिस्थितियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता तब उसमें पलायन की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह ऐसी अवस्था में या तो उपस्थित वातावरण से दूर भाग जाता है अथवा वह अपना आचरण इस प्रकार करने लगता है कि उसे वातावरण की उपस्थिति का लाभ ही न हो। मनोजात रोग अप्रिय वातावरण से अथवा परिस्थितियों से बचने के उपाय हैं। इस प्रकार की रुग्णावस्था में मनुष्य का व्यवहार असाधारण होता है। ये मनोजात रोग कई प्रकार के होते हैं उदाहरणार्थ, व्यावहारिक लकवा, व्यावहारिक अन्धापन, कब्जियत, तथा हठी विचार। ये रोग वास्तव में शारीरिक रोग नहीं हैं; ये व्यक्तित्व की अव्यवस्था और विकार के प्रतीक हैं।

मनोवैज्ञानिकों के समक्ष इनके कारण खोजने का जटिल प्रश्न आता है। हमें यह जानना आवश्यक है कि कोई रोगी विशेष प्रकार के रोगों से ही क्यों पीड़ित होता है। किसी को हिस्टीरिया होता है, तो किसी को आँख का रोग, किसी को हाथ धोने की झक होती है तो किसीं को धार्मिक झक। प्रत्येक

प्रकार का मानसिक रोग ऊपर से शारीरिक रोग जैसा ही लगता है, परन्तु भीतर से शारीरिक रोग से वह भिन्न रहता है। शारीरिक रोग की अवस्था में रोगी के अंग में कोई वास्तविक खराबी हो जाती है; मनोजात रोग में मनुष्य के किसी अंग में कोई खराबी न होकर भी उसे वह काम में नहीं ला पाता। आँख अच्छी होते हुए भी देख नहीं सकता, पैर अच्छा होते हुए भी चल नहीं सकता, पहलवान होते हुए भी अकेले रहने में डरता है और परीक्षा की ठीक से तैयारी होने पर भी वह परीक्षा देते समय बीमार हो जाता है। इस प्रकार के रोगों की जड़ मनुष्य के शरीर में नहीं रहती वरन् उसके मन में रहती है। ये रोग भावों की गड़बड़ी से होते हैं।

व्यक्तित्व-गठन में बचपन का महत्त्व

उपर्युक्त मानसिक रोगों का कारण मनुष्य के मन पर अथवा हृदय पर किसी प्रकार का धक्का लगना होता है। जब कभी किसी व्यक्ति को मानसिक रोग होता है तो उसके पूर्व हम किसी ऐसी घटना को होते हुए पाते हैं, जिसमें उसके भावों में भारी उथल-पुथल हुई है। परन्तु यदि केवल इस प्रकार की घटना ही मानसिक रोग का कारण होती तो सभी को मानसिक रोग एक ही प्रकार के होते। परीक्षा में फेल होने से एक विद्यार्थी इतना घबड़ा जाता है कि वह आत्म-हत्या करना चाहता है अथवा वह अपनी नींद ही खो देता है और दूसरा फेल होने पर फिर से पढ़ने लगता है; अथवा अपनी आजीविका का नवीन साधन प्राप्त करता है; एक व्यक्ति मोटर की दुर्घटना का अनुभव कर लेने पर मोटर पर चढ़ने से डरने लगता है अथवा घर से बाहर निकलने में डरता है और दूसरा किसी से नहीं डरता है। एक ही घटना दो व्यक्तियों के जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार के

परिणाम क्यों उत्पन्न करती है ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने पर हमें बचपन के संस्कारों का महत्व प्रत्यक्ष होने लगता है।

जिस व्यक्ति का स्वभाव पहले से ही निर्बल हो गया है, जिसकी मानसिक बनावट दुर्बल है, वह साधारण सी घटनाओं से भी अत्यधिक प्रभावित हो जाता है। कुछ लोग जन्म से ही भावात्मक स्वभाव के होते हैं, परन्तु यदि उनके जीवन में विशेष प्रकार की अप्रिय घटना न घटे तो उनका स्वभाव उनके जीवन के लिये हानिकर नहीं होता। आधुनिक काल के सभी मानसिक चिकित्सकों का कहना है कि बचपन के प्रिय अथवा अप्रिय अनुभव ही उन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं जो आगे चलकर रोग बन जाते हैं। मानसिक चिकित्सक इस बात में एकमत नहीं रखते हैं कि किस प्रकार के अनुभव से मनोजात रोग उत्पन्न होते हैं। डा० फ्रायड के अनुसार बच्चे की कामवासना सम्बन्धी इच्छाओं के दमन के कारण ही ये मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। जिस बालक को पिता का अत्यधिक भय होता है, उसकी कामवासना दमित हो जाती है। फिर यह वासना प्रतीक रूप से अनेक प्रकार के मानसिक अथवा शारीरिक रोगों में प्रकाशित होती हैं।

एडलर महाशय मानसिक रोगों का प्रधान कारण हीनता की मानसिक ग्रंथि की उपस्थिति मानते हैं। बालक के मन में इस प्रकार का हीन भाव किसी प्रकार की कमी की अनुभूति करने से होता है। जिस व्यक्ति के मन में हीनभाव रहता है वह अनायास ऐसे काम में अपने को लगाता है जिसका पूरा करना उसके सामर्थ्य के बाहर होता है। जब ऐसे कामों में उसे असफलता मिलती है तो वह किसी प्रकार के मानसिक रोग अथवा मनोविकारजनित शारीरिक रोग की शरण लेता है। इस

प्रकार वह अपनी असफलता को अपनी दृष्टि से ओझल करने की चेष्टा करता है।

सभी मनोवैज्ञानिक इस मत को मानते हैं कि माता-पिता और बच्चे के आपस के सम्बन्ध में दोष होने के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। प्रो० हेडफील्ड के कथनानुसार सभी मनोजात रोगों का आधारभूत कारण बच्चे में प्रेमभाव की कमी रहती है। ऐसे रोगी में प्रेम की भूख उसके अचेतन मन में दमित अवस्था में रहती है। हेडफील्ड का यह मत डा० फ्रायड के मत के समान ही है। परन्तु उनके मत में मौलिक भेद भी इस बात में है कि फ्रायड महाशय सभी प्रेम को कामुक मानते थे और हेडफील्ड ऐसा नहीं मानते। प्रेम न केवल कामुक है परन्तु रक्षणात्मक भी है। बालक रक्षणात्मक प्रेम का कामुक प्रेम की अपेक्षा अधिक भूखा होता है और उक्त प्रेम का अभाव ही मनोविकार-जनित रोगों का प्रधान कारण होता है।

बालक में प्रेम की भूख

प्रत्येक बालक बड़ों की रक्षा की आवश्यकता रखता है; अतएव वह बड़ों के प्रेम का भूखा रहता है। साधारणतः बच्चे की इस आवश्यकता की पूर्ति माता करती है। वह बच्चे की सब प्रकार से रक्षा करती है और उसके लिये प्रेम का वातावरण उपस्थित करती है। इसके कारण माँ के प्रति बच्चे के मन में प्रेम की भूख उत्पन्न हो जाती है। माँ बच्चे की न केवल रक्षा की आवश्यकता की पूर्ति करती है वरन् वह उसको आलिंगन का सुख भी देती है। जब बच्चे को इस प्रकार के प्रेम की प्राप्ति में सन्देह हो जाता है तब उसके जीवन में भावात्मक दुर्घटना की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

जब बच्चे को बड़ों का उचित प्रेम मिलता है तब उसमें निर्भीकता और आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है। जब स्नेह और आराम के वातावरण में बच्चा रहता है तब वह अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिये अनेक उपाय रचता है। उसमें साहस का भाव भरा रहता है और वह जोखिम में अपने आपको डालने से नहीं डरता। यदि किसी बच्चे को समय के पूर्व अपने पैरों पर खड़े होने के लिये बाध्य होना पड़े तो वह इससे बली व्यक्तित्व का व्यक्ति न बनकर चिन्ताग्रस्त व्यक्ति बनेगा; न तो उसे अपने प्रति आत्मविश्वास होगा और न साहस। जब बालक को सम्मानित लोगों का प्रेम मिलता है तो वह उन्हें प्यार करने लगता है और उनसे वह आत्म-सात् करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह मन से स्वस्थ हो जाता है। उसकी इच्छा शक्ति बली और उसका चरित्र दृढ़ होता है। यदि किसी बालक को इस समय बड़ों का प्रेम न मिले अथवा उसे अनुभव हो कि मुझे मेरे निकट-सम्बन्धी प्यार नहीं करते तो वह अपने आचार-व्यवहार में असाधारण बन जाता है।

प्रेम की भूख के दमन का कुपरिणाम

जब किसी बालक को प्रेम नहीं मिलता तब उसका मानसिक विकास रुक जाता है। वह जीवन में प्रयोग नहीं कर पाता और नई कठिनाइयों का सामना करने से डरता है। प्रेमहीनता से बच्चे के मन में स्वभावतः चिन्तायें उठती हैं। उसका मन अनेक प्रकार के भयों से भर जाता है। वह जीवन की कठिनाइयों से भागता है और उनके उत्तरदायित्व का भार सहन नहीं करता। इस प्रकार वह मानसिक रोग की तैयारी स्वयं कर लेता है।

जब बच्चे को बड़ों का उचित प्रेम नहीं मिलता तो वह आत्म-प्यार करने लगता है। इस प्रकार वह स्वार्थी बन जाता है। ऐसे ही बालकों में स्वाश्रित कामक्रीड़ाओं की आदत पड़ जाती है। प्रेम के मिलने पर बालक के जीवन में सुदृढ़ उद्देश्य का विकास होता है। यदि प्रेम के वातावरण में बालक नहीं पले तो उसके जो भी आदर्श होते हैं उनके द्वारा उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों का दमन होता है और इस प्रकार के आदर्श उसे विक्षिप्तता की ओर ले जाते हैं।

कुछ लोगों के जीवन में बचपन में प्रेमाभाव के कारण ही नहीं बल्कि प्रेम की अधिकता के कारण भी मानसिक रोग की उपस्थिति होती है। लाड़ला बालक बहुधा मानसिक रोगी हो जाता है। परन्तु मानसिक रोग की उत्पत्ति का कारण बालक के प्रति किये गये लाड़ की अनुभूति नहीं है, वरन् उसके बाद होने वाली निराशा की अथवा प्रेम के अभाव की अनुभूति होती है। यह प्रेम के खोजने की अनुभूति ही बालक को निराश, भयातुर और दैन्यभाव युक्त बना देती है। लाड़लेपन से बालक में अहंकार, स्वार्थीपन, हठ आदि उत्पन्न होते हैं। परन्तु इससे विक्षिप्तता अथवा मनोजात रोग उत्पन्न नहीं होते। जब बालक को लाड़ में रहने के बाद प्रेमभाव की अनुभूति होती है तभी वह पागलपन अथवा रोग की शरण लेता है।

बालक का हृदय वास्तव में सच्चा प्रेम चाहता है; ऐसा प्रेम सरल भाव से और त्याग भावना से बच्चे को दिया जाता है। अहंकार युक्त, दिखाऊ तथा चिन्तायुक्त दिया हुआ प्रेम बच्चे में मानसिक रोग की उत्पत्ति करते हैं। जब बच्चे को वास्तविक प्रेम नहीं मिलता तब उसमें चिन्ता, इन्द्रिय सुख की इच्छा, आत्मग्लानि और आत्महीनता की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है।

माता-पिता इस मनोवृत्ति का दमन दण्ड के भय से करते हैं। इस भय के कारण बालक अपनी उक्त अशिष्ट प्रवृत्तियों को दबाता है। जब इन प्रवृत्तियों का दमन होता है तो वे बाद में निरर्थक शारीरिक व्यवहारों में अथवा मानसिक रोगों में प्रकाशित होतें हैं।

प्रत्येक मनोजात रोग में दो प्रकार का दमन होता है—पहले तो बालक की वास्तविक प्रेम की भूख का, चिन्ता, क्रोध, और आत्मग्लानि के भाव द्वारा दमन होता है। फिर इन अशिष्ट भावों का दमन भी मनुष्य की शिष्ट भावना द्वारा अथवा नैतिक बुद्धि द्वारा होता है। इस प्रकार के दमन के परिणाम स्वरूप मनुष्य में विभाजित व्यक्तित्व की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को दो प्रकार की लड़ाई लड़नी पड़ती है—एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक। आन्तरिक लड़ाई की प्रधानता रहती है। प्रो० हेडफील्ड के कथनानुसार मनुष्य के अहंभाव अथवा प्राकृतिक स्वत्व और उसके नैतिक स्वत्व में संघर्ष होने के कारण ही मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। यह संघर्ष मनुष्य की चेतना के नीचे होता है। मनुष्य का रोग-युक्त होना यह दर्शाता है कि उसका प्राकृतिक स्वत्व उसके कठोर नैतिक स्वत्व के नियंत्रण में रहने के लिये तैयार नहीं है। बालक को तीन वर्ष की अवस्था से ही शिष्टाचारी बनाया जाता है। यह शिक्षा बालक के स्वभाव का अंग बन जाती है और उसमें कठोर नैतिक स्वत्व की उत्पत्ति करती है। इस स्वत्व और प्राकृतिक स्वत्व के संघर्ष से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। यदि बालक का नैतिक स्वत्व उसके प्राकृतिक स्वत्व से समन्वय स्थापित कर सके, तो उसे मानसिक रोग न हो।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य की वर्तमान काल की नैतिक समस्याएँ उसके मानसिक रोग की प्रधान कारण नहीं होतीं और न दूसरी कोई समस्याएँ ही इसका प्रधान कारण होती हैं। वर्तमान काल की सभी समस्याओं का महत्व बालक के बचपन के संस्कारों पर निर्भर करता है। किसी व्यक्ति के वर्तमान काल के जीवन में नैतिक संघर्ष की समस्याएँ इसलिये ही जटिल रूप धारण करती हैं कि बचपन के अनुभव में वे समस्यायें हल न हो सकी थीं। यदि ये समस्यायें पहले समाप्त हो गई होतीं तो वे वर्तमान में भयंकर रूप धारण न करतीं और किसी प्रकार का मानसिक रोग न होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक रोगों का प्रधान कारण मनुष्य के बचपन के अनुभवों में रहता है और यदि हम किसी व्यक्ति को स्वस्थ और सुखी बनाना चाहते हैं तो हमें उसके बचपन के संस्कारों को कटु बनने से रोकना पड़ेगा। राष्ट्र में मनोविज्ञान के ज्ञान के प्रसार की आवश्यकता इसलिये है जिससे बच्चे और माता-पिता का संबंध मधुर बन जाय और बच्चे के मन में वे मानसिक जटिलतायें न उत्पन्न हों जो इस संबन्ध के दूषित होने के कारण उत्पन्न होती हैं।

———

प्रकरण २१

मानसिक चिकित्सा में भावारोपण

प्रत्येक मानसिक रोगी में स्नेह की भावना अविकसित अथवा दमित अवस्था में रहती है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास उसकी स्नेह की शक्ति के प्रसार के साथ-साथ होता है, इस स्नेह की शक्ति को डा० फ्रायड ने कामशक्ति कहा है। स्नेह और कामुकता का घनिष्ट संबंध है, परन्तु दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। बालक का स्नेह पहले पहल अपने आपमें ही केंद्रित रहता है। वह अपने शरीर को, अपनी क्रिया-कलापों को स्नेह करता है। धीरे,धीरे उसका स्नेह माता के ऊपर केंद्रित हो जाता है, जो उसे दूध पिलाती, हृदय से लगाती और उसकी अनेक प्रकार की रक्षा करती है। शैशवावस्था में बालक का स्नेह माता तक ही सीमित रहता है, इसके पश्चात् बाल्यावस्था में उसका स्नेह अपने संगी-साथियों पर चला जाता है। बालक अपने साथ खेलनेवाले बालकों को इतना अधिक प्रेम करता है कि वह अपने घर की और माता-पिता की सुधबुध भूल जाता है। वह सदा उन्हीं के साथ रहना और खेलना चाहता है।

किशोरावस्था के प्राप्त होने पर बालक की काम-प्रवृत्ति में अनेक प्रकार की नवस्फूर्तियाँ होती हैं। इस समय उसके स्नेह में भी अद्भुत विकास उत्पन्न होते हैं। किशोर बालक अपने पहले के स्नेह भावनाओं को फिर से थोड़े ही काल में दुहराता है। कुछ समय के लिए वह अपने आपमें केंद्रित हो जाता है।

वह माता अथवा पिता से स्नेह करता है और अपने साथियों से प्रबल भाव से स्नेह दिखाता है। इस समय के स्नेह में और इसके पूर्वावस्था के स्नेह में इतना ही अंतर है कि पहले का स्नेह प्रयोगात्मक ढंग का था; परन्तु अब का स्नेह जीवन के लिए तैयारी रहता है। किशोरावस्था में बालक में नैतिक भावना का विकास होता है। ये नैतिक भावनाएँ माता-पिता अथवा अन्य प्रमुख व्यक्तियों के बचपन में दिये गये आदेशों और उनके दंड का प्रतीक रूप होती हैं। शैशवावस्था में बालक का अपने पिता अथवा माता के दंड का भय अन्तरात्मा के दण्ड का भय बन जाता है। जिस प्रकार दस वर्ष तक का बालक किसी अनुचित काम के करने पर अपने माता-पिता के ताड़ना से डरता है, उसी प्रकार किशोर बालक किसी प्रकार के अनुचित काम करने पर अन्तरात्मा की ताड़ना से डरने लगता है। अतएव यही काल बालक में मानसिक संघर्ष तथा मानसिक ग्रंथियों के बनने का काल होता है। जिस व्यक्ति ने इस काल की नैतिक समस्याओं को सफलतापूर्वक हल कर लिया, वह जीवन में आशावादी, क्रियाशील और उत्साही व्यक्ति बनता है, और जो व्यक्ति इस काल में उत्पन्न हुई नैतिक समस्याओं को भली प्रकार से हल नहीं कर पाता, वह निराशावादी और निकम्मा बन जाता है।

व्यक्ति की निराशावादिता इस बात की द्योतक है कि उसके स्नेह के प्रसार में ऐसी बाधायें उत्पन्न हो गई हैं जिन्हें वह पार नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में उसके स्नेह का प्रवाह पुरोगामी न बन कर प्रतिगामी बन जाता है। उसका स्नेह किसी ऐसे पदार्थ पर केन्द्रित हो जाता है, जिस पर वह स्नेह विकास की किसी पूर्वावस्था में था। अर्थात् ऐसा व्यक्ति अपने आपको, अपनी माता को अथवा अपने साथ रहनेवाले साथी को आव-

श्यकता से अधिक प्रेम करने लगता है, परन्तु यह प्रेम स्वस्थ न होकर विकृत रूप धारण करता है। अर्थात् जिन लोगों से वह प्रेम करता था, उन्हीं से वह घृणा करने लगता है, अथवा वह किसी ऐसे वस्तु से प्यार करने लगता है, जो पुराने प्रेम की प्रतीक होती है। नैतिकता द्वारा दमित होने पर मनुष्य की प्रेमशक्ति विकसित न होकर किसी ऐसे केन्द्र पर आरोपित हो जाती है, जो उसके लिए शोभनीय नहीं है, फिर व्यक्ति का यह स्नेह प्रतीक रूप से बाहर आता है। यदि वह सीधे-सीधे बाहर आवे तो उसकी नैतिक बुद्धि उसकी भर्त्सना करे, अतएव वह स्नेह छिपकर अथवा विकृत होकर चेतना की सतह पर आता है। जब तक मनुष्य का स्नेह भाव दमित अवस्था में रहता है, तब तक उसका रोग नहीं जाता। जब किसी प्रकार यह दमित स्नेह चेतना की सतह पर आ जाता है, और जब इसका मनुष्य की नैतिक बुद्धि से समन्वय स्थापित हो जाता है, तब मनुष्य का रोग चला जाता है।

दमित-स्नेह चेतना की सतह पर आने के लिए किसी अवलम्बन की खोज करता है। यह अवलम्बन ऐसा हो, जिसमें एक ओर रोगी की श्रद्धा हो सके और दूसरी ओर वह अपने स्नेह की तृप्ति पा सके। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य के मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाली नैतिक तथा स्नेह की प्रवृत्तियाँ दोनों ही चेतना की सतह के नीचे रहती हैं। रोगी को न दमित शक्ति का ज्ञान रहता है और न उस नैतिक भाव का, जो उसका दमन कर रहा है। दमन करनेवाला भाव नैतिक होता है और दमित भाव स्नेहमय। जब रोगी किसी ऐसे व्यक्ति को प्यार करने लगता है, जिसके प्रति उसकी सरल श्रद्धा है, तब उसकी चेतना की सतह के नीचे रहनेवाले दोनों

भावों का आरोपण एक ही व्यक्ति पर हो जाता है। इस तरह मनुष्य के आन्तरिक मन में द्वन्द्व करने वाले दो विरोधी भावों में मानसिक चिकित्सक के व्यक्तित्व की सहायता से समन्वय स्थापित होता है। इस दृष्टि से रोगी का चिकित्सक के व्यक्तित्व पर स्नेह आरोपित होना, उसका रोग से मुक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। जो भाव दमित रहने पर मनुष्य के व्यक्तित्व का विनाशक होता है, तथा अनेक प्रकार के रोगों के रूप में प्रकाशित होता है, वही भाव समुचित रूप से प्रकाशित होने से व्यक्ति की मानसिक शक्ति को आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा देता है। देखा गया है कि जो नवयुवक मानसिक द्वन्द्व की अवस्था में अनेक प्रकार के भयों से त्रस्त रहते हैं, जो अपनी स्मरणशक्ति पर भरोसा नहीं रखते और जो साधारण सी जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर नहीं ले सकते, वे ही मानसिक समन्वय स्थापित होने पर अनेक प्रकार के चमत्कारिक कार्य करके दिखाते हैं। इस समन्वय के लिए दमित स्नेह का चिकित्सक के व्यक्तित्व पर आरोपित होना और फिर उस भाव का सदुपयोग में आना नितान्त आवश्यक है।

फ्रायड महाशय ने दो प्रकार के स्नेहारोपणों की चर्चा की है—एक सकारात्मक और दूसरा नकारात्मक। सकारात्मक स्नेहारोपण में मनुष्य का दमित स्नेह तद्रूप ही प्रकाशित होता है और नकारात्मक आरोपण में स्नेह उसके विपरीत रूप में प्रकाशित होता है। मान लीजिये, किसी व्यक्ति के प्रति स्नेह के भाव के दमित होने के कारण उसे हिस्टीरिया का रोग हो गया है, मानसिक चिकित्सक जब ऐसे रोगी का उपचार करता है, तो उसका यह दमित स्नेह पहले पहल इस चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाता है; अर्थात् रोगी

चिकित्सक को उसी प्रेम से देखने लगता है, जिस प्रेम से वह अतीत के प्रेमी को देखता था। रोगी को चिकित्सक से अलग करना असह्य हो जाता है, चिकित्सक की थोड़ी सी उदासीनता उसे असह्य हो जाती है। ऐसी अवस्था में चिकित्सक को रोगी से बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। हिस्टीरिया के रोग में चिकित्सक कभी-कभी रोगी के प्रेमारोपणके कारण बड़े धर्म-संकट में पड़ जाता है।

मानसिक रोग के उपचार में स्नेहारोपण होना रोगी के स्वास्थ्यलाभ करने का शुभ लक्षण है। चिकित्सक जिस रोगी का स्नेहपात्र बन जाता है, उसे वह आरोग्य-लाभ कराने में अवश्य समर्थ होता है। स्नेह की अवस्था में मनुष्य दूसरे व्यक्ति से सन्निर्देश ग्रहण करता है। ये सन्निर्देश रोगी को आरोग्यवान् बनाने में सहायक होते हैं। चिकित्सक के सन्निर्देश रोगी में रचनात्मक मनोवृत्ति की उत्पत्ति करते हैं और इस प्रकार रोगी रोग से मुक्त हो जाता है।

उपसंहार

रोग का प्रमुख कारण

मनुष्य को मानसिक रोग मानसिक सन्तुलन के बिगड़ने से हो जाते हैं। यह मानसिक सन्तुलन मनुष्य की भोगवादी और आदर्शवादी प्रवृत्तियों के बीच में रहता है। भोगवादी प्रवृत्तियों को आसुरी प्रवृत्तियाँ कहा जाता है, और त्यागवादी अथवा आदर्शवादी प्रवृत्तियों को दैवी प्रवृत्तियाँ कहा जाता है। संसार के सभी धर्मशास्त्रोंमें आसुरी सम्पत्ति को कम करने और दैवी सम्पत्ति को बढ़ाने की शिक्षा दी जाती है। समाज को भली-प्रकार से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य दूसरे के लिए अपने सुख का त्याग करे। अपने सुख का त्याग ऐसा कोई व्यक्ति नहीं कर सकता जिसकी अपने ही सुख की इच्छायें प्रबल हों। अपने सुख की इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने सुख के त्याग का अभ्यास करना पड़ता है। यही अभ्यास तप कहलाता है।

जब मनुष्य अपनी अनेक प्रकार की भोगेच्छाओं का अत्यधिक नियंत्रण करता है तो उसकी ये सुख की प्रवृत्तियाँ या इच्छायें मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रतिकूल षड्यंत्र करती हैं और वे अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को उत्पन्न करती हैं। भोगेच्छाओं का दमन करने के लिए मनुष्य को कई दिनों की शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता होती है। बहुत दिनों के अभ्यास से भोगेच्छाओं का दमन करने की प्रवृत्ति उसी प्रकार मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाती है जिस प्रकार भोगेच्छाओं को तृप्त करने की प्रवृत्ति

स्वभाव का अंग बन जाती है। सभी प्रकार की संस्कृति और शिक्षा का ध्येय मनुष्य के मन में एक ऐसी व्यवस्था उत्पन्न करना होता है, जो उसकी भोगप्रवृत्तियों को सफलता पूर्वक दवा सकें। इस तरह मनुष्य के ही मन में एक दमनात्मक भाग की उत्पत्ति होती है जिसे उसका आदर्शमय स्वत्व (सुपरईगो) कहा जाता है। इस आदर्श स्वत्व का कुछ भाग चेतन मन में रहता है जिसका कि उसको अहंकार होता है, परन्तु यह अधिकतर उसके अचेतन में होता है और मनुष्य के अनजाने ही भोग प्रवृत्तियों के दमन का कार्य करता है।

मनुष्य के पूर्ण स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि उसके अचेतन मन में रहने वाली भोगेच्छाओं और आदर्शमयी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित हो और मनुष्य की शक्ति रचनात्मक कार्य में, अर्थात् सबके लाभ के लिए, प्रकाशित हो। यदि मनुष्य की आदर्शमयी और भोगमयी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित न हुआ तो उसके मन में विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की भोगमयी प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक न बनकर अप्राकृतिक और व्यक्तित्व की विनाशक बन जाती हैं। जिस तरह किसी दल के दमन से वह राष्ट्र के लिए ध्वंसकारी कार्य करने लगता है उसी प्रकार मनुष्य की भोगवादी प्रवृत्तियाँ दमित होकर अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों की सृष्टि करती हैं। इन रोगों का अन्त करने के लिए इन प्रवृत्तियों में ऐसा परिवर्तन आवश्यक है जिससे वे मनुष्य के आदर्श स्वत्व के प्रतिकूल न जाकर उसकी सहायक बन जायँ। जिस प्रकार देश के गुण्डे राष्ट्र के उपयोगी सैनिक बन सकते हैं, इसी तरह सुयोग्य शिक्षा के द्वारा मनुष्य की भोगवादी और स्वार्थमयी इच्छायें उसके व्यक्तित्व को दृढ़ बनाने में सहायक बन सकती हैं।

मानसिक चिकित्सा और शिक्षा

मानसिक चिकित्सक एक विशेष प्रकार का शिक्षक है जो मनुष्य की उन विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है, जो उसके व्यक्तित्व में निहित हैं; वह विध्वंसकारी प्रवृत्तियों को उसके अनुकूल ही बना देता है। जब मनुष्य की आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित नहीं हो पाता तो उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही उसके व्यक्तित्व का विभाजन हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य एक ओर बड़ा ही आदर्शवादी बना रहता है और दूसरी ओर वह अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों का शिकार भी बना रहता है। मनुष्य इन रोगों का कारण अपने से बाहर किसी परिस्थिति में खोजता है। यह आत्म-स्वीकृति से बचने का प्रयास है। यह आरोपण की मनोवृत्ति का प्रकाशन है। अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय समस्याओं का कारण अपने से बाहर खोजना उन समस्याओं को जटिल बनाना है। जिस समस्या को हल करने का सामर्थ्य मनुष्य अपने में नहीं देखता उसका कारण वह अपने से बाहर देखने लगता है। इस तरह वह मिथ्या आत्म-संतोष की प्राप्ति करता है।

आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृत्तियों में एकता स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक रोगी के अचेतन मन को यह आश्वासन दे कि उसकी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को मान्यता मिलेगी, अर्थात् उसकी चिकित्सा पद्धति में किसी का दमन नहीं होगा। इसका अर्थ यह है कि चिकित्सक रोगी को पूरे मन से प्यार करे। रोगी साधारणतः चेतन मन से आदर्शवादी व्यक्ति होता है। कुशल चिकित्सक उसकी भोगवादी इच्छाओं को उसके अचेतन व्यवहारों से सरलता से पहचान लेता है, परन्तु

इससे उसका रोगी के प्रति प्रेम कम नहीं होता अपितु और बढ़ते जाता है। चिकित्सक रोगी के मन में ऐसा परिवर्तन करने की चेष्टा करता है ताकि वह अपनी दमित प्रवृत्तियों को चेतना के स्तर पर सरलता से ला सके। आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृत्तियों में समन्वय तभी सम्भव है जब वे दोनों व्यक्ति के चेतन स्तर पर आवें। मनोविश्लेषक यही कार्य करने की चेष्टा करता है। मनुष्य के बहुत से रोग उसकी दमित वासनाओं के चेतना के स्तर पर आते ही समाप्त हो जाते हैं। डा० फ्रायड की मनोविश्लेषण पद्धति में इसी तरह रोगों को समाप्त किया जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि मनुष्य की निंद्य प्रवृत्तियों को चेतना के स्तर पर प्रकाशित होने दिया जाय, तो उससे उसका सामाजिक व्यवहार निन्द्य बन जायगा और इससे समाज को क्षति हो सकती है। परन्तु जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि मानसिक रोगी पहले से ही आदर्शवादीहोता है तो हमें इस बात का भय नहीं रखना चाहिये कि वह अपने जीवन के उच्चतम मूल्यों को सरलता से खो देगा। रोगी आत्म-स्वीकृति द्वारा कृत्रिम और दिखाऊ आदर्शवादिता को छोड़ कर ठोस और सच्ची आदर्शवादिता को जीवन में प्रदर्शित करने लगता है। सच्ची मानसिक चिकित्सा से मनुष्य के चरित्र का ह्रास नहीं होता वरन् उसका विकास होता है।

मानसिक चिकित्सा के प्रमुख अंग

दबी हुई भोग प्रवृत्तियाँ चेतना के स्तर पर तब सरलता से आती हैं जब रोगी उनके प्रति सतर्क नहीं रहता। प्रेम के वातावरण में रोगी की यह सतर्कता चली जाती है। प्रत्येक

मानसिक रोगी ऊपरी रूप से उच्च विचार का दिखाई देता है और अपने आदर्शों पर अभिमान करता है परन्तु भीतर मन से वह अपने आप को कोसा करता है। इस आत्म-भर्त्सना को भुलाने के लिये वह ऊपरी आदर्शवादिता को धारण करता है। रोगी के प्रति प्रेम का व्यवहार उसकी आत्म-भर्त्सना की आन्तरिक मनोवृत्ति को समाप्त कर देता है और इसके कारण उसकी झूठी नैतिकता तथा अभिमान भी समाप्त हो जाता है। जब त्याग और तपस्या के आडम्बर रोगी के व्यवहार से चले जायँ तब हमें समझना चाहिये कि उसमें ठोस आत्म-विश्वास का उदय हो रहा है। स्नेह के व्यवहार से यह दिखाऊ आवरण अपने आप ही चले जाते हैं।

मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में भी मनुष्य की प्रबल दमित अनैतिक भावनायें चेतना के स्तर पर आ जाती हैं। शैथिलीकरण की अवस्था में रोगी को निर्देश दिया जाता है कि उसकी दबी हुई वासनायें चेतना के स्तर पर आ जायेंगी। यदि यह निर्देश न भी दिया जाय तो वे अपने आप ही चेतना के स्तर पर आ जायेंगी। मनोविज्ञानशाला में जब ऐसे रोगियों को मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया जिनके मन में अनेक प्रकार की दमित कामवासनायें थीं तो वे अपनी अर्द्ध चेतनावस्था में संकेत रूप से ऐसी क्रियायें करने लगे जिन्हें करने की उनके मन में प्रबल इच्छा दमित रूप में थी। कुछ काल के बाद ऐसे रोगी के मन में ऐसे दृश्य उपस्थित होने लगते हैं जो उनकी दमित इच्छा से सम्बन्ध रखते हैं। कभी कभी ये दृश्य बड़े ही डरावने होते हैं। परन्तु इस प्रकार के डरावने दृश्य उसकी दमित वासना के प्रतीक मात्र होते हैं; मनुष्य की दमित कामवासना ही उसके लिये भूत प्रेत और पिशाच के रूप

में परिणत हो जाती है और उसकी आत्मा को अनेक प्रकार से त्रास देती है। जब इस वासना से मनुष्य मैत्री भाव स्थापित कर लेता है तो वही अनेक प्रकार के सौंदर्य और भलाई के दृश्य उपस्थित करती है। दमित कामवासना के समान मनुष्य के व्यक्तित्व का शत्रु दूसरा कोई नहीं है और न अनुकूल कामवासना के समान कोई मित्र है। मानसिक चिकित्सा का ध्येय कामवासना की प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिणत करना है।

आनापानसति के अभ्यास से मानसिक शैथिलीकरण की प्राप्ति सरलता से होती है। आनापानसति का अभ्यास अपनी श्वास-प्रश्वास पर ध्यान देने से होता है। जब मनुष्य शरीर को ढीला करके लेटे लेटे लम्बी सांस लेता और छोड़ता है तो उसके शरीर के स्नायुओं का खिंचाव अपने आप ही कम हो जाता है। यह एक साधारण शारीरिक क्रिया है, परन्तु इसका बड़ा चमत्कारिक प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। इससे उसके चेतन और अचेतन मन के बीच का खिंचाव अपने आप ही कम हो जाता है और उसे साधारणतः नींद आ जाती है। नींद की इस अवस्था में एक ओर स्नायुओं का खिंचाव और भी कम होता है और दूसरी ओर मनुष्य की आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृत्तियों में समन्वय अपने आप हो जाता है। आनापानसति के अभ्यास से कभी कभी मनुष्य अर्द्ध-चेतनावस्था में आ जाता है और उसकी दबी हुई वासनायें विस्फोट के रूप में चेतना के स्तर पर आ जाती हैं। अपनी अर्द्ध-सुप्तावस्था में जो क्रियायें रोगी करता है अथवा जो दृश्य देखता है उनपर अभ्यास के बाद रोगी से बात चीत करना नितांत आवश्यक है। इस प्रकार की बातचीत से इन क्रियाओं का होना तथा इन दृश्यों का देखना धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है।

आनापानसति का अभ्यास न केवल मन की दमित वासनाओं को चेतना के स्तर पर लाने में सहायक होता है, वरन् इससे रोगी के अनजाने ही आत्म-समन्वय की प्राप्ति होती है। यह अभ्यास अपने आप को सन्निर्देश देने में सहायक होता है। इमील कूये और डा० विलियम ब्राउन के प्रयोगों से सिद्ध होता है कि हमारे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग आत्म-निर्देश (औटो सजेशन) से समाप्त किये जा सकते हैं और हमारी विभिन्न प्रकार की शक्तियों का विकास आत्म-निर्देश के द्वारा हो जाता है। मनुष्य को आत्म-निर्देश देने के लिये उसे मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में लाना नितान्तावश्यक है। रोगी का मन अनेक प्रकार के संशय से भरा रहता है। मन की संशयात्मक अवस्था में किसी प्रकार का आत्म-निर्देश विरोधी परिणाम उपस्थित करता है अर्थात् वह आत्म-निर्देश प्रति-निर्देश में परिणत हो जाता है। मानसिक शैथिलीकरण की प्राप्ति, एक तो मनोविश्लेषण से होती है और दूसरे उपर्युक्त शारीरिक शैथिलीकरण के अभ्यास से। आनापानसति का अभ्यास इस तरह आत्म-निर्देश के फलित होने में सहायक होता है। आनापानसति का अभ्यास भगवान् बुद्ध के द्वारा बताया गया है। इससे स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों प्रकार के लोगों को लाभ होता है। नियमित रूप से इसे प्रतिदिन करने से मनुष्य में चित्त की एकाग्रता, स्मरण शक्ति की वृद्धि, प्रतिभा का विकास, प्रत्युत्पन्न बुद्धि की जागृति, आत्मविश्वास का उदय, और चरित्र की दृढ़ता आती है और अनेक प्रकार की कुटेवों का सरलता से अन्त हो जाता है। यह मनुष्य में सन्देह तथा आलोचना से घबड़ाने की मनोवृत्ति का विनाशक है। भगवान् बुद्ध के कथनानुसार श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन इसे करने से मनुष्य को समाधि

प्राप्त होती है। अतएव काशी मनोविज्ञानशाला में स्वस्थ और रोगी दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिये आनापानसति का अभ्यास नित्य प्रति करने की सलाह दी जाती है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने आत्म-सम्मोहन की क्रिया पर महत्व का प्रकाश डाला है। आत्म-सम्मोहन की अवस्था में मनुष्य का कोई भी अंग अथवा उसका पूरा शरीर सुख और दुःख की संवेदना के लिये शून्य बनाया जा सकता है। यदि कहीं मनुष्य के किसी अंग में दर्द हो तो इस अभ्यास को करने वाला व्यक्ति उस दर्द से अपने आप को मुक्त कर सकता है। शूल और पेचिश जैसे पेट के रोग आत्म-सम्मोहन द्वारा समाप्त किये जा सकते हैं। जिस प्रकार शरीर को आत्म-सम्मोहन से संवेदना शून्य किया जा सकता है इसी प्रकार मन को भी आत्म-सम्मोहन द्वारा भावशून्य बनाया जा सकता है। अपने आप को इस अवस्था में लाना साधक के लिये भी नितांतावश्यक होता है। हम समाज के लोगों की अपनी चरित्र की छोटी-छोटी आलोचना से इतने उद्विग्न मन हो जाते हैं कि हमें जीना भी कठिन हो जाता है। यदि हम आत्म-सम्मोहन द्वारा अपने आप को समय पर भावशून्य बना लें तो हम संसार की कितनी उपयोगी सेवा कर सकते हैं। आत्म-सम्मोहन मनुष्य को सरलता से निद्रावस्था में पहुँचा देता है जिसको प्राप्त कर लेने में मनुष्य के सभी दुःखों का अन्त हो जाता है। आनापानसति का अभ्यास आत्म-सम्मोहन प्राप्ति का एक मार्ग है। इस अभ्यास से व्यक्ति अपने सभी दुःखदायी भावों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है और बड़े से बड़े संकट में भी निश्चल मन का बना रह जाता है। यह अभ्यास हमारी चिकित्साप्रणाली का एक प्रधान अंग है।

शान्त भावना का अभ्यास इस चिकित्साप्रणाली का एक दूसरा उपयोगी अंग है। सभी प्रकार के धर्म शान्त भावना के अभ्यास हैं। जो लोग ईश्वर और देवी देवता के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उन्हें यह उपयोगी तो है ही परन्तु जो सर्वथा वैज्ञानिक बुद्धि के हैं, जो जड़वादी और नास्तिक हैं, उन्हें भी शान्तभावना का अभ्यास लाभदायक सिद्ध हुआ है। विलियम्स जेम्स महाशय ने शान्त भाव की महत्ता अपनी मनोविज्ञान की पुस्तकों में और विशेषकर "टाक्स टू टीचर्स" में दिखाई है। शान्त भावना का अभ्यास थोड़े ही काल में आत्म-निर्देश बन जाता है। शान्तभावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति सभी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में शान्त मन रहता है। यह अभ्यास पहले पहल लेटकर शरीर को शान्त कर किया जाता है। इसके लिये प्रारम्भ में किसी शान्त व्यक्ति अथवा देवी देवता का ध्यान उपयोगी होता है। पीछे निरालम्ब शान्ति का ध्यान करके मनुष्य अपूर्व शान्ति प्राप्त करता है। इस अभ्यास के थोड़े ही काल के करने पर मनुष्य की अनेक प्रकार की कलुषित वासनायें बिना चेतना के स्तर पर आये ही समाप्त हो जाती हैं। शान्त-भावना के अभ्यास से अकारण भय, चिन्ता, दमा, और हृदय के रोग समाप्त हो जाते हैं। इस अभ्यास को सभी स्वस्थ और अस्वस्थ व्यक्ति कर सकते हैं और इसका फल लाभदायक होता है। शान्त भावना के अभ्यास से मनुष्य का आत्म-निर्देश प्रबल हो जाता है और उसकी सभी शक्तियों का अपूर्व विकास होता है।

शान्त भावना के अभ्यास का फल संक्रामक होता है। शान्तभाव के एक व्यक्ति के सम्पर्क में जो व्यक्ति आता है वह सहज में ही शान्तमन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति से किसी प्रकार की बातचीत करना अपने आपको भाग्यशाली बनाना है।

शान्तभावना निराशावादिता की विरोधी है। अतएव जब निराशावादी और रोगी व्यक्ति शान्त भाव के व्यक्ति के पास आता है तो उसके अभद्र विचार अपने आप समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक रोगी निराशावादी होता है। शान्तिभावना के करने वाले व्यक्ति का सामान्य सम्पर्क भी उसके लिये कल्याणप्रद है। ऐसे व्यक्ति का दर्शनमात्र ही उसकी चिकित्सा है।

शान्तभावना जिस प्रकार मानसिक रोगों की विनाशक है उसी प्रकार शिवभावना भी रोगों की विनाशक है। शिवभावना मैत्रीभावना के अभ्यास का एक रूप है। इमरसन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, संत और कवि के लिये सभी वस्तुयें भली और पवित्र हैं, सभी घटनायें अनुकूल, सभी दिन दैविक और सभी मनुष्य परमात्मा के अवतार हैं। वही व्यक्ति दूसरों की मानसिक चिकित्सा भली प्रकार से कर सकता है जो उपर्युक्त भाव अपने मन में दृढ़ता से धारण किये हुए हैं। उसे रोगी के मन में इन्हीं भावों को जागृत करना है। मनुष्य को किसी प्रकार का रोग उसके कल्याण के लिये होता है। या तो वह किसी बुरे अभ्यास के प्रतीकार के रूप में आता है, और वह इस अभ्यास को रोकता है, अथवा वह उसके जीवन के गलत दृष्टिकोण को बदलने के लिये उपस्थित होता है। किसी प्रकार का रोग मनुष्य के मानसिक अथवा शारीरिक विकार को बाहर लाता है और इस प्रकार वह उसे समाप्त करता है। शारीरिक रोग मानसिक रोग के रूपान्तरण मात्र होते हैं। ये रोगी के जीवन-रक्षार्थ उपस्थित होते हैं। रोगी को शारीरिक रोग की वेदना मानसिक रोग की अपेक्षा अधिक सहनीय होती है। इसलिये यदि मानसिक रोगी को शारीरिक रोग हो जाय तो इससे उसका कल्याण होता है। शारीरिक रोग की चिकित्सा करना मानसिक रोग की चिकित्सा से

अधिक सरल है। सभी प्रकार के रोग मनुष्य को सत्पथ पर लगाने के प्राकृतिक साधन हैं। अतएव जब रोगी का यह निश्चय हो जाता है कि मेरा रोग मेरे कल्याण के लिये है तो रोग उसे त्रास न देकर लाभ ही पहुँचाता है। वह फिर अपने आप ही शान्त हो जाता है। मानसिक चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह रोगी के मन में सभी घटनाओं के प्रति और अपने रोग के प्रति भी मैत्री भाव के स्थापन की चेष्टा करे।

रोग की समाप्ति के लिये दूसरे लोगों की सेवा करना नितांतावश्यक है। रोगी बड़ा ही स्वार्थी व्यक्ति होता है, वह सदा अपने रोग के बारे में सोचा करता है, इससे उसका रोग कम न होकर बढ़ता ही जाता है। जब हम उसे अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के चिन्तन करने में लगा देते हैं तो उसके रोग की समाप्ति का मार्ग खोल देते हैं। रोग मनुष्य के अहंकार को समाप्त करने के लिये आता है। जितनी ही जल्दी कोई व्यक्ति यह सीख लेता है कि मनुष्य के जीवन की सार्थकता अपने लिये चिन्ता करने में नहीं वरन् दूसरों के लिये चिन्ता करने में है, उतने ही शीघ्र वह अपने रोग से मुक्त हो जाता है। प्रकृति दण्ड उसी को देती है, जिसे दण्ड की आवश्यकता है, प्रकृति का कोई काम व्यर्थ नहीं होता। दण्ड देकर प्रकृति व्यक्ति को यह सिखलाती है कि उसका जीवन केवल उसके लिये ही नहीं बल्कि सबके लिये है, अतएव जो व्यक्ति शीघ्र ही अपने आपको सर्वहित समर्पित कर देता है उसे रोगी रहने की आवश्यकता नहीं रहती है।

रोगी के लिये अपने ही जैसे दूसरे रोगी की सेवा करना बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता है। यदि क्षय रोग का रोगी दूसरे क्षय रोग के रोगी से सहानुभूति रक्खे तो उसे उसका क्षय रोग मृत्यु

के मुख में न ले जाय। काशी के गुप्ता दातव्य औषधालय वे संचालक श्री शिवबिनायक मिश्र ने ऐसा ही किया। मानसिव रोगी दूसरे मानसिक रोगी के प्रति सहानुभूति प्रकट करके अपने मानसिक रोग से मुक्त हो सकता है। भगवान बुद्ध का कथन है कि जो रोगी की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है। भगवान बुद्ध का कहना है कि रोगी की सेवा करने से बढ़कर दूसरा पुण्य कार्य कोई नहीं है।

जिस प्रकार मानसिक रोगियों की सेवा मानसिक रोगों से मुक्त होने के लिये आवश्यक है उसी प्रकार बालकों की सेवा भी मानसिक रोग के नष्ट करने में सहायक होती है। उससे व्यक्ति अपने बाल-मन को पहचानता है और रचनात्मक कार्य में अपने मन को लगाने में समर्थ होता है। जिस प्रकार महर्षि व्यास ने भगवान् कृष्ण की बाल-लीला लिखकर मानसिक शान्ति प्राप्त की उसी प्रकार हम भी बालकों के खेल में, उनके बोल चाल में रस लेकर, उन्हें अनेक प्रकार से प्रोत्साहित करके अपने आपको सफल जीवन का और दृढ़ व्यक्तित्व का व्यक्ति बना सकते हैं। प्रत्येक बालक भगवान् कृष्ण का अवतार है और उसके लालन-पालन, तथा शिक्षा में रस लेना भगवान की स भक्ति करना है। काशी मनोविज्ञानशाला में आये प्रत्येक रो को बच्चों के लालन पालन और शिक्षा की सलाह दी जाती है रोगी मनुष्य बालसेवा से भागता है, यदि रोगी बालकों की से करने लग जाय तो उसका रोग समाप्त हो जाय।

मनुष्य को रोग गलत दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण होता है। जब मनुष्य का दृष्टिकोण सही हो जाता है तो रोग चल जाता है। अतएव मानसिक चिकित्सक का सबसे महत्व का कार्य रोगी को जीवन की सभी घटनाओं के प्रति सही दृष्टिको